तत्व
चिन्तामणि
[भाग १]
जयदयाल गोयन्दका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विषय-सूची

श्रीहरिः

सम्पादकका निवेदन

सत्य सुखके विघातक अज्ञानके इस विकास-युगमें, जहाँ ईश्वर और ईश्वरीय चर्चाको व्यर्थ बतलाने और माननेका दुस्साहस किया जा रहा है, जहाँ परलोकका सिद्धान्त कल्पना मात्र समझा जाता है, जहाँ ज्ञान-वैराग्य भक्तिकी बातोंको अनावश्यक और देश जातिकी उन्नतिमें प्रतिबन्धकरूप बतलाया जाता है, जहाँ भौतिक उन्नतिको ही मनुष्य जीवनका परम ध्येय समझा जाने लगा है, जहाँ केवल इन्द्रिय-सुख ही परम सुख माना जाता है और जहाँ प्रायः समूचा साहित्य-क्षेत्र अश्लीलताके विधायक ग्रन्थों मौज-शौकके उपन्यासों और गल्पों एवं कुरुचि-उत्पादक शब्दाडम्बरपूर्ण रसीली कविताओंकी बाढ़से बहा जाता है। वहाँ भक्ति ज्ञान वैराग्य और निष्काम कर्मयोग-विषयक तात्त्विक विषयोंकी पुस्तकसे सबको सन्तोष होना बहुत ही कठिन है, तथापि गत तीन वर्षोंके अनुभवसे मुझे यह पता लगा है कि नास्तिकताकी इस प्रबल आँधीके आनेपर भी *ऋषि-मुनिसेवित पुण्यभूमि भारतके सुदृढ़मूल आध्यात्मिक* सघन छायायुक्त विशाल तरुवरकी जड़ें अभी नहीं हिली हैं और उसका हिलना भी बहुत ही कठिन मालूम होता है। इस समय भी भारतके आध्यात्मिक जगत्‌में सच्चे जिज्ञासुओं और साधु स्वभावके मुमुक्षुओंका अस्तित्व है, यद्यपि उनकी संख्या घट गयी है। इस अवस्थामें यह आशा करना अयुक्त नहीं होगा कि इस सरल भाषामें लिखी हुई तत्त्वपूर्ण पुस्तकका अच्छा आदर होगा और लोग इससे विशेष लाभ उठावेंगे।

इन पंक्तियोंके लेखककी दृष्टिमें इस ग्रन्थके रचयिताका स्थान बहुत ही ऊँचा है। आध्यात्मिक जगत्‌में इस प्रकारके महान् पुरुष बहुत ही थोड़े हैं। देवर्षि नारदने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।

(भक्तिसूत्र ३९)

महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। यानी 'सच्चे सत्पुरुष सहजमें मिलते नहीं, मिलनेपर पहचाने नहीं जाते, तथापि इनका सङ्ग कभी व्यर्थ नहीं जाता।' इसी कथनके अनुसार मेरी यह धारणा है कि लोगोंने इन्हें भलीभाँति समझा या पहचाना नहीं है। वास्तवमें पहचानना है भी कठिन, एक सीधे-सादे साधारण बोलचालमें अनपढ़-से प्रतीत होनेवाले और गृहस्थमें रहकर व्यापारी-जीवन व्यतीत करनेवालेको इस रूपमें पहचानना भी कठिन है। मैंने देखा है जब अपनेको पढ़े-लिखे समझनेवाले लोग पहले-पहल इनसे मिलते हैं या इनका कोई प्रवचन सुनते हैं तो आरम्भमें इनकी हिन्दी भाषा और शब्दोंके उच्चारणमें दोष देखकर प्रायः समझ लेते हैं कि यहाँ क्या रक्खा है। कहीं-कहीं तो लोग ऊबकर उठ भी जाते हैं, परन्तु जो धैर्य धारणकर कुछ समयतक बैठे रहते हैं, उन्हें इनका तात्त्विक विवेचन सुनकर चकित होना पड़ता है। लोगोंमें इस विषयकी ओर रुचि उत्पन्न हो, इसलिये बड़े उत्साहके साथ 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ आप कृपापूर्वक लेख लिखवा दिया करते हैं। आप शुद्ध हिन्दी नहीं लिख सकते, इसलिये मारवाड़ी-मिश्रित हिन्दी-में ही इनके लेख होते हैं, मैं अपनी शक्तिभर आपके भावोंकी रक्षा करते हुए भाषाका संशोधन कर लिया करता हूँ, इस

ग्रन्थमें प्रकाशित लेखोंके सम्बन्धमें भी ऐसा ही किया गया है। यद्यपि मैंने आपके भावोंकी रक्षाकी ओर पूरा ध्यान रक्खा है, तथापि मैं बड़तासे कह नहीं सकता कि सभी जगह मैं भावोंकी रक्षा कर पाया हूँ। कारण कई जगह तो मुझे ऐसे भाव मिले हैं जिनके समझनेमें बहुत समय लगाना पड़ा है। ऐसी स्थितिमें कहीं-कहीं भावोंमें यत्किञ्चित् परिवर्तन हो गया हो तो भी आश्चर्य नहीं है। मुझे एक ऐसे सत्पुरुषके सङ्ग और उनके लेखोंके सम्पादनका शुभवसर प्राप्त हुआ इसे मैं अपने लिये बहुत ही सौभाग्य समझता हूँ।

ग्रन्थकारके सम्बन्धमें मैंने जो कुछ लिखा है, सो केवल मेरी अपनी तुच्छ धारणा है मैं किसीसे यह नहीं कहना चाहता कि कोई भी मेरे इन शब्दोंके अनुसार ऐसा ही मान ले न ग्रन्थकार ही ऐसा चाहते हैं। इस निवेदनमें मैंने जो कुछ लिख दिया है, सो भी ग्रन्थकारसे बिना पूछे और बतलाये ही लिखा है यदि मैं उनसे पूछता तो मेरा विश्वास है कि वे मुझे इन उद्गारोंके प्रकाशनके लिये भी कभी अनुमति नहीं देते! अस्तु।

अब पाठक-पाठिकाओंसे यह निवेदन है कि वे इस ग्रन्थको मननपूर्वक पढ़ें और यदि इसमेंसे उन्हें अपने लिये कोई बात लाभजनक प्रतीत हो तो उसे अवश्य ग्रहण करें।

विनीत
हनुमानप्रसाद पोद्दार
(कल्याण-सम्पादक)

गोरखपुर
विजयादशमी १९८९

विनय

यह पुस्तक कुछ लेखोंका संग्रह है। लेख 'कल्याण'के लिये समय-समयपर लिखे गये थे और गत तीन वर्षोंमें ये सब 'कल्याण'में प्रकाशित भी हो चुके हैं। बड़े-बड़े विद्वान् और महात्माओंके सामने पारमार्थिक विषयोंपर मेरा कुछ लिखना वास्तवमें शोभा नहीं देता, इन विषयोंपर बड़े विद्वानोंकी भी कलम रुकती है, फिर मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीभगवन्नामके प्रभावसे मैंने जो कुछ समझा है, उसीका कुछ भाव इन लेखोंमें दिखलानेकी चेष्टा की गयी है। इस पुस्तकसे यदि किसी पाठकके चित्तमें तनिक भी ज्ञान, वैराग्य और सदाचारका सञ्चार होगा, तनिक-सी भी भगवद्भक्तिकी भावना उत्पन्न होगी और मनके गम्भीर प्रश्नोंमें दो-एकका भी समाधान होगा तो बड़े आनन्दकी बात है।

मैं न तो विद्वान् हूँ और न अपनेको उपदेश-आदेश एवं शिक्षा प्रदान करनेका ही अधिकारी समझता हूँ। मैंने तो अपने मनके विनोदके लिये कुछ समय भगवच्चर्चामें लगानेका प्रयत्नमात्र किया है, अन्तर्यामीकी प्रेरणासे जो कुछ लिखा गया है सो उसीकी वस्तु है, मेरा तो इसमें भी कोई अधिकार नहीं है।

इन लेखोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंके लिये मैं यह नहीं कहता कि यह सबको मान लेने चाहिये या इनके विरुद्ध कोई सिद्धान्त ठीक नहीं है। मैंने केवल अपने हृदयके उन भावोंको कुछ-कुछ प्रकट करनेकी चेष्टा की है, जिनके सम्बन्धमें मुझे अपने मनमें कोई भ्रान्ति नहीं है।

मेरा सभी पाठकोंसे सविनय निवेदन है कि वे कृपा कर इन निबन्धोंको मन लगाकर पढ़ें और इनमें रही हुई त्रुटियाँ मुझे बतलायें।

विनीत—जयदयाल गोयन्दका

ग्रन्थमें प्रकाशित लेखोंके सम्बन्धमें भी ऐसा ही किया गया है। यद्यपि मैंने आपके भावोंकी रक्षाकी ओर पूरा ध्यान रक्खा है, तथापि मैं दृढ़तासे कह नहीं सकता कि सभी जगह मैं भावोंकी रक्षा कर पाया हूँ। कारण कई जगह तो मुझे ऐसे भाव मिले हैं, जिनके समझनेमें बहुत समय लगाना पड़ा है। ऐसी स्थितिमें कहीं-कहीं भावोंमें परिकिञ्चित् परिवर्तन हो गया हो तो भी आश्चर्य नहीं है। मुझे एक ऐसे सत्पुरुषके ग्रन्थका और उनके लेखोंके सम्पादनका शुभावसर प्राप्त हुआ इसे मैं अपने लिये बहुत ही सौभाग्य समझता हूँ।

ग्रन्थकारके सम्बन्धमें मैंने जो कुछ लिखा है, सो केवल मेरी अपनी तुच्छ धारणा है, मैं किसीसे यह नहीं कहना चाहता कि कोई भी मेरे इन शब्दोंके अनुसार ऐसा ही मान ले न ग्रन्थकार ही ऐसा चाहते हैं। इस निवेदनमें मैंने जो कुछ लिख दिया है, सो भी ग्रन्थकारसे बिना पूछे और बतलाये ही लिखा है यदि मैं उनसे पूछता तो मेरा विश्वास है कि वे मुझे इन उद्गारोंके प्रकाशनके लिये भी कभी अनुमति नहीं देते! अस्तु।

अब पाठक-पाठिकाओंसे यह निवेदन है कि वे इस ग्रन्थको मननपूर्वक पढ़ें और यदि इसमेंसे उन्हें अपने लिये कोई बात लाभप्रद प्रतीत हो तो उसे अवश्य ग्रहण करें।

विनीत

गोरखपुर
विजयादशमी १९८६

हनुमानप्रसाद पोद्दार
(कल्याण-सम्पादक)

प्रकाशकका निवेदन

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके आध्यात्मिक निबन्धोंके संग्रह तत्त्व-चिन्तामणि भाग १ का यह दसवाँ संस्करण है। अबतक इसके नौ संस्करण समाप्त हो गये, यह इस सुन्दर ग्रन्थकी उपयोगिताका परिचायक है। जिन सज्जनोंने इसे लेकर हमें दशम संस्करण प्रकाशित करनेको उत्साहित किया, उनके हम कृतज्ञ हैं। इस ग्रन्थपर अनेक साधु-महात्मा अनुभवी विद्वान्, पत्र-पत्रिका-सम्पादकों और पाठकोंकी जो सम्मतियाँ आयी हैं, उनसे भी इसकी परम उपादेयताका पता चलता है।

इस ग्रन्थके दूसरे, तीसरे चौथे पाँचवें, छठे और सातवें भागका भी खूब प्रचार हो रहा है। आशा है प्रेमी सज्जनगण इन ग्रन्थोंसे लाभ उठावेंगे।

विनीत

प्रकाशक

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

ज्ञानीकी अनिर्वचनीय स्थिति

जिस प्रकार असत्य, हिंसा और मैथुनादि कर्म बुद्धिमें बुरे निश्चित हो जानेपर भी उन्हें मन नहीं छोड़ता, इसी प्रकार बुद्धि विचारद्वारा संसारको कल्पित निश्चय कर लेती है परन्तु मन इस बातको नहीं मानता। साधककी एक ऐसी अवस्था होती है और इस अवस्थाको इस प्रकारसे व्यक्त किया जाता है कि 'मेरी बुद्धिके विचारमें संसार कल्पित है, इसके पश्चात् जब आगे चलकर मन भी इस बातको मान लेता है तब संसारमें कल्पित भाव हो जाता है'। परन्तु यह भी केवल कल्पना ही होती है। इसके बाद जब अभ्यास करते-करते ऐसी स्थिति प्रत्यक्षवत् हो जाती है तब साधकको किसी समय तो संसारका चित्र 'आकाशमें तिरवरों' की

मत्त मायल भगवान श्रीकृष्ण

बाद 'साक्षात्कार' होता है, इसीको मुक्ति कहते हैं। कोई जैन आदि मतावलम्बी लोग तो मृत्युके बाद मुक्ति मानते हैं; परन्तु हमारे वेदान्तके सिद्धान्तमें जीवन्मुक्ति भी मानी गयी है, मृत्युके पहले भी ज्ञान हो सकता है। इस अवस्थामें उसका शरीर तथा शरीरके द्वारा होनेवाले कर्म केवल लोगोंको देखनेमात्रके लिये रह जाते हैं। उसमें कोई 'धर्मी' नहीं रहता। यदि कोई कहे कि जब उसमें चेतन ही नहीं रहा तो फिर क्रिया क्योंकर होती है? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि समष्टि-चेतन तो कहीं नहीं गया, व्यष्टि-भावसे हटकर उसकी स्थिति शुद्ध चेतनमें हो गयी। समष्टि-चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिसे क्रिया हुआ करती है, इसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। इसपर यदि कोई फिर यह कहे कि चेतन तो जड़ पदार्थ और मुर्देमें भी है, उनमें क्रिया क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि उनमें क्रिया न होनेका कारण अन्तःकरणका अभाव है, यदि योगीजन एक चित्तकी अनेक कल्पना करके मुर्दे या जड़ पदार्थमें चित्तका प्रवेश करवा दें तो उसमें भी क्रियाओंका होना सम्भव है।

कोई पूछे कि ज्ञानी कौन है? तो इसके उत्तरमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि शरीरको ज्ञानी कहा जाय तो जड़ शरीरका ज्ञानी होना सम्भव नहीं, यदि जीवको ज्ञानी कहें तो ज्ञानोत्तरकालमें उस चेतनकी 'जीव' संज्ञा नहीं रहती और यदि शुद्ध चेतनको ज्ञानी कहें तो शुद्ध चेतन तो कभी अज्ञानी हुआ ही नहीं। इसलिये यह नहीं बतलाया जा सकता कि ज्ञानी कौन है?

तरह भासित होता है और किसी समय वह भी नहीं होता। जैसे आकाशमें तिरवरे देखनेवालेको यह ज्ञान बना रहता है कि वास्तवमें आकाशमें कोई विकार नहीं है, बिना हुए ही भासित होता है, इसी प्रकार उस साधकका भी भास होने और न होनेमें समान ही भाव रहता है, उसे संसारकी सत्ताका किसी कालमें किसी और प्रकारसे भी सत्य भास नहीं होता। इस अवस्थाका नाम 'अकम्पित स्थिति' है। साधककी ऐसी अवस्था ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें हुआ करती है, परन्तु इस अवस्थामें भी इस स्थितिका ज्ञाता एक धर्मी रह जाता है। इस तीसरी भूमिकामें साधनकी गाढ़ताके कारण साधकके व्यावहारिक कार्योंमें भूलें होनी सम्भव हैं। परन्तु भगवत्प्राप्तिरूप चौथी भूमिकामें प्रायः भूलें नहीं होतीं, उस अवस्थामें तो उसके द्वारा न्याययुक्त समस्त कार्य सुचारुरूपसे स्वाभाविक ही बिना संकल्पके हुआ करते हैं। जैसे श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है —

> यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
> ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
> (४। १९)

'जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्पसे रहित हैं, ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले उस पुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।' पञ्चम भूमिकामें व्यावहारिक कार्योंमें भूलें हो सकती हैं परन्तु तीसरी भूमिकावालेकी अवस्था साधनरूपा है और पाँचवीं भूमिकावालेकी स्थिति स्वाभाविक है। तीसरी भूमिकाके

बाद 'साक्षात्कार' होता है, इसीको मुक्ति कहते हैं। कोई जैन आदि मतावलम्बी लोग तो मृत्युके बाद मुक्ति मानते हैं, परन्तु हमारे वेदान्तके सिद्धान्तमें जीवन्मुक्ति भी मानी गयी है, मृत्युके पहले भी ज्ञान हो सकता है। इस अवस्थामें उसका शरीर तथा शरीरके द्वारा होनेवाले कर्म केवल लोगोंको देखनेमात्रके लिये रह जाते हैं। उसमें कोई 'धर्मी' नहीं रहता। यदि कोई कहे कि जब उसमें चेतन ही नहीं रहा तो फिर क्रिया क्योंकर होती है? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि समष्टि-चेतन तो कहीं नहीं गया, व्यष्टि-भावसे हटकर उसकी स्थिति शुद्ध चेतनमें हो गयी। समष्टि-चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिसे क्रिया हुआ करती है, इसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। इसपर यदि कोई फिर यह कहे कि चेतन तो जड़ पदार्थ और मुर्देमें भी है, उनमें क्रिया क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि उनमें क्रिया न होनेका कारण अन्तःकरणका अभाव है, यदि योगीजन एक चित्तकी अनेक कल्पना करके मुर्दे या जड़ पदार्थमें चित्तका प्रवेश करवा दें तो उसमें भी क्रियाओंका होना सम्भव है।

कोई पूछे कि ज्ञानी कौन है? तो इसके उत्तरमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि शरीरको ज्ञानी कहा जाय तो जड़ शरीरका ज्ञानी होना सम्भव नहीं, यदि जीवको ज्ञानी कहें तो ज्ञानोत्तरकालमें उस चेतनकी 'जीव' सज्ञा नहीं रहती और यदि शुद्ध चेतनको ज्ञानी कहें तो शुद्ध चेतन तो कभी अज्ञानी हुआ ही नहीं। इसलिये यह नहीं बतलाया जा सकता कि ज्ञानी कौन है?

ज्ञानीकी कल्पना अज्ञानीके अन्तःकरणमें है, शुद्ध चेतनकी दृष्टिमें तो कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं। ज्ञानीको जब दृष्टि ही नहीं रही तो फिर सृष्टि कहाँ रहती? अज्ञानीजन इस प्रकार कल्पना किया करते हैं कि इस शरीरमें जो जीव था सो समष्टि-चेतनमें मिल गया, समष्टि-चेतनके जिस अंशमें अन्तःकरणका अध्यारोप है उस अन्तःकरणसहित उस चेतनके अंशका नाम ज्ञानी है। वास्तविक दृष्टिमें ज्ञानी किसकी संज्ञा है यह कोई भी वाणीद्वारा नहीं बतला सकता, क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टिमें तो ज्ञानीपन भी नहीं है। ज्ञानी और अज्ञानीकी संज्ञा केवल लोकशिक्षाके लिये है और अज्ञानियोंके अंदर ही इसकी कल्पना है। जिस प्रकार गुणातीतके 'लक्षण' बतलाये जाते हैं। भला जो तीनों गुणोंसे अतीत है उसमें 'लक्षण' कैसे? लक्षण तो अन्तःकरणमें बनते हैं और अन्तःकरणसे होनेवाली क्रिया त्रिगुणात्मिका है। बात यह है कि गुणातीतको समझनेके लिये अन्तःकरणकी क्रियाओंके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
(१४।२२)

इसीके आगे २३, २४ और २५ वें श्लोकोंमें भी गुणातीतके लक्षण बतलाये गये हैं। उपर्युक्त २२ वें श्लोकके 'प्रकाश' शब्दसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें लघिमा, प्रवृत्तिसे चेष्टा और मोहसे निद्रा, आलस्य (प्रमाद या अज्ञान नहीं) अथवा संसारके भ्रममें

सुषुप्तिवत् अवस्था समझनी चाहिये । अन्तःकरणमें कोई 'धर्मी' न रहनेके कारण 'द्वेष' और आकाङ्क्षा तो किसको हो ? राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि न होनेके कारण यह सिद्ध होता है कि उसमे कोई 'धर्मी' नहीं है । यदि जड अन्तःकरणके साथ समष्टि-चेतनकी लिप्तता होती तो जड अन्तःकरणमें राग-द्वेषादि विकारोंका होना सम्भव होता; परन्तु समष्टि-चेतनका सम्बन्ध अन्तःकरणसे नहीं रहता, केवल उसकी सत्ता-स्फूर्तिसे चेष्टा होती है । ये सब लक्षण भी वहींतक हैं जहाँतक ससारका चित्र है और ये साधकके लिये आदर्श उपायस्वरूप हैं, इसीलिये शास्त्रोंमें इनका उल्लेख है ।

गुणातीतकी वास्तविक अवस्थाको कोई दूसरा न तो जान सकता है और न बतला ही सकता है, वह स्वसंवेद्य स्थिति है । परन्तु यदि कोई इस प्रकार परीक्षा करे कि मुझमें ज्ञानीके लक्षण हैं या नहीं ? तो जानना चाहिये कि इसे ज्ञान नहीं है, लक्षणोंकी खोजसे यह बात सिद्ध हो गयी कि उसकी स्थिति शरीरमें है, उस ज्ञानीकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न है, नहीं तो खोजनेवाला कौन और स्थिति किसकी ? और यदि खोजना ही चाहे तो केवल शरीरमें ही क्यों खोजे, पाषाण या वृक्षोंमें उसे क्यों न खोजे ? केवल शरीरमें ढूँढ़नेसे उसका शरीरमें अहंभाव सिद्ध होता है । इससे तो वह अपने आप ही क्षुद्र बना हुआ है । हाँ, यदि साधक शरीरसे अलग होकर (द्रष्टा बनकर) पत्थर और वृक्षादिके साथ अपने शरीरकी सादृश्यता करता हुआ विचार करे तो इससे उसे लाभ होना सम्भव है । जैसे श्रीगीताजीमें कहा है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
(१४ । १९)

'जिस कालमें द्रष्टा तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघन मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है; उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ।'

परन्तु जो कहता है कि 'मुझे ज्ञान नहीं हुआ' वह भी ज्ञानी नहीं है; क्योंकि वह स्पष्ट कहता है । जो कहता है कि 'मुझे ज्ञान हो गया' उसे भी ज्ञानी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि यों कहनेसे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीन पदार्थ सिद्ध होते हैं और जो यह कहता है कि 'ज्ञान हुआ कि नहीं मुझे मालूम नहीं' सो भी ज्ञानी नहीं है, क्योंकि ज्ञानोत्तरकालमें इस प्रकारका सन्देह रह नहीं सकता । तो ज्ञानी क्या कहे ? इसका उत्तर नहीं मिलता । इसीलिये यह स्थिति 'अनिर्वचनीय' कही गयी है ।

ज्ञानकी दुर्लभता

किसी श्रद्धालु पुरुषके सामने भी वास्तविक दृष्टिसे महापुरुषोंके द्वारा यह कहना नहीं बन पड़ता कि 'हमको ज्ञान प्राप्त है'; क्योंकि इन शब्दोंसे ज्ञानमें दोष आता है। वास्तवमें पूर्ण श्रद्धालुके लिये तो महापुरुषसे ऐसा प्रश्न ही नहीं बनता कि 'आप ज्ञानी हैं या नहीं ?' जहाँ ऐसा प्रश्न किया जाता है वहाँ श्रद्धामें त्रुटि ही समझनी चाहिये और महापुरुषसे इस प्रकारका प्रश्न करनेमें प्रश्नकर्ताकी कुछ हानि ही होती है। यदि महापुरुष यों कह दे कि मैं ज्ञानी नहीं हूँ तो भी श्रद्धा घट जाती है और यदि वह यह कह दे कि मैं ज्ञानी हूँ तो भी उसके मुँहसे ऐसे शब्द सुनकर श्रद्धा कम हो जाती है। वास्तवमें तो मैं अज्ञानी हूँ या ज्ञानी इन दोनोंमेंसे कोई-सी बात कहना भी महापुरुषके लिये नहीं बन पड़ता, यदि वह अपनेको अज्ञानी कहे तो मिथ्यापनका दोष आता है और ज्ञानी कहे तो नानात्वका। इस लिये वह यह भी नहीं कहता कि मैं ब्रह्मको जानता हूँ और यह

भी नहीं कहता कि मैं नहीं जानता । वह उसको जानता है ऐसा भी उससे कहना नहीं बनता । परन्तु वह नहीं जानता हो ऐसी बात भी नहीं है । श्रुति कहती है--

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥
(केन २।२३)

इसीलिये इसका नाम अनिर्वचनीय स्थिति है, इसीलिये वेदमें दोनों प्रकारके शब्द आते हैं और इसीलिये महापुरुष यह नहीं कहते कि मुझे प्राप्ति हो गयी । इस सम्बन्धमें वे स्वयं अपनी ओरसे कुछ भी न कहकर वेद शास्त्रोंकी तरफ संकेत कर देते हैं । परन्तु ऐसा भी नहीं कहते कि मुझे प्राप्ति नहीं हुई । ऐसा कहना तो उत्तम आचरण करनेवाले आचार्य या नेता पुरुषोंके लिये भी योग्य नहीं, क्योंकि इससे उनके अनुयायियोंका अपनी प्राप्तिको अत्यन्त कठिन मानकर निराश होना सम्भव है । जैसे यदि आज कोई परम सम्माननीय पुरुष कह दे कि मुझे प्राप्ति नहीं हुई है, मैं तो स्वयं प्राप्तिके लिये उत्सुक हूँ तो ऐसा कहनेसे उनके अनुयायीगण या तो यह समझ बैठते हैं कि जब इनको ही प्राप्ति न हुई तो हमको क्योंकर होगी या यों समझ लेते हैं कि इतने अंशमें सम्माननीय पुरुषके शब्द या तो अयथार्थ हैं या असली स्थितिको छिपानेवाले हैं और इस प्रकारके दोषारोपसे उन लोगोंकी श्रद्धामें कुछ कमी होना सम्भव है । अतएव

इस विषयमें मौन ही रहना चाहिये । इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि महापुरुषके लिये ज्ञानी वा अज्ञानी किसी भी शब्दका प्रयोग उसके अपने मुखसे नहीं बनता । इतना होनेपर भी महापुरुष यदि अज्ञानी साधकको समझानेके लिये उसे ज्ञानोपदेश करते समय उसीकी भावनाके अनुसार अपनेमें ज्ञानीकी कल्पना कर अपनेको ज्ञानी शब्दसे सम्बोधित कर दे तो भी कोई हानि नहीं, वास्तवमें उसका यों कहना भी उस साधककी दृष्टिमें ही है और ऐसा कहना भी उसी साधकके सामने सम्भव है जो पूर्ण श्रद्धालु और परम विश्वासी हो, जो महापुरुषके शब्दोंको सुनते ही स्वयं वैसा बनता जाय और जिस स्थितिका वर्णन महापुरुष करते हों उसी स्थितिमें स्थित हो जाय । इसपर ऐसा कहा जा सकता है कि श्रद्धा और विश्वास तो पूर्ण है, परन्तु वैसी स्थिति नहीं होती, इसके लिये वह बेचारा श्रद्धालु साधक क्या करे ? यह ठीक है, परन्तु साधकके लिये इतना तो परमावश्यक है कि वह श्रवणके अनुसार ही एक ब्रह्ममें विश्वासी होकर उसीकी प्राप्तिके लिये पूरी तरहसे तत्पर हो जाय, जबतक उसे प्राप्ति न हो तबतक वह उसके लिये परम व्याकुल रहे । जैसे किसी मनुष्यको एक जानकारके द्वारा उसके घरमें गड़ा हुआ धन मालूम हो जानेपर वह उसे खोदकर निकालनेके लिये व्याकुल होता है, यदि उस समय उसके पास बाहरके आदमी बैठे हुए हों तो वह सच्चे मनसे यही चाहता है कि कब ये लोग हटें, कब मैं अकेला रहूँ और कब उस गड़े हुए धनको निकालकर हस्तगत कर सकूँ । इसी प्रकार जो साधक यह समझता है कि मेरे साधनमें बाधा देने-

वाले आसक्ति और अज्ञान आदि दोष कब दूर हों और कब मैं अपने परमधन परमात्माको प्राप्त करूँ। जितनी ही देर होती है उतनी ही उसकी व्याकुलता और उत्कण्ठा उत्तरोत्तर प्रबल होती चली जाती है और वह उस विलम्बको सहन नहीं कर सकता। यदि इस प्रकारके साधकके सामने महापुरुष स्पष्ट शब्दोंमें भी अपनेको ज्ञानी स्वीकार कर ले तो भी कोई हानि नहीं, परन्तु इससे नीची श्रेणीके साधक और अपूर्ण प्रेमियोंके सामने यों कहनेसे उस महापुरुषकी तो कोई हानि नहीं होती; परन्तु अनधिकारी होनेके कारण उस सुननेवालेके पारमार्थिक विषयमें हानि होना सम्भव है। यदि यह बात सभीको स्पष्ट कहनेकी होती तो शास्त्रोंमें इसे परम गोपनीय न कहा जाता और केवल अधिकारीको ही कहनी चाहिये ऐसी विधि न होती।

कोई यह कहे कि महापुरुषकी परीक्षा कैसे की जाय और यदि बिना परीक्षाके ही किसी अयोग्य व्यक्तिको गुरु या उपदेशक मान लिया जाय तो शास्त्रोंमें उससे उलटी हानि होना कहा गया है। यह प्रश्न और शास्त्रोंका कथन तो उचित ही है; परन्तु जिसका सङ्ग करनेसे परमात्मामें, उस महापुरुषमें और शास्त्रोंमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाय, उसे गुरु या उपदेशक माननेमें कोई हानि नहीं। यदि कोई पूर्ण न भी हो तो जहाँतक उसकी गम्य है वहाँतक तो वह पहुँचा ही सकता है, (इस दृष्टिसे महापुरुषकी स्तुति करनेवाले साधकोंका सङ्ग भी उत्तम और लाभदायक है) आगे परमात्मा स्वयं उसे निभा लेते हैं। साधकको आवश्यकता है परमात्माके

परायण होनेकी । श्रीपरमात्माकी शरण लेनेमात्रसे ही सब कुछ हो सकता है । श्रीभगवान्‌ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

अर्थात् जो अनन्य भावसे मुझमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते हैं उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थित पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ । संसारमें भी यही बात देखनेमें आती है कि यदि कोई किसीके परायण हो जाता है तो उसकी सारी सँभाल वही रखता है, जैसे बच्चा जबतक अपनी माताके परायण रहता है तबतक उसकी रक्षाका और सब प्रकारकी सँभालका भार माता स्वय ही अपने ऊपर लिये रहती है । जबतक बालक बड़ा होकर स्वतन्त्र नहीं होता तबतक माता-पिताके प्रति उसकी परायणता रहती है और जबतक परायणता रहती है तबतक माता-पितापर ही उसका सारा भार है । इसी प्रकार केवल एक परमात्माकी शरण लेनेसे ही सारे काम सिद्ध हो सकते हैं । परन्तु शरण लेनेका काम साधकका है । शरण होनेके बाद तो प्रभु स्वयं उसका सारा भार सँभाल लेते हैं । अतएव कल्याणके प्रत्येक साधकको परमात्माकी शरण लेनी चाहिये ।

है तो इसमें तीन दोष आते हैं—प्रथम तो 'प्राप्त' पुरुषोंका पुनः भूलमें पड़ना सम्भव है, दूसरे सृष्टिकर्ता ईश्वरपर दोष आता है और तीसरे नये जीवोंका बनना सम्भव होता है । इस हेतुसे यह अनादि और सान्त ही सिद्ध होती है । वास्तवमें कालकी कल्पना भी मायामें ही है; क्योंकि ब्रह्म तो शुद्ध और कालातीत है ।

वेद, शास्त्र और तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका भी यह कथन है कि एक शुद्ध बोध ज्ञानस्वरूप परमात्मा ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है परन्तु किसी भी व्यक्तिके द्वारा 'संसार असत् है' यों कहा जाना उचित नहीं, क्योंकि वास्तवमें यों कहना बनता नहीं । ससारको असत् माननेसे संसारके रचयिता सृष्टिकर्ता ईश्वर, विधि-निषेधात्मक शास्त्र, लोक परलोक और पाप-पुण्य आदि सभी व्यर्थ ठहरते हैं और इनको व्यर्थ कहना या मानना अनधिकारकी बात है । जिस वास्तविकतामें शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त अन्यका आत्यन्तिक अभाव है उसमें तो कुछ कहना बनता नहीं, कहना भी वहीं बनता है कि जहाँ अज्ञान है और जहाँ कहना बनता है वहाँ सृष्टिके रचयिता, संसार और शास्त्र आदि सब सत्य हैं और इन सबको सत्य मानकर ही शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये । सात्त्विक आचरण और भगवान्की विशुद्ध भक्तिसे अन्तः-करणकी शुद्धि होनेपर जिस समय भ्रम मिट जाता है उसी समय साधक कृतकृत्य हो जाता है । यही परमात्माकी प्राप्ति है ।

भ्रम अनादि और सान्त है

आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होनेके कारण ज्ञानकी प्राप्ति करनी नहीं पड़ती और न उसकी प्राप्तिमें कोई परिश्रम या यत्नकी ही आवश्यकता है। किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेमें परिश्रम और यत्न करना पड़ता है परन्तु यहाँ तो केवल नित्यप्राप्त ब्रह्ममें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है उस भ्रमको मिटा देना ही कर्तव्य है। वास्तवमें यह भ्रम ब्रह्मको नहीं है। यह भ्रम उसीमें है जो इस संसारके विकारको नित्य मानता है। वास्तवमें तो ब्रह्ममें भूल न होनेके कारण उसे मिटानेके लिये परिश्रम करना भी एक भ्रम ही है, परन्तु जबतक भूल है तबतक भूलको मिटानेका साधन करना चाहिये, अवश्य ही उन लोगोंको, जो इस भूलमें हैं। जो इस भूलको मानता है उसके लिये तो यह अनादिकालसे है। ऐसा कहा जाता है कि अनादिकालसे होनेवाली वस्तुका अन्त नहीं होता। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि भूल तो मिटनेवाली ही होती है, यदि भूल है तो उसका अन्त भी आवश्यक है। यदि ऐसा माना जाय कि यह सान्त नहीं है तो फिर किसीको भी 'प्राप्ति' नहीं हो सकती। इसलिये यह अनादि और सान्त अवश्य है। यदि यह माना जाय कि यह भूल अनादिकालसे नहीं है, पीछेसे हुई

जाना सहज है। इसीलिये अनधिकारियोंको इस सिद्धान्तका उपदेश न करनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है; क्योंकि अनधिकारी लोग इस सिद्धान्तको यथार्थरूपसे न समझकर सत्कर्मोंको त्याग देते हैं, ज्ञानकी प्राप्ति उन्हें होती नहीं अतएव उभयभ्रष्ट हो जाते हैं। यह दोहा प्रसिद्ध ही है—

ब्रह्मज्ञान उपज्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
'तुलसी' ऐसी आत्मा, सहज नरकमें जाय॥

इसलिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
(३।२६)

'ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेद अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हुआ सब कर्मोंको अच्छी तरह करता हुआ उनसे भी वैसे ही कर्म करावे।'

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मोंमें यही अन्तर है कि ज्ञानीके कर्म अनासक्त भावसे स्वाभाविक होते हैं और अज्ञानीके कर्म आसक्तिसहित होते हैं। श्रीगीतामें कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
(३।२५)

'हे अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते

निराकार-साकार-तत्त्व

एक शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और जो कुछ भी भासता है सो वास्तवमें नहीं है, केवल स्वप्नवत् प्रतीति होती है। वेद, वेदान्त और उपनिषदोंका यही सर्वोच्च सिद्धान्त है, यही स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीका मत है और यही वास्तवमें न्यायसिद्ध सिद्धान्त है। परन्तु यह बात इतनी ऊँची और गोपनीय है कि सबहीमें सहसा इसका प्रकाश करना अनुचित है। इस सिद्धान्तको कहने और सुननेवाले बहुत ही थोड़े हुआ करते हैं, इसको कहनेका वही अधिकारी है जो स्वयं इस स्थितिमें हो और सुननेका भी वही अधिकारी है जो सुननेके साथ ही इस स्थितिमें स्थित हो जाय। जो इस प्रकारके नहीं हैं उनको न कहनेका अधिकार है और न सुननेका। जिनको राग-द्वेष होता है, जो सांसारिक हानि-लाभमें दुःखित और हर्षित होते हैं, जो दुःख और सुखका भिन्न-भिन्न रूपसे अनुभव करते हैं तथा जो विषयलोलुप और इन्द्रियाराम हैं उनको तो इस सिद्धान्तके उपदेशसे उलटी हानि भी हो सकती है। वे लोग मान बैठते हैं कि जब संसार स्वप्नवत् है तो असत्य, व्यभिचार, हिंसा और छल-कपट आदि पाप भी स्वप्नवत् ही हैं। चाहे सो करो, कोई हानि तो होगी नहीं। यों मानकर वे लोग परिश्रमसाध्य सत्कर्मोंको त्याग कर भिन्न-भिन्न रूपसे पापाचरण करने लग जाते हैं; क्योंकि सत्कर्मोंके करनेकी अपेक्षा उन्हें छोड़ देना और पाप-कर्मोंमें लग

जाना सहज है। इसीलिये अनधिकारियोंको इस सिद्धान्तका उपदेश न करनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है, क्योंकि अनधिकारी लोग इस सिद्धान्तको यथार्थरूपसे न समझकर सत्कर्मोंको त्याग देते हैं, ज्ञानकी प्राप्ति उन्हें होती नहीं अतएव उभयभ्रष्ट हो जाते हैं। यह दोहा प्रसिद्ध ही है—

ब्रह्मज्ञान उपज्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
'तुलसी' ऐसी आत्मा, सहज नरकमें जाय॥

इसलिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोपयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
(३।२६)

'ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेद अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हुआ सब कर्मोंको अच्छी तरह करता हुआ उनसे भी वैसे ही कर्म करावे।'

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मोंमें यही अन्तर है कि ज्ञानीके कर्म अनासक्त भावसे स्वाभाविक होते हैं और अज्ञानीके कर्म आसक्तिसहित होते हैं। श्रीगीतामें कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
(३।२५)

'हे अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते

है वैसे ही अनासक्त हुआ ज्ञानी भी लोकशिक्षाको चाहता हुआ कर्म करे ।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि शुद्ध ब्रह्मकी चर्चा केवल अधिकारियोंमें ही होनी चाहिये ।

लोग कह सकते हैं कि जब एक शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो इससे सृष्टि और सृष्टिकर्ता ईश्वरका भी न होना ही सिद्ध होता है और यदि यही बात है तो फिर इनके प्रतिपादन करनेवाले प्रमाणभूत शास्त्र और प्रत्यक्ष दीखनेवाली सृष्टि की क्या दशा होगी ? इसका उत्तर यही है कि जैसे आकाश निराकार है, आकाशमें कहीं कोई आकार नहीं, परन्तु कभी-कभी आकाशमें बादलके टुकड़े दीख पड़ते हैं, वे बादलके टुकड़े आकाशमें ही उत्पन्न होते हैं, उसीमें दीख पड़ते हैं और अन्तमें उसी आकाशमें शान्त हो जाते हैं । आकाशकी वास्तविक स्थितिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, परन्तु आकाशका जितना स्थान बादलोंसे आवृत होता है उतने अंशमें उसका एक विशेष रूप दीखता है और उसमें वृष्टि आदिकी क्रिया भी होती है ।

इसी प्रकार एक ही अनन्त शुद्ध ब्रह्ममें जितना अंश मायासे आच्छादित दीखता है उतने अंशका नाम सगुण ईश्वर है, वास्तवमें यह सगुण ईश्वर शुद्ध ब्रह्मसे कभी कोई दूसरी भिन्न वस्तु नहीं, किन्तु मायाके कारण भिन्न दीखनेसे सगुण ईश्वरको लोग भिन्न मानते हैं । यही भिन्नरूपसे दीख पड़नेवाला सगुण चैतन्य, सृष्टिकर्ता ईश्वर है; इसीको आदि पुरुष, पुरुषोत्तम और मायाविशिष्ट

ईश्वर कहते हैं। आकाशके अंशमें मेघोंकी भाँति इस सगुण चैतन्यमें जो यह सृष्टि दीखती है, वह मायाका कार्य है। माया सृष्टिकर्ता ईश्वरकी शक्तिका नाम है। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति होती है उसी प्रकार सृष्टिकर्ता ईश्वर और उसकी शक्ति माया है। इसे ही प्रकृति कहते हैं और इसीका नाम अज्ञान है।

यह माया क्या है और कैसे उत्पन्न होती है? यह एक भिन्न विषय है, अतएव इस विषयपर यहाँ कुछ न लिखकर मूल विषयपर ही लिखा जाता है। इस वर्णनसे यह समझना चाहिये कि निराकार आकाशकी भाँति उस सर्वव्यापी अनन्त चेतनका नाम तो शुद्ध ब्रह्म है, वास्तवमें आकाशका दृष्टान्त भी एकदेशीय ही है, क्योंकि आकाशकी तो सीमा भी है और उसका कोई आकार न होनेपर भी उसमें शब्दरूपी एक गुण भी है, परन्तु शुद्ध ब्रह्म तो असीम, अनन्त, निर्गुण, केवल और एक ही है, इसीलिये वह अनिर्वचनीय है और इसीलिये उसका उपदेश केवल उसी अधिकारीके प्रति किया जा सकता है, जो उसे धारण करनेमें समर्थ है। यह तो शुद्ध ब्रह्मकी बात हुई।

इसी शुद्ध ब्रह्मका जितना अंश (आकाशके मेघोंसे आवृत अंशकी भाँति) अलग दीखता है वही मायाविशिष्ट सृष्टिकर्ता सगुण ईश्वर है और उसी परमात्माके एक अंशमें सारे ब्रह्माण्डकी स्थिति है। अस्तु!

अब इसके बाद साकार ईश्वर यानी अवतारका विषय आता है, जब वह सगुण ईश्वर आवश्यकता समझते हैं तभी वह अपनी मायाको अधीन करके जिस रूपमें कार्य करना होता है उसी रूपमें

हैं वैसे ही अनासक्त हुआ ज्ञानी भी लोकशिक्षार्थ चाहता हुआ कर्म करे।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि शुद्ध ब्रह्मकी चर्चा केवल अधिकारियोंमें ही होनी चाहिये।

लोग कह सकते हैं कि जब एक शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो इससे सृष्टि और सृष्टिकर्ता ईश्वरका भी न होना ही सिद्ध होता है और यदि यही बात है तो फिर इनके प्रतिपादन करनेवाले प्रमाणभूत शास्त्र और प्रत्यक्ष दीखनेवाली सृष्टि की क्या दशा होगी? इसका उत्तर यही है कि जैसे आकाश निराकार है, आकाशमें कहीं कोई आकार नहीं, परन्तु कभी-कभी आकाशमें बादलके टुकड़े दीख पड़ते हैं, वे बादलके टुकड़े आकाशमें ही उत्पन्न होते हैं, उसीमें दीख पड़ते हैं और अन्तमें उसी आकाशमें शान्त हो जाते हैं। आकाशकी वास्तविक स्थितिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, परन्तु आकाशका जितना स्थान बादलोंसे आवृत होता है उतने अंशमें उसका एक विशेष रूप दीखता है और उसमें वृष्टि आदिकी क्रिया भी होती है।

इसी प्रकार एक ही अनन्त शुद्ध ब्रह्ममें जितना अंश मायासे आच्छादित दीखता है उतने अंशका नाम सगुण ईश्वर है, वास्तवमें यह सगुण ईश्वर शुद्ध ब्रह्मसे कभी कोई दूसरी भिन्न वस्तु नहीं, किन्तु मायाके कारण भिन्न दीखनेसे सगुण ईश्वरको लोग भिन्न मानते हैं। यही भिन्नरूपसे दीख पड़नेवाला सगुण चैतन्य, सृष्टिकर्ता ईश्वर है; इसीको आदि पुरुष, पुरुषोत्तम और मायाविशिष्ट

'सब धर्मोंके आश्रयको छोडकर केवल एक मुझ वासुदेवकी ही अनन्य शरण हो जा, मैं तुझको सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

यों एकमात्र अपनी शरणसे ही पापोंसे मुक्त कर देनेका वचन देनेवाला इस समय ससारमें कोई अवतार नहीं !

कुछ दिनों पहले एक सज्जनने मुझसे पूछा था कि पृथ्वीपर पाप तो बहुत बढ़ गया है, क्या भगवान्‌के अवतार लेनेका समय अभी नहीं आया ? यदि आया है तो भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते ? मैंने उनसे कहा था कि मुझे मालूम नहीं। यह तो कोई बात ही नहीं कि मैं सभी बातोंका जानकार होऊँ, भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते, इस बातको भगवान् ही जानें। हाँ, यदि कोई मुझसे पूछे कि भगवान्‌के अवतार लेनेसे तुम प्रसन्न हो या नहीं, तो मैं यही कहूँगा कि मैं भगवान्‌के अवतार लेनेसे बहुत प्रसन्न हूँ, क्योंकि इस समय यदि भगवान्‌का अवतार हो जाय तो मुझे भी उनके दर्शन हो सकते हैं। यदि कोई सरलतासे यह पूछे कि तुम्हारे अनुमानसे भगवान्‌के अवतार लेनेका समय अभी आया है या नहीं तो मैं अपने अनुमानसे यही कह सकता हूँ कि वह समय सम्भवतः अभी नहीं आया, यदि वह समय आया होता तो भगवान् अवतीर्ण हो जाते। कलियुगमें जैसा कुछ होना चाहिये अभीतक उससे कुछ अधिक नहीं हो रहा है। भगवान्‌के अन्य अवतारोंके समय जैसा अत्याचार बढ़ा था, धर्म और धर्मप्राण ऋषियोंकी जैसी दुर्दशा हुई थी वैसी अभी नहीं हुई है। भगवान् श्रीरामचन्द्रके समयमें तो राक्षसोंके द्वारा मारे हुए ऋषियोंकी हड्डियोंके ढेर लग गये थे।

प्रकट हो जाते हैं। कभी मनुष्यरूपमें, कभी वाराह और नृसिंहरूपमें, कभी मत्स्य और कच्छपरूपमें, कभी हंस और अश्वरूपमें, इसी प्रकार आवश्यकतानुसार अनेक रूपोंमें ईश्वर साक्षात् अवतीर्ण हो लोगोंको दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं, परन्तु उनका यों संसारमें प्रकट होना प्राकृत जीवोंके सदृश नहीं होता, ईश्वरके अवतीर्ण होनेका समय और हेतु भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
> (४।७-८)

'हे अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। मैं साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये तथा धर्मकी स्थापनाके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

इस समय पृथ्वीपर ऐसा कोई अवतार नहीं दीखता जो यों कह दे कि मैंने साधुओंका उद्धार करनेके लिये अवतार लिया है, संसारमें साधु अनेक मिल सकते हैं, किन्तु उन साधुओंके उद्धारके लिये अवतीर्ण होकर आनेवाला कोई नहीं दीखता। भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति यों कहनेवाला कि—

> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
> (गीता १८।६६)

'सब धर्मोंके आश्रयको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेवकी ही अनन्य शरण हो जा, मैं तुझको सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

यों एकमात्र अपनी शरणसे ही पापोंसे मुक्त कर देनेका वचन देनेवाला इस समय ससारमें कोई अवतार नहीं!

कुछ दिनों पहले एक सज्जनने मुझसे पूछा था कि पृथ्वीपर पाप तो बहुत बढ़ गया है, क्या भगवान्‌के अवतार लेनेका समय अभी नहीं आया? यदि आया है तो भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते? मैंने उनसे कहा था कि मुझे मालूम नहीं। यह तो कोई बात ही नहीं कि मैं सभी बातोंका जानकार होऊँ, भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते, इस बातको भगवान् ही जानें। हाँ, यदि कोई मुझसे पूछे कि भगवान्‌के अवतार लेनेसे तुम प्रसन्न हो या नहीं, तो मैं यही कहूँगा कि मैं भगवान्‌के अवतार लेनेसे बहुत प्रसन्न हूँ, क्योंकि इस समय यदि भगवान्‌का अवतार हो जाय तो मुझे भी उनके दर्शन हो सकते हैं। यदि कोई सरलतासे यह पूछे कि तुम्हारे अनुमानसे भगवान्‌के अवतार लेनेका समय अभी आया है या नहीं तो मैं अपने अनुमानसे यही कह सकता हूँ कि वह समय सम्भवतः अभी नहीं आया, यदि वह समय आया होता तो भगवान् अवतीर्ण हो जाते। कलियुगमें जैसा कुछ होना चाहिये अभीतक उससे कुछ अधिक नहीं हो रहा है। भगवान्‌के अन्य अवतारोंके समय जैसा अत्याचार बढ़ा था, धर्म और धर्मप्राण ऋषियोंकी जैसी दुर्दशा हुई थी वैसी अभी नहीं हुई है। भगवान् श्रीरामचन्द्रके समयमें तो राक्षसोंके द्वारा मारे हुए ऋषियोंकी हड्डियोंके ढेर लग गये थे।

प्रश्न—क्या ऋषियोंमें राक्षसोंके वध करनेका सामर्थ्य नहीं था और यदि था तो उन्होंने राक्षसोंका वध क्यों नहीं किया ?

उत्तर—ऋषियोंमें राक्षसोंके वध करनेका सामर्थ्य था, परन्तु वे अपना तपोबल क्षीण करना नहीं चाहते थे । जिस समय श्रीविश्वामित्रजीने महाराज दशरथके पास आकर यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीराम-लक्ष्मणको माँगा, उस समय भी उन्होंने यही कहा था कि 'यद्यपि मैं राक्षसोंका वध स्वयं कर सकता हूँ परन्तु इससे मेरा तप क्षय होगा जिसको कि मैं करना नहीं चाहता । श्रीराम-लक्ष्मणके द्वारा राक्षसोंका वध होनेपर मेरे यज्ञकी रक्षा भी होगी तथा मेरा तपोबल भी सुरक्षित रह जायगा । श्रीराम-लक्ष्मण राक्षसोंको सहज हीमें मार सकते हैं, इस बातको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते ।' महाराज दशरथने मोहसे श्रीराम-लक्ष्मणको साधारण बालक समझकर अपार-स्नेहके वशीभूत हो विश्वामित्रसे कहा कि 'नाथ ! मैं स्वयं आपके साथ चलनेको तैयार हूँ, एक राक्षसको छोड़कर और सारे राक्षसोंको मार सकता हूँ । आप राम-लक्ष्मणको न लेकर मुझे ले चलिये ।' इस प्रकार राजाको मोहमें पड़े हुए देखकर श्रीवसिष्ठजी महाराजने, जो भगवान् श्रीरामके प्रभावको तत्त्वसे जानते थे, दशरथजीको समझाकर कहा कि 'राजन् ! तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो, ये साधारण बालक नहीं हैं, इन्हें कोई भय नहीं है, तुम प्रसन्नताके साथ इन्हें विश्वामित्रजीके साथ भेज दो ।' इस प्रसङ्गसे यह जाना जाता है कि ऋषिगण सामर्थ्यवान् तो थे, परन्तु अपने तपोबलसे काम लेना नहीं चाहते थे ।

कलियुगमें अभीतक ऐसा समय उपस्थित हुआ नहीं जान पड़ता कि जिससे भगवान्‌को अवतार लेना पड़े और भगवान् यों सहसा अवतार लिया भी नहीं करते। पहले तो वे कारक पुरुषोंको अपना अधिकार सौंपकर भेजते हैं, जैसे मालिक अपनी दूकान सँभालनेके लिये विश्वासी मुनीमको भेजता है। पर जब वह देखता है कि मुनीमसे कार्य सिद्ध नहीं होगा, मेरे स्वय गये बिना काम नहीं चलेगा तब वह स्वयं जाता है, इसी प्रकार जब कारक पुरुषोंके भेज देनेपर भी भगवान्‌को अपने अवतार लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है तब वे स्वय प्रकट होते हैं। कारक पुरुष उन्हें कहते हैं कि जो भगवत्कृपासे अपने पुरुषार्थद्वारा इस श्लोकके अनुसार——

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

(गीता ८। २४)

भिन्न-भिन्न देवताओंद्वारा क्रमसे अग्रसर होते हुए अन्तमें भगवान्‌के सत्यलोकको पहुँचते हैं। इस लोकमें जानेवाले महात्माओं-का स्वागत करनेके लिये भगवान्‌के पार्षद (अमानव पुरुष) विमान लेकर सामने आते हैं और उन्हें बड़े आदर-सत्कारके साथ भगवान्‌के परमधाममें ले जाते हैं। वह धाम प्रलयकालमें नाश नहीं होता, वहाँ किसी प्रकारका दु ख और शोक नहीं है। एक बार जो उस धाममें पहुँच जाता है उसका फिरसे कर्म बन्धनयुक्त जन्म नहीं होता। इसी लोकको सम्भवतः श्रीविष्णुके उपासक वैकुण्ठ, श्रीकृष्णके उपासक गोलोक और श्रीरामके उपासक साकेत-लोक

प्रश्न—क्या ऋषियोंमें राक्षसोंके वध करनेका सामर्थ्य नहीं था और यदि था तो उन्होंने राक्षसोंका वध क्यों नहीं किया ?

उत्तर—ऋषियोंमें राक्षसोंके वध करनेका सामर्थ्य था, परन्तु वे अपना तपोबल क्षीण करना नहीं चाहते थे । जिस समय श्रीविश्वामित्रजीने महाराज दशरथके पास आकर यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीराम-लक्ष्मणको माँगा, उस समय भी उन्होंने यही कहा था कि 'यद्यपि मैं राक्षसोंका वध स्वयं कर सकता हूँ परन्तु इससे मेरा तप क्षय होगा जिसको कि मैं करना नहीं चाहता । श्रीराम-लक्ष्मणके द्वारा राक्षसोंका वध होनेपर मेरे यज्ञकी रक्षा भी होगी तथा मेरा तपोबल भी सुरक्षित रह जायगा । श्रीराम-लक्ष्मण राक्षसोंको सहज-हीमें मार सकते हैं, इस बातको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते ।' महाराज दशरथने मोहसे श्रीराम-लक्ष्मणको साधारण बालक समझकर अपत्य-स्नेहके वशीभूत हो विश्वामित्रसे कहा कि 'नाथ ! मैं स्वयं आपके साथ चलनेको तैयार हूँ, एक रावणको छोड़कर और सारे राक्षसोंको मार सकता हूँ । आप राम-लक्ष्मणको न लेकर मुझे ले चलिये ।' इस प्रकार राजाको मोहमें पड़े हुए देखकर श्रीवसिष्ठजी महाराजने, जो भगवान् श्रीरामके प्रभावको तत्त्वसे जानते थे, दशरथजीको समझाकर कहा कि 'राजन् ! तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो, ये साधारण बालक नहीं हैं, इन्हें कोई भय नहीं है, तुम प्रसन्नताके साथ इन्हें विश्वामित्रजीके साथ भेज दो ।' इस प्रसङ्गसे यह जाना जाता है कि ऋषिगण सामर्थ्यवान् तो थे, परन्तु अपने तपोबलसे काम लेना नहीं चाहते थे ।

हो गये। इस समय अवतार और कारक पुरुष तो जगत्‌में देखनेमें नहीं आते, जीवन्मुक्त महात्मा अलबत्ता मिल सकते हैं।

मुक्ति दो प्रकारकी होती है—सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति। जो इसी देहमें अज्ञानसे सर्वथा छूटकर नित्य, सत्य, आनन्द बोधस्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, जिनके सारे कर्म ज्ञानाग्निके द्वारा भस्म हो जाते हैं और जिनकी दृष्टिमें एक अनन्त और असीम परमात्मसत्ताके सिवा जगत्‌की भिन्न सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है। ऐसे महापुरुष तो जीवन्मुक्त कहलाते हैं, इसीका नाम सद्योमुक्ति है और जो उपर्युक्त क्रमसे लोकान्तरोंमें होते हुए परमधामतक पहुँचते हैं वे क्रममुक्त कहलाते हैं। इस मुक्तिके चार भेद हैं, यथा—सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य और सायुज्य। भगवान्‌के समीप निवास करनेका नाम सामीप्य है, भगवान्‌के समान स्वरूप प्राप्त होनेका नाम सारूप्य है, भगवान्‌के समान लोकमें निवास करनेका नाम सालोक्य है और भगवान्‌में मिल जानेका नाम सायुज्य है। जो दास दासी या माधुर्यभावसे भगवान्‌की भक्ति करते हैं उन्हें सामीप्य-मुक्ति, जो मित्रभावसे भजते हैं उन्हें सारूप्य-मुक्ति और जो वात्सल्यभावसे भजते हैं उन्हें सालोक्य-मुक्ति तथा जो वैरभावसे या ज्ञानमिश्रिता भक्तिसे भगवान्‌की उपासना करते हैं उन्हें सायुज्य-मुक्ति प्राप्त होती है।

ऐसे महापुरुष इस समय भी जगत्‌में हैं। जीवन्मुक्त वही होता है जो पहले जीवभावको प्राप्त था, पीछेसे पुरुषार्थके द्वारा मुक्त हो गया। जैसे श्रीशुकदेवजी और राजा जनकादि।

करते हैं। इस लोकमें पहुँचे हुए महात्मागण महाप्रलयपर्यन्त सुखपूर्वक वहाँ निवास कर अन्तमें शुद्धब्रह्ममें शान्त हो जाते हैं। ऐसे लोगोंमेंसे यदि कोई महापुरुष सृष्टिकर्ता भगवान्की प्रेरणासे अथवा अपनी इच्छासे केवल जगत्का हित करनेके लिये संसारमें आते हैं तो वे कारक पुरुष कहलाते हैं। ऐसे लोगोंके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे भी श्रद्धालु पुरुषोंका उद्धार हो सकता है। श्रीवसिष्ठजी और वेदव्यासजी महाराज आदि ऐसे ही महापुरुषोंमेंसे थे। इन लोगोंका जगत्में प्रकट होना केवल जगत्के उद्धारके लिये ही होता है, जिस प्रकार किसी कारागारमें पड़े हुए कैदियोंको मुक्त करनेके लिये किसी विशेष अवसरपर राजाके प्रतिनिधि अधिकार लेकर कारागारमें जाते हैं और वहाँ जाकर बन्धनमें पड़े हुए कैदियोंको बन्धनसे मुक्त कर, स्वतन्त्रतासे वापस लौट आते हैं। जेलमें कैदी भी जाते हैं और राजाके प्रतिनिधि भी। भेद इतना ही है कि कैदी तो अपने किये दुष्कर्मोंका फल भोगनेके लिये परवश होकर जेलके बन्धनमें जाते हैं और राजाके प्रतिनिधि स्वतन्त्रतासे दयाके कारण बन्धनमें पड़े हुए कैदियोंको मुक्त करनेके लिये जेलमें जाते हैं। इसी प्रकार कारक पुरुष भी संसारमें केवल बन्धनमें पड़े हुए जीवोंको मुक्त करनेके लिये ही प्रकट होते हैं। अवतारमें और कारक पुरुषमें यही अन्तर है कि अवतार तो कभी जीवभावको प्राप्त हुए ही नहीं और कारक पुरुष किसी कालमें जीवभावको प्राप्त थे; परन्तु भगवत् कृपासे अपने पुरुषार्थद्वारा क्रममुक्तिसे वे अन्तमें इस स्थितिको प्राप्त

'जो मेरेको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' इसीके अनुसार भगवान् श्रीरामने श्रीसीताजीके लिये विलाप करते हुए वृक्षों, शाखाओं और पत्तोंसे समाचार पूछ-पूछकर यह सिद्ध कर दिया कि जिस तरहसे इस समय रावणके हाथोंमें पड़ी हुई सीता, रामके प्रेममें निमग्न होकर 'राम-राम' पुकार रही है उसी प्रकार राम भी सीताके प्रेम-बन्धनमें बँधकर प्रेमसे विह्वल हो 'सीता-सीता' पुकार रहे हैं। इसी प्रकार लक्ष्मणके लिये विलाप कर भगवान् श्रीरामने यह सिद्ध कर दिया कि रामके लिये लक्ष्मण जिस प्रकार व्याकुल हो सकता है, उसी प्रकार राम भी आज लक्ष्मणके लिये व्याकुल हैं। इससे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि हम भगवान्‌को जिस प्रकार भजेंगे भगवान् भी हमें उसी प्रकार भजनेके लिये तैयार हैं। यह तो भगवान्‌की बात हुई पर ऋषि-महात्माओंमें भी लोक-व्यवहारमें हर्ष-शोकका-सा भाव हो सकता है।

जीवन्मुक्त और मुक्तिके समीप पहुँचे हुए लोगोंकी बात तो हुई। अब संसारमें ऐसे पुण्यात्मा सकाम योगी भी हैं कि जो—

> धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
> तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥
>
> (गीता ८। २५)

इस श्लोकके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंद्वारा अग्रसर होते हुए चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापस लौट आते हैं।

जीवोंमें पहली श्रेणीमें तो कुछ ऐसे महापुरुष हैं कि जो जीवभावसे मुक्त हो चुके हैं। दूसरे ऐसे लोग इस समय मिल सकते हैं कि जो दैवी सम्पत्तिका आश्रय लिये हुए मुक्तिके मार्गमें स्थित हैं और मुक्तिके बहुत समीप पहुँच चुके हैं, सम्भव है कि उनकी इसी जन्ममें मुक्ति हो जाय या किसीको एक जन्म और भी धारण करना पड़े। ऐसे पुरुष भी जीवन्मुक्तोंकी भाँति काम-क्रोध और शोक-हर्षके अधीन प्राय नहीं होते।

प्रश्न—प्राचीन कालमें ऋषियोंके और महात्माओंके हर्ष-शोक हुए हैं ऐसे लेख ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसका क्या कारण है?

उत्तर—जिनको राग-द्वेषके कारण हर्ष-शोकका विकार होता है, वे तो जीवन्मुक्त नहीं समझे जा सकते, परन्तु यदि कर्तव्यवश लोकमर्यादाके लिये किसी-किसी अंशमें महात्माओंमें हर्ष-शोकका व्यवहार दीखता है तो कोई हानि नहीं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने तो सीताके हरण हो जानेपर और लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर बड़ा विलाप किया था, वह भी ऐसे शब्दोंमें और ऐसे भावसे कि जिसे देख-सुनकर बड़े-बड़े लोगोंको मोह-सा होने लगा था, किन्तु वह केवल भगवान्‌का व्यवहार था और उसमें तो एक विलक्षण बात और भी थी। भगवान् श्रीरामने श्रीसीताजी और लक्ष्मणके लिये व्याकुलतासे विलापकर जगत्‌को महान् प्रेमकी और अपने मृदु स्वभावकी बड़ी भारी शिक्षा दी थी। भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें अपना यह स्वभाव बतलाया है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४।११)

लघिमा—शरीरको अत्यन्त हल्का बना लेना।

प्राप्ति—इच्छानुसार पदार्थोंको प्राप्त कर लेना, जैसे भरद्वाज मुनिने भरतजीके आतिथ्यके समय किया था।

प्राकाम्य—कामनाके अनुसार कार्य हो जाना।

ईशित्व—ईश्वरके समान सृष्टि-रचना करनेका सामर्थ्य हो जाना।

वशित्व—अपने प्रभावसे चाहे जिसको अपने वशमें कर लेना।

ये आठ सिद्धियाँ हैं, आजकल इन सिद्धियोंको प्राप्त किये हुए पुरुष देखनेमें नहीं आते। सत्य-भाषणसे वाणीका सत्य हो जाना आदि उपसिद्धियोंको प्राप्त हुए पुरुष तो कहीं-कहीं मिल सकते हैं।

प्रश्न—क्या सत्य बोलनेवालेकी वाणीसे निकले हुए सभी शब्द सत्य हो जाते हैं?

उत्तर—अवश्य हो जाते हैं, उपनिषद् और पुराणादिमें इसके अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन कालमें ऐसा हुआ करता था। छोटे-से ऋषिकुमारने राजा परीक्षित्‌को शाप दे दिया था, तो उसीके अनुसार ठीक समयपर साँपने आकर परीक्षित्‌को डस दिया। जब राजा नहुषने इन्द्रपदपर आरूढ होकर ऋषियोंको अपनी पालकीमें जोता और कामान्ध होकर इन्द्राणीके पास जाने लगा तथा 'शीघ्र सर्प' कहकर ऋषिको ठुकराया था, तब ऋषिने कहा था कि तुम सर्प हो जाओ, तदनुसार वह तुरंत साँप हो गया। प्रार्थना करनेपर फिर उसीको यह वरदान दिया कि 'द्वापरयुगमें भीमको पकड़नेपर महाराज युधिष्ठिरसे तुम्हारी भेंट होगी तब तुम्हारा उद्धार

पूर्वकालमें ऐसे योगी भी हुआ करते थे कि जिनको आठों प्रकारकी अथवा उनमेंसे कोई-कोई-सी सिद्धियाँ प्राप्त रहती थीं, वर्तमान कालमें यह विद्या लुप्तप्राय हो चुकी है। वास्तवमें केवल सिद्धियोंकी प्राप्तिसे परम कल्याण भी नहीं होता। सिद्धियोंसे सांसारिक सुख मिल सकते हैं परन्तु मोक्ष नहीं मिलता, इसीलिये शास्त्रकारोंने इन सिद्धियोंको मोक्षका बाधक और सांसारिक सुखोंका साधक माना है। सिद्धियोंको प्राप्त करनेवाले योगी प्राय सिद्धियोंमें ही रह जाते हैं परन्तु ऊपर कहे हुए मुक्तिके मार्गमें स्थित योगी तो मोक्षरूप परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं, इसीलिये उनका दर्जा इनसे ऊँचा है।

प्रश्न—आठ सिद्धियाँ कौन-सी हैं, कैसे प्राप्त होती हैं और उनसे क्या क्या काम होते हैं?

उत्तर—सिद्धियोंके नाम अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व हैं। इनकी प्राप्ति अष्टाङ्गयोगके साधनसे होती है और इन सिद्धियोंसे इस प्रकार कार्य हो सकते हैं—

अणिमा—अपने स्वरूपको अणुके समान बना लेना, जैसे श्रीहनूमान्‌जी महाराजने लङ्कामें प्रवेश करनेके समय बनाया था।

गरिमा—शरीरको भारी वजनदार बना लेना, जैसे कर्णके बाण चलानेपर अर्जुनको बचानेके लिये सारथिरूपसे रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने बनाया था और अपने भारसे घोड़ोंसमेत रथको जमीनमें बैठा दिया था।

महिमा—शरीरको महान् विशाल बना लेना, जैसे भगवान् श्रीवामनजीने बनाया था।

लघिमा—शरीरको अत्यन्त हल्का बना लेना।

प्राप्ति—इच्छानुसार पदार्थोंको प्राप्त कर लेना, जैसे भरद्वाज मुनिने भरतजीके आतिथ्यके समय किया था।

प्राकाम्य—कामनाके अनुसार कार्य हो जाना।

ईशित्व—ईश्वरके समान सृष्टि-रचना करनेका सामर्थ्य हो जाना।

वशित्व—अपने प्रभावसे चाहे जिसको अपने वशमें कर लेना।

ये आठ सिद्धियाँ हैं, आजकल इन सिद्धियोंको प्राप्त किये हुए पुरुष देखनेमें नहीं आते। सत्य-भाषणसे वाणीका सत्य हो जाना आदि उपसिद्धियोंको प्राप्त हुए पुरुष तो कहीं-कहीं मिल सकते हैं।

प्रश्न—क्या सत्य बोलनेवालेकी वाणीसे निकले हुए सभी शब्द सत्य हो जाते हैं?

उत्तर—अवश्य हो जाते हैं, उपनिषद् और पुराणादिमें इसके अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन कालमें ऐसा हुआ करता था। छोटे-से ऋषिकुमारने राजा परीक्षित्‌को शाप दे दिया था, तो उसीके अनुसार ठीक समयपर साँपने आकर परीक्षित्‌को डस दिया। जब राजा नहुषने इन्द्रपदपर आरूढ होकर ऋषियोंको अपनी पालकीमें जोता और कामान्ध होकर इन्द्राणीके पास जाने लगा तथा 'शीघ्रं सर्प' कहकर ऋषिको ठुकराया था, तब ऋषिने कहा था कि तुम सर्प हो जाओ, तदनुसार वह तुरत साँप हो गया। प्रार्थना करनेपर फिर उसीको यह वरदान दिया कि 'द्वापरयुगमें भीमको पकड़नेपर महाराज युधिष्ठिरसे तुम्हारी भेंट होगी तब तुम्हारा उद्धार

होगा' यह वचन भी सत्य हुआ । अतएव यह सिद्ध होता है कि सत्यवादीके मुखसे निकला हुआ प्रत्येक शब्द सत्य होता है । हाँ, यदि कोई सत्यवादी कभी जान-बूझकर असत्य बोले तो उसके शब्द सत्य नहीं होते, जैसे महाराज युधिष्ठिरने जान-बूझकर अश्वत्थामाके मरनेकी सन्दिग्ध बात कही थी, सब अश्वत्थामा नहीं मरा; परन्तु यदि कोई केवल सत्य ही बोले तो उसकी वाणीके सत्य होनेमें कोई सन्देह नहीं ।

आजकल कुछ ऐसे पुरुष भी मिल सकते हैं कि जिन लोगोंने मन और इन्द्रियोंको प्राय वशमें कर लिया है, जिनको महीनोंतक स्त्रीके साथ एक शय्यापर सोते रहनेपर भी कामोद्रेक नहीं होता, भोजनकी चाहे जैसी सामग्री सामने होनेपर भी मन नहीं चलता, क्रोध और शोकके बड़े भारी कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध और शोक नहीं होता । परन्तु ऐसा कोई महापुरुष मेरे देखनेमें नहीं आया कि जिसके दर्शन, स्पर्श भाषण या चिन्तनसे ही उद्धार हो जाय, जैसे श्रीनारदजी महाराजके दर्शन और उपदेशसे अनेकों ही प्राणियोंका उद्धार हो गया, श्रीशुकदेवजीके उपदेशसे लाखोंका कल्याण हुआ, जीवन्मुक्त आचार्योंके चिन्तनसे अनेक शिष्योंका उद्धार हुआ और बंगालके श्रीचैतन्यमहाप्रभुके दर्शन, स्पर्श और उपदेशसे हजारोंका कल्याण हुआ । इतना अवश्य कह सकता हूँ कि यदि मनुष्य चाहे तो ऐसा बन सकता है कि उसके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे ही लोगोंका उद्धार हो जाय ।

कल्याणका तत्त्व

सब प्रकारके दुःखोंसे, विकारोंसे, गुणों और कर्मोंसे सदाके लिये मुक्त होकर परम विज्ञान आनन्दमय कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर लेना ही परम कल्याण है । इसीको कोई मुक्ति, कोई परमपदकी प्राप्ति, कोई निर्वाणपदकी प्राप्ति और कोई मोक्ष कहते हैं । इस स्थितिको प्राप्त करनेका अधिकार मनुष्य-मात्रको है । श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

(गीता ९ । ३२)

'मेरी शरण होनेवाले स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि (अन्त्यजादि) कोई भी हों (सब) परम गतिको प्राप्त होते हैं । अतएव जो मनुष्य परमात्माके भजन-ध्यानद्वारा इस प्रकार संसारसे मुक्त होकर परम पदको पा जाता है उसीका मानव-जीवन कृतार्थ होता है ।

इस विषयमें लोग भिन्न-भिन्न प्रकारकी भ्रमात्मक बातें किया करते हैं जिनमेंसे मुख्य ये तीन हैं—

१—'वर्तमान देश-कालमें या इस भूमिपर मुक्ति सम्भव नहीं है, एवं गृहस्थ और नीच वर्णोंमें मुक्ति नहीं होती ।'

२—'मुक्त पुरुष दीर्घकालपर्यन्त मुक्तिका सुख भोगनेके बाद पुनः संसारमें जन्म लेते हैं ।

३—'मुक्ति ज्ञानसे होती है । काम, क्रोध, असत्य, चोरी और व्यभिचारादि विकारोंके रहते भी ज्ञान हो जानेपर मनुष्य जीवन्मुक्त हो सकता है । उपर्युक्त विकार तो अन्तःकरणके धर्म हैं, जबतक अन्तःकरण है तबतक प्रारब्धानुसार इन विकारोंका रहना भी अनिवार्य है ।'

ये तीनों ही विचार वास्तवमें न तो सत्य हैं और न लाभप्रद तथा युक्तियुक्त ही हैं, वरं इनके माननेसे बड़ी हानि होती है तथा लोगोंमें भ्रम फैलता है, इसलिये यहाँ इसी विषयपर क्रमशः विचार किया जाता है ।

१—मुक्तिका कारण आत्मज्ञान है और उस आत्मसाक्षात्कार के लिये निष्काम कर्मयोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोगादि प्रत्येक देश-कालमें सुसाध्य उपाय वेद-शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं ।

कोई खास युग, देश, वर्ण या आश्रममात्र ही मुक्तिका कारण नहीं माना गया है । साधनसम्पन्न होनेपर प्रत्येक देश-कालमें और प्रत्येक वर्ण-आश्रममें मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है । गीताके उपर्युक्त श्लोकसे भी यही निर्णीत है । मुक्तिके लिये श्रुति-स्मृतियोंमें कहीं भी कलियुग, भारतभूमि या किसी वर्णाश्रमका निषेध नहीं किया गया है । आजतकके सन्त-महात्माओंके जीवन-चरित्रोंसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक देश, भूमि, वर्ण और आश्रममें साधन करनेपर मुक्ति हो सकती है । विष्णुपुराणमें एक प्रसङ्ग है—

'ऐसा कौन-सा समय है कि जिसमें धर्मका थोड़ा-सा अनुष्ठान भी महत् फल देता हो ?' इस विषयपर एक बार मुनियोंमें बड़ी

बहस हुई, अन्तमें वे सब मिलकर इस प्रश्नका निर्णयात्मक उत्तर पानेके लिये भगवान् वेदव्यासके पास गये। व्यासजी महाराज उस समय भगवती भागीरथीमें स्नान कर रहे थे, ऋषिगण उनकी प्रतीक्षामें जाह्नवीके तटपर वृक्षोंकी छायामें बैठ गये। थोड़ी देरके बाद व्यासजीने बाहर निकलकर मुनियोंको सुनाते हुए क्रमशः ऐसा कहा 'कलियुग ही साधु है' 'हे शूद्र! तुम्हीं साधु हो, तुम्हीं धन्य हो!' 'हे स्त्रियो! तुम धन्य हो, तुमसे अधिक धन्य और कौन है?' इससे मुनियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कौतूहलसे व्यासजीसे इन वचनोंका मर्म पूछा। व्यासदेवने कहा कि यही तुम्हारे विवादग्रस्त प्रश्नका उत्तर है। इन तीनोंमें मनुष्य अल्पायाससे ही परमगति पा सकता है। दूसरे युगोंमें, दूसरे वर्णोंमें और पुरुषोंमें तो बड़े साधनसे कहीं कुछ होता है, परन्तु—

स्वल्पेनैव प्रयत्नेन धर्मः सिद्धयति वै कलौ।
नरैरात्मगुणाम्भोभिः क्षालिताखिलकिल्बिषैः॥
शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषातत्परैर्मुनिसत्तमाः।
तथा स्त्रीभिरनायासं पतिशुश्रूषयैव हि॥
ततस्त्रितयमप्येतन्मम धन्यतमं मतम्।

(विष्णुपुराण ६।२।३४-३६)

'हे मुनिगण! कलियुगमें मनुष्य सद्वृत्तिका अवलम्बन करके थोड़े-से प्रयाससे ही सारे पापोंसे छूटकर धर्मकी सिद्धि पाता है। शूद्र द्विजसेवासे और स्त्रियाँ केवल पतिसेवासे अल्पायाससे ही

३—'मुक्ति ज्ञानसे होती है । काम, क्रोध, असत्य, चोरी और व्यभिचारादि विकारोंके रहते भी ज्ञान हो जानेपर मनुष्य जीवन्मुक्त हो सकता है । उपर्युक्त विकार तो अन्तःकरणके धर्म हैं, जबतक अन्तःकरण है तबतक प्रारब्धानुसार इन विकारोंका रहना भी अनिवार्य है ।'

ये तीनों ही विचार वास्तवमें न तो सत्य हैं और न शास्त्र तथा युक्तियुक्त ही हैं, वरं इनके माननेसे बड़ी हानि होती है तथा लोगोंमें भ्रम फैलता है, इसलिये यहाँ इसी विषयपर क्रमशः विचार किया जाता है ।

१—मुक्तिका कारण आत्मज्ञान है और उस आत्मसाक्षात्कार के लिये निष्काम कर्मयोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोगादि प्रत्येक देश-कालमें सुसाध्य उपाय वेद-शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं ।

कोई खास युग, देश, वर्ण या आश्रममात्र ही मुक्तिका कारण नहीं माना गया है । साधनसम्पन्न होनेपर प्रत्येक देश-कालमें और प्रत्येक वर्ण-आश्रममें मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है । गीताके उपर्युक्त श्लोकसे भी यही निर्णीत है । मुक्तिके लिये श्रुति-स्मृतियोंमें कहीं भी कलियुग, भारतभूमि या किसी वर्णाश्रमका निषेध नहीं किया गया है । आजतकके संत-महात्माओंके जीवन चरित्रोंसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक देश, भूमि, वर्ण और आश्रममें साधन करनेपर मुक्ति हो सकती है । विष्णुपुराणमें एक प्रसङ्ग है—

'ऐसा कौन-सा समय है कि जिसमें धर्मका थोड़ा-सा अनुष्ठान भी महान् फल देता हो ?' इस विषयपर एक बार ऋषियोंमें बड़ी

उन्हींका होता है जो सकामी पुण्यात्मा पुरुष अपने पुण्यबलसे स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥

(गीता ९। २०-२१)

मुक्त पुरुषके सम्बन्धमें तो श्रुति-स्मृतियोंमें स्थान-स्थानपर उनके पुन. संसारमें न आनेके ही प्रमाण मिलते हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(८। १६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, परन्तु हे कौन्तेय! मुझको प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।'

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'

(छान्दो० ८। १५। १)

'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'

(छान्दो० ४। १५। ६)

उत्तम गति पा सकती है। इसीलिये मैंने इन तीनोंको धन्यतम कहा है।' इससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान देश-कालमें और स्त्री, शूद्रोंके लिये तो मुक्तिका पथ और भी सुगम है।

थोड़ी देरके लिये यदि यह भी मान लें कि वर्तमान देश-कालमें और प्रत्येक वर्णाश्रममें मुक्ति नहीं होती, लोग भूलसे ही उत्साहपूर्वक मुक्तिके लिये साधनमें लगे हुए हैं तथापि यह तो नहीं माना जा सकता कि इस भूलसे वे कोई अपना नुकसान कर रहे हैं। मुक्ति न सही, परन्तु साधनका कुछ-न-कुछ तो उत्तम फल अवश्य ही होगा। सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी, अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और दैवी सम्पत्तिके गुणोंका विकास होगा। जब मुक्ति होती ही नहीं तब यह तो साधक और असाधक दोनोंकी ही नहीं होगी, परन्तु साधकमें साधनसे सद्गुणोंकी वृद्धि होगी और साधनहीन मनुष्य कोरा-का-कोरा ही रह जायगा। इसके अतिरिक्त यदि वर्तमान देश-कालमें प्रत्येक मनुष्यकी मुक्ति होती होगी तो साधककी तो हो ही जायगी परन्तु साधन न करनेवाला सर्वथा वञ्चित रह जायगा। जब वह साधनमें प्रवृत्त ही नहीं होगा तब मुक्ति कैसी ? अतएव वह बेचारा भ्रमसे इस परम लाभसे वञ्चित रहकर बारंबार संसारके आवागमन चक्रमें घूमता रहेगा। अतएव इस युक्तिसे भी प्रत्येक देश-कालमें और प्रत्येक वर्णाश्रममें मुक्तिका सुगम मानना ही उचित श्रेयस्कर और तर्कसिद्ध है।

२—श्रुति, स्मृति और उपनिषदादि सद्ग्रन्थोंमें कहींपर भी मुक्त पुरुषोंके पुनरागमन-सम्बन्धी प्रमाण नहीं मिलते। पुनरागमन

जायँगे तब तो सृष्टिकी सत्ता ही मिट जायगी। इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो ऐसा होना सम्भव नहीं, क्योंकि—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई मनुष्य मोक्षके लिये यत्न करता है, उन यत्न करनेवाले योगियोंमेंसे कोई पुरुष मुझको (परमात्माको) तत्त्वसे जानता है।' इस अवस्थामें सभी जीवोंका मुक्त होना असम्भव है, क्योंकि जीव असंख्य हैं। तथापि यदि किसी दिन 'सम्पूर्ण संसारके सभी जीव किसी तरह मुक्त हो जायँ' तो इसमें हानि ही कौन सी है? आजतक अनेक श्रेष्ठ पुरुष इससे पूर्व ऐसी चेष्टा कर चुके हैं, महात्मागण अब भी कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे। यदि किसी दिन उनका परिश्रम सफल हो जाय और अखिल जगत्के जीवोंका उद्धार हो जाय तो बहुत ही अच्छी बात है, इससे सिद्धान्तमें कौन-सी बाधा आती है?

तर्कके लिये मान लिया जाय कि मुक्त पुरुषका पुनर्जन्म होता है और पुनर्जन्म न माननेवाले भूल करते हैं, पर इस भूलसे उनकी हानि क्या होती है? इस सिद्धान्तके अनुसार पुनरागमन माननेवाला भी वापस आवेगा और न माननेवाला भी। फल दोनोंका एक ही है। परन्तु कदाचित् यही सिद्धान्त सत्य हो कि 'मुक्त पुरुषका पुनरागमन नहीं होता' तब तो भूलसे पुनरागमन माननेवालेकी बड़ी हानि होगी; क्योंकि उस पुनरागमन माननेवालेको तो वह मुक्ति ही नहीं मिलेगी कि जिसमें पुनरागमन

'तेषामिह न पुनरावृत्तिः'

(बृह० ६ । २ । १५)

—आदि श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं । इन शास्त्र-वचनोंसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मुक्त जीवोंका पुनरागमन कभी नहीं होता । जीवन्मुक्तोंके द्वारा लोकदृष्टिमें यथायोग्य सभी कार्य होते हुए प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तवमें उनका उन कार्योंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(गीता ४ । १९)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

(गीता १८ । १७)

इसके सिवा उस मुक्त पुरुषकी दृष्टिमें एक विशुद्ध विज्ञान आनन्दघन परमात्म-तत्त्वके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रह जाता—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(गीता ७ । १९)

वह समझता है कि सभी कुछ केवल वासुदेव ही है । इसीलिये उसे मुक्त कहते हैं । ऐसे पुरुषका किसी कारणमें भी इस मायामय संसारसे पुन सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि उसकी दृष्टिमें संसारका सदाके लिये आत्यन्तिक अभाव हो जाता है । इस अवस्थामें उसका पुनरागमन क्योंकर हो सकता है ?

यदि कोई यह कुतर्क करे कि यदि मुक्त जीवोंका पुनरागमन नहीं होगा तो मुक्त होते-होते एक दिन जगत्‌के सभी जीव मुक्त हो

उसका अन्तःकरण मल-विक्षेप और आवरणसे सर्वदा रहित होकर शुद्ध हो जाता है, ऐसी स्थितिमें काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि विकार उसमें कैसे रह सकते हैं ? भगवान्‌ने कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

(गीता ५ । २५-२६)

'हर्षशोकौ जहाति' 'तरति शोकमात्मवित्'आदि श्रुतियाँ भी इसके प्रमाणमें प्रसिद्ध हैं । शास्त्रोंमें जहाँ देखिये वहीं एक-स्वरसे यही प्रमाण मिलता है । श्रीपरमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जब समस्त विकारोंकी जड़ आसक्तिका ही अत्यन्त अभाव हो जाता है तब उसके कार्यरूप अन्य विकार तो कैसे रह सकते हैं ? इन शास्त्रवचनोंसे यही सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्तके शुद्ध अन्तःकरण-में विकारोंका अस्तित्व मानना कदापि उचित नहीं है ।

यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि जीवन्मुक्तिके बाद भी काम-क्रोधादि विकारोंका लेश शेष रह जाता है और जो लोग उसका शेष रहना नहीं मानते, वे भूलसे ही काम-क्रोधादि विकारोंको जड़-से उखाड़नेकी धुनमें लगे रहते हैं, इसपर यह सोचना चाहिये कि क्या इस भूलसे उसका कोई नुकसान होता है ? यदि पक्षपात छोड़कर विचार किया जाय तो पता लगता है कि काम-क्रोधादि विकारोंके नाशका उपाय न करनेवालोंकी अपेक्षा उपाय करनेवाले

न होता हो। वह बेचारा मूलसे ही इस परम लाभसे वञ्चित रह जायगा और पुनरागमन न माननेवाला मुक्त हो जायगा। इस न्यायसे भी पुनरागमन न मानना ही युक्तियुक्त, भ्रमनाशक और सर्वोत्तम सिद्ध होता है।

२–श्रुति-स्मृति और उपनिषदादि किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काम-क्रोधादि विकारोंके रहते जीवन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो स्पष्ट शब्दोंमें काम, क्रोध और लोभको नरकका त्रिविध द्वार बतलाया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(१६। २१)

श्रीगीतामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रश्नोत्तरसे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि समस्त पापोंका बीज 'काम' है और उसको आत्मज्ञानके द्वारा नष्ट करके ही साधक मुक्त हो सकता है। तीसरे अध्यायके ३६ वें श्लोकसे ४१ वें श्लोकपर्यन्त इसका विस्तारसे वर्णन है। जहाँतक काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि विकारोंसे ही मनुष्यका छुटकारा नहीं होगा, वहाँतक उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है! मुक्त पुरुषका वास्तवमें संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। गीताजीमें कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(३। १७-१८)

उसका अन्तःकरण मल-विक्षेप और आवरणसे सर्वदा रहित होकर शुद्ध हो जाता है, ऐसी स्थितिमें काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि विकार उसमें कैसे रह सकते हैं ? भगवान्‌ने कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

(गीता ५ । २५-२६)

'हर्षशोकौ जहाति' 'तरति शोकमात्मवित्' आदि श्रुतियाँ भी इसके प्रमाणमें प्रसिद्ध हैं । शास्त्रोंमें जहाँ देखिये वहीं एक-स्वरसे यही प्रमाण मिलता है । श्रीपरमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जब समस्त विकारोंकी जड़ आसक्तिका ही अत्यन्त अभाव हो जाता है तब उसके कार्यरूप अन्य विकार तो कैसे रह सकते हैं ? इन शास्त्रवचनोंसे यही सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्तके शुद्ध अन्तःकरण-में विकारोंका अस्तित्व मानना कदापि उचित नहीं है ।

यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि जीवन्मुक्तिके बाद भी काम-क्रोधादि विकारोंका लेश शेष रह जाता है और जो लोग उसका शेष रहना नहीं मानते, वे भूलसे ही काम-क्रोधादि विकारोंको जड़-से उखाड़नेकी धुनमें लगे रहते हैं, इसपर यह सोचना चाहिये कि क्या इस भूलसे उसका कोई नुकसान होता है ? यदि पक्षपात छोड़कर विचार किया जाय तो पता लगता है कि काम-क्रोधादि विकारोंके नाशका उपाय न करनेवालोंकी अपेक्षा उपाय करनेवाले

अधिक बुद्धिमान् हैं, क्योंकि उपाय करनेसे उनके विकार अधिक नष्ट होंगे और इससे वे कम-से-कम जीवन्मुक्तोंमें तो उत्तम ही माने जायँगे। एक मनुष्य अत्यन्त क्रोधी तथा कामी है और दूसरा इन दोषोंसे छूटा हुआ है और इस सिद्धान्तके अनुसार वे दोनों ही जीवन्मुक्त हैं। इस दशामें यह तो स्वाभाविक है कि इनमें काम-क्रोधपरायण मनुष्यकी अपेक्षा काम-क्रोध-रहित जीवन्मुक्त ही अधिक सम्माननीय होगा। इस दृष्टिसे भी काम-क्रोधादि विकारोंका नाश करना ही उचित सिद्ध होता है और यदि कहीं यही बात सत्य हो कि जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें कोई विकार शेष नहीं रहता तब तो विकारोंका शेष रहना माननेवालेकी केवल मुक्ति नहीं होगी इतनी ही बात नहीं परन्तु उसकी और भी बड़ी हानि होगी, क्योंकि वह मिथ्या ज्ञानसे (गीता १८। २२ के अनुसार) ही अपनेको ज्ञानी और मुक्त मानकर अपने चरित्र-सुधारक पवित्र कार्यसे भी वञ्चित रह जायगा और काम-क्रोधादि विकारोंके मोहमय जालोंमें फँसकर अनेक प्रकारकी नरक-यन्त्रणा भोगता हुआ (गीता अध्याय १६ के श्लोक १६से २० के अनुसार) लगातार संसार चक्रमें भटकता फिरेगा। इसलिये यही सिद्धान्त सर्वोपरि मानना चाहिये कि जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि कोई भी विकार शेष नहीं रह जाते।

इसके सिवा मुक्तिके सम्बन्धमें लोग और भी अनेक प्रकारकी शंकाएँ किया करते हैं पर लेख बढ़ जानेके कारण उन सबपर विचार नहीं किया गया।

इस लेखसे पाठक समझ गये होंगे कि मुक्त पुरुष तीनों गुणोंसे सर्वथा अतीत होता है (गीता अध्याय १४ के १९ वें और २२ वें से २५ वें श्लोकतक इसका वर्णन है), इसीसे उसके अन्तःकरणमें कोई विकार या कोई भी कर्म शेष नहीं रहता और इसीलिये उसका पुनर्जन्म भी नहीं होता । पुनर्जन्मका हेतु गुणोंका सङ्ग ही है । भगवान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गीता १३ । २१)

पाठक यह भी समझ गये होंगे कि वर्तमान देश-कालमें मुक्त होना कोई असम्भव बात नहीं है अतएव अब शीघ्र सावधान होकर कर्तव्यमें लग जाना चाहिये । आलस्यमें अबतक बहुत समय नष्ट हो चुका । अब तो सचेत होना चाहिये । मनुष्य-जीवनके एक भी अमूल्य क्षणको व्यर्थमें गँवाना उचित नहीं । गया हुआ समय किसी भी उपायसे वापस नहीं मिल सकता । अतएव यथासाध्य शीघ्र ही सत्सङ्गके द्वारा अपने कल्याणका मार्ग समझकर उसपर आरूढ हो जाना चाहिये ।

—यही कल्याणका तत्त्व है !

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(कठ० १ । ३ । १४)

कल्याण-प्राप्तिके उपाय

कल्याण मुक्तिको कहते हैं, यह शब्द परमपद या परमगतिका वाचक है। कल्याणको प्राप्त करनेके प्रधान उपाय तीन हैं—निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग अर्थात् सांख्ययोग और भक्तियोग अर्थात् ध्यानयोग। इनमें भक्तिका साधन स्वतन्त्र भी किया जा सकता है और निष्काम कर्मयोग एवं सांख्ययोगके साथ भी।

निष्काम कर्मयोगका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके ३९ वें श्लोकसे ५३ वें श्लोकतक है और निष्काम कर्मयोग-द्वारा सिद्धिको प्राप्त हुए पुरुषोंके लक्षण इसी अध्यायके ५४ वेंसे ७२ वें श्लोकतक वर्णित हैं।

ज्ञानयोगका विस्तारसे वर्णन द्वितीय अध्यायके ११ वेंसे ३० वें श्लोकतक है और उसीके अनुसार तृतीय अध्यायके २८ वें; पञ्चम अध्यायके ८ वें और ९ वें तथा चतुर्दश अध्यायके १९ वें श्लोकमें ज्ञानयोगीके कर्म करनेकी विधि बतलायी है। इसके अतिरिक्त पञ्चम अध्यायके १३ वेंसे २६ वें श्लोकतक ज्ञान और अष्टादश अध्यायके ४९ वेंसे ५५ वें श्लोकतक उपासनासहित ज्ञानयोगका वर्णन है।

पञ्चम अध्यायके २७ वेंसे २९ वें, षष्ठ अध्यायके ११ वेंसे ३२ वें, अष्टम अध्यायके ५ वेंसे २२ वें; नवम अध्यायके ३० वेंसे ३४ वें;

दशम अध्यायके ८ वेंसे १२ वें; एकादश अध्यायके ३५ वेंसे ५५ वें और द्वादश अध्यायके २ रे से ८ वें श्लोकतक ध्यानयोग या भक्तियोगका वर्णन है, वास्तवमें ध्यानयोग और भक्तियोग एक ही वस्तु है । इसी प्रकार श्रीगीताजीके अन्यान्य स्थलोंमें भी तीनों साधनोंका भिन्न-भिन्न रूपसे वर्णन है, इन सबमें वर्तमान समयके लिये कल्याणकी प्राप्तिका सबसे सुगम और उत्तम उपाय भक्तिसहित निष्काम कर्मयोग है । इसका बड़ा सुन्दर उपदेश श्रीगीताजीके अष्टादश अध्यायके निम्नलिखित ११ श्लोकोंमें है—

भगवान् श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

कल्याण-प्राप्तिके उपाय

कल्याण मुक्तिको कहते हैं, यह शब्द परमपद या परमगतिका वाचक है। कल्याणको प्राप्त करनेके प्रधान उपाय तीन हैं— निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग अर्थात् सांख्ययोग और भक्तियोग अर्थात् ध्यानयोग। इनमें भक्तिका साधन स्वतन्त्र भी किया जा सकता है और निष्काम कर्मयोग एवं सांख्ययोगके साथ भी।

निष्काम कर्मयोगका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके ३९ वें श्लोकसे ५३ वें श्लोकतक है और निष्काम कर्मयोग-द्वारा सिद्धिको प्राप्त हुए पुरुषोंके लक्षण इसी अध्यायके ५४ वेंसे ७२ वें श्लोकतक वर्णित हैं।

ज्ञानयोगका विस्तारसे वर्णन द्वितीय अध्यायके ११ वें से ३० वें श्लोकतक है और उसीके अनुसार तृतीय अध्यायके २८ वें; पञ्चम अध्यायके ८ वें और ९ वें तथा चतुर्दश अध्यायके १९ वें श्लोकमें ज्ञानयोगीके कर्म करनेकी विधि बतलायी है। इसके अतिरिक्त पञ्चम अध्यायके १३ वेंसे २६ वें श्लोकतक ज्ञान और अष्टादश अध्यायके ४९ वेंसे ५५ वें श्लोकतक उपासनासहित ज्ञानयोगका वर्णन है।

पञ्चम अध्यायके २७ वेंसे २९ वें, षष्ठ अध्यायके ११ वेंसे ३२ वें, अष्टम अध्यायके ५ वेंसे २२ वें, नवम अध्यायके ३० वेंसे ३४ वें,

'क्योंकि हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, अतएव हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे परम शान्तिको एवं सनातन परम धामको प्राप्त होगा ।'

'इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है, इस रहस्ययुक्त ज्ञानको सम्पूर्णतासे अच्छी प्रकार विचारके फिर तू जैसे चाहता है वैसे ही कर, यानी जैसी तेरी इच्छा हो वैसे ही कर ।'

'हे अर्जुन ! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन, क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है । इससे यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिये कहूँगा ।'

'हे अर्जुन ! तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा-भक्तिसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता,

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्र हो जाता है । अतएव हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मेरें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोग अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो ।'

'इस प्रकार तू मेरेमें निरन्तर मनवाला हुआ मेरी कृप जन्म-मृत्यु आदि संकटोंसे अनायास ही तर जायगा और य अहंकारके कारण मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जाय अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ।'

'जो तू अहङ्कारको अवलम्बन करके ऐसे मानता है कि युद्ध नहीं करूँगा तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि क्षत्रिय का स्वभाव तेरेको जबरदस्ती युद्धमें लगा देगा ।'

'हे अर्जुन ! जिस कर्मको तू मोहसे नहीं करना चाहता उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ पर होकर करेगा ।'

'क्योंकि हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, अतएव हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे परम शान्तिको एवं सनातन परम धामको प्राप्त होगा ।'

'इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है, इस रहस्ययुक्त ज्ञानको सम्पूर्णतासे अच्छी प्रकार विचारके फिर तू जैसे चाहता है वैसे ही कर, यानी जैसी तेरी इच्छा हो वैसे ही कर ।'

'हे अर्जुन ! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन, क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है । इससे यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिये कहूँगा ।'

'हे अर्जुन ! तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा-भक्तिसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता,

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है । अतएव हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मेरेमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो ।'

'इस प्रकार तू मेरेमें निरन्तर मनवाला हुआ मेरी कृपासे जन्म-मृत्यु आदि संकटोंसे अनायास ही तर जायगा और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ।'

'जो तू अहङ्कारको अवलम्बन करके ऐसे मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है, क्योंकि क्षत्रियपनका स्वभाव तेरेको जबरदस्ती युद्धमें लगा देगा ।'

'हे अर्जुन ! जिस कर्मको तू मोहसे नहीं करना चाहता है उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा ।'

भगवान् क्या हैं ?

भगवान् क्या हैं ? इस सम्बन्धमें मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ वह मेरे अपने निश्चयकी बात है, हो सकता है कि मेरा निश्चय ठीक न हो, मैं यह नहीं कहता कि दूसरोंका निश्चय ठीक नहीं है, परन्तु मुझे अपने निश्चयमें कोई सन्देह नहीं है। मैं इस विषयमें संशयात्मा नहीं हूँ तथापि दूसरोंके निश्चयको गलत बतानेका मुझे कोई अधिकार नहीं है।

भगवान् क्या हैं ? इन शब्दोंका वास्तविक उत्तर तो यही है कि इस बातको भगवान् ही जानते हैं। इसके सिवा भगवान्के विषयमें उन्हें तत्त्वसे जाननेवाला ज्ञानी पुरुष उनके तटस्थ अर्थात् नजदीकका कुछ भाव बतला सकता है। वास्तवमें तो भगवान्के स्वरूपको भगवान् ही जानते हैं, तत्त्वज्ञ लोग सकेतके रूपमें भगवान्के स्वरूपका कुछ वर्णन कर सकते हैं; परन्तु जो कुछ जानने और वर्णन करनेमें आता है, वास्तवमें भगवान् उससे और भी विलक्षण हैं। वेद, शास्त्र और मुनि, महात्मा परमात्माके सम्बन्धमें सदासे कहते ही आ रहे हैं, किन्तु उनका वह कहना आजतक पूरा नहीं हुआ। अबतकके उनके सब वचनोंको मिलाकर या अलग-अलग कर, कोई परमात्माके वास्तविक स्वरूपका वर्णन

वात्सल्य और सौहार्द आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होगा, यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।'

'अतएव सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो; मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

कैसा दिव्य उपदेश है! इसके सिवा ध्यानयोग और भक्तियोग-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें पातञ्जलयोगदर्शन ध्यानयोगका और नारदसूत्र तथा शाण्डिल्यसूत्र भक्तियोगके प्रधान ग्रन्थ हैं। अवश्य ही इनमें कुछ मतभेद है परन्तु इन ग्रन्थोंमें भक्तियोगका ही प्रतिपादन है। इन ग्रन्थोंको मनन करनेसे भक्तियोगका बहुत कुछ पता लग सकता है।

बहुत विस्तारसे न लिखकर मैंने श्रीगीताजीके कुछ श्लोकोंको उद्धृत कर तथा कुछकी केवल संख्या ही बतलाकर पाठकोंसे सङ्केतमात्र कर दिया है। यदि कोई सज्जन इन श्लोकोंके अर्थका मनन कर उसके अनुसार चलना आरम्भ कर दें तो मेरी सम्मतिमें उनको परम कल्याण मोक्षकी प्राप्ति बहुत ही सुगमतासे हो सकती है।

भगवान् क्या हैं ?

भगवान् क्या हैं ? इस सम्बन्धमें मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ वह मेरे अपने निश्चयकी बात है, हो सकता है कि मेरा निश्चय ठीक न हो, मैं यह नहीं कहता कि दूसरोंका निश्चय ठीक नहीं है, परन्तु मुझे अपने निश्चयमें कोई सन्देह नहीं है। मैं इस विषयमें संशयात्मा नहीं हूँ तथापि दूसरोंके निश्चयको गलत बतानेका मुझे कोई अधिकार नहीं है।

भगवान् क्या हैं ? इन शब्दोंका वास्तविक उत्तर तो यही है कि इस बातको भगवान् ही जानते हैं। इसके सिवा भगवान्के विषयमें उन्हें तत्त्वसे जाननेवाला ज्ञानी पुरुष उनके तटस्थ अर्थात् नजदीकका कुछ भाव बतला सकता है। वास्तवमें तो भगवान्के स्वरूपको भगवान् ही जानते हैं, तत्त्वज्ञ लोग संकेतके रूपमें भगवान्के स्वरूपका कुछ वर्णन कर सकते हैं; परन्तु जो कुछ जानने और वर्णन करनेमें आता है, वास्तवमें भगवान् उससे और भी विलक्षण हैं। वेद, शास्त्र और मुनि, महात्मा परमात्माके सम्बन्धमें सदासे कहते ही आ रहे हैं, किन्तु उनका वह कहना आजतक पूरा नहीं हुआ। अबतकके उनके सब वचनोंको मिलाकर या अलग-अलग कर, कोई परमात्माके वास्तविक स्वरूपका वर्णन

वात्सल्य और सौहार्द आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होगा, यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।'

'अतएव सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो; मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

कैसा दिव्य उपदेश है। इसके सिवा ध्यानयोग और भक्तियोग-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें पातञ्जलयोगदर्शन ध्यानयोगका और नारदसूत्र तथा शाण्डिल्यसूत्र भक्तियोगके प्रधान ग्रन्थ हैं। अवश्य ही इनमें कुछ मतभेद है परन्तु इन ग्रन्थोंमें भक्तियोगका ही प्रतिपादन है। इन ग्रन्थोंको मनन करनेसे भक्तियोगका बहुत कुछ पता लग सकता है।

बहुत विस्तारसे न लिखकर मैंने श्रीगीताजीके कुछ श्लोकोंको उद्धृत कर तथा कुछकी केवल संख्या ही बतलाकर पाठकोंसे सङ्केतमात्र कर दिया है। यदि कोई सज्जन इन श्लोकोंके अर्थका मनन कर उसके अनुसार चलना आरम्भ कर दें तो मेरी सम्मतिमें उनको परम कल्याण मोक्षकी प्राप्ति बहुत ही सुगमतासे हो सकती है।

उसका लक्ष्य वृक्षकी ओरसे होकर चन्द्रमातक चला जाता है और वह चन्द्रमाको देख लेता है। वास्तवमें न तो वह उसकी आँखमें घुसकर ही देखता है और न चन्द्रमा उस वृक्षसे चार अंगुल ऊँचा ही है और न चन्द्रमण्डल जितना छोटा वह देखता है उतना छोटा ही है। परन्तु लक्ष्य बँध जानेसे वह उसे देख लेता है। कोई-कोई द्वितीयाके चन्द्रमाका लक्ष्य करानेके लिये सरपतसे बतलाते हैं, कोई इससे भी अधिक लक्ष्य करनेके लिये चूनेसे लकीर खींचकर या चित्र बनाकर उसे दिखाते हैं, परन्तु वास्तवमें चन्द्रमाके वास्तविक स्वरूपसे इनकी कुछ भी समता नहीं है। न तो इनमें चन्द्रमाका प्रकाश ही है, न यह उतने बड़े ही हैं और न इनमें चन्द्रमाके अन्य गुण ही हैं। इसी प्रकार लक्ष्यके द्वारा देखनेपर भगवान् देखे या जाने जा सकते हैं। वास्तवमें लक्ष्य और उनके असली स्वरूपमें वैसा ही अन्तर है कि जैसा चन्द्रमा और उसके लक्ष्यमें चन्द्रमाका स्वरूप तो शायद कोई योगी बता भी सकता है, परन्तु भगवान्का स्वरूप कोई भी बता नहीं सकता, क्योंकि यह वाणीका विषय नहीं है। वह तो जब प्राप्त होगा, तभी मालूम होगा। जिसको प्राप्त होगा वह भी उसे समझा नहीं सकेगा। यह तो असली स्वरूपकी बात हुई। अब यह बतलाना है कि साधकके लिये यह ध्येय या लक्ष्य किस प्रकारका होना चाहिये और वह किस प्रकार समझा जा सकता है। इस विषयमें महात्माओंसे सुनकर और शास्त्रोंको सुन और देखकर, मेरे अनुभवमें जो बातें निश्चयात्मकरूपसे जँची हैं, वही बतलायी जाती हैं। किसीकी इच्छा हो तो वह उन्हें काममें ला सकता है।

करना चाहे, तो उसके द्वारा भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता। अधूरा ही रह जाता है। इस विवेचनमें यह तो निश्चय हो गया कि भगवान् हैं अवश्य, उनके होनेमें रत्तीभर भी शङ्का नहीं है, यह एक निश्चय है। अतएव जो आदमी भगवान्‌को अपने मनसे जैसा समझकर साधन कर रहे हैं, उसमें परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं, परन्तु सुधार कर लेना चाहिये। वास्तवमें साधन करनेवालोंमें कोई भी भूलमें नहीं हैं या एक तरहसे सभी भूलमें हैं। जो परमात्माके लिये साधन करता है, वह उसीके मार्गपर चलता है, इसलिये कोई भूलमें नहीं हैं और भूलमें इसलिये हैं कि जिस किसी एक वस्तुको साध्य या ध्येय मानकर वे उसकी प्राप्तिका साधन करते हैं, उनके उस साध्य या ध्येयसे वास्तविक परमात्माका स्वरूप अत्यन्त ही विलक्षण है। जो जानने, मानने और साधन करनेमें आता है वह तो ध्येय परमात्माको बतानेवाला साङ्केतिक लक्ष्य है। इसलिये जहाँतक उस ध्येयकी प्राप्ति नहीं होती, वहाँतक सभी भूलमें हैं ऐसा कहा गया है। परन्तु इससे यह नहीं मानना चाहिये कि पहले भूलको ठीक करके फिर साधन करेंगे। ठीक तो कोई कर ही नहीं सकता, यथार्थ प्राप्तिके बाद आप ही ठीक हो जाता है। इससे पहले जो होता है, सो अनुमान होता है, और उस अनुमानसे जो कुछ किया जाता है वही उसकी प्राप्तिका ठीक उपाय है। जैसे एक आदमी द्वितीयाके चन्द्रमाको देख चुका है, वह दूसरे न देखनेवालोंको इशारेसे बतलाता है कि तू मेरी नजरसे देख, उस वृक्षसे चार अंगुल ऊँचा चन्द्रमा है। इस कथनसे

उसका लक्ष्य वृक्षकी ओरसे होकर चन्द्रमातक चला जाता है और वह चन्द्रमाको देख लेता है। वास्तवमें न तो वह उसकी आँखमें घुसकर ही देखता है और न चन्द्रमा उस वृक्षसे चार अगुल ऊँचा ही है और न चन्द्रमण्डल जितना छोटा वह देखता है उतना छोटा ही है। परन्तु लक्ष्य बँध जानेसे वह उसे देख लेता है। कोई-कोई द्वितीयाके चन्द्रमाका लक्ष्य करानेके लिये सरपतसे बतलाते हैं, कोई इससे भी अधिक लक्ष्य करनेके लिये चूनेसे लकीर खींचकर या चित्र बनाकर उसे दिखाते हैं, परन्तु वास्तवमें चन्द्रमाके वास्तविक स्वरूपसे इनकी कुछ भी समता नहीं है। न तो इनमें चन्द्रमाका प्रकाश ही है, न यह उतने बड़े ही हैं और न इनमें चन्द्रमाके अन्य गुण ही हैं। इसी प्रकार लक्ष्यके द्वारा देखनेपर भगवान् देखे या जाने जा सकते हैं। वास्तवमें लक्ष्य और उनके असली स्वरूपमें वैसा ही अन्तर है कि जैसा चन्द्रमा और उसके लक्ष्यमें चन्द्रमाका स्वरूप तो शायद कोई योगी बता भी सकता है, परन्तु भगवान्का स्वरूप कोई भी बता नहीं सकता; क्योंकि यह वाणीका विषय नहीं है। वह तो जब प्राप्त होगा, तभी मालूम होगा। जिसको प्राप्त होगा वह भी उसे समझा नहीं सकेगा। यह तो असली स्वरूपकी बात हुई। अब यह बतलाना है कि साधकके लिये यह ध्येय या लक्ष्य किस प्रकारका होना चाहिये और वह किस प्रकार समझा जा सकता है। इस विषयमें महात्माओंसे सुनकर और शास्त्रोंको सुन और देखकर, मेरे अनुभवमें जो बातें निश्चयात्मकरूपसे जँची हैं, वही बतलायी जाती हैं। किसीकी इच्छा हो तो वह उन्हें काममें ला सकता है।

परमात्माके असली स्वरूपका ध्यान तो वास्तवमें बन नहीं सकता। जबतक नेत्रोंसे, मनसे और बुद्धिसे परमात्माके स्वरूपका अनुभव न हो जाय, तबतक जो ध्यान किया जाता है, वह अनुमानसे ही होता है। महात्माओंके द्वारा सुनकर, शास्त्रोंमें पढ़कर, चित्रादि देखकर साधन करनेसे साधकको परमात्माके दर्शन हो सकते हैं। पहले यह बात कही जा चुकी है कि जो परमात्माका जिस प्रकार ध्यान कर रहे हैं, वे वैसा ही करते रहें, परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं। कुछ सुधारकी आवश्यकता अवश्य है।

ध्यान कैसे करना चाहिये ?

कुछ लोग निराकार शुद्ध ब्रह्मका ध्यान करते हैं, कुछ साकार दो भुजावाले और कुछ चतुर्भुजधारी भगवान् विष्णुका ध्यान करते हैं, वास्तवमें भगवान् विष्णु, राम और कृष्ण जैसे एक हैं, वैसे ही देवी, शिव, गणेश और सूर्य भी उनसे कोई भिन्न नहीं। ऐसा अनुमान होता है कि लोगोंकी भिन्न-भिन्न धारणाके अनुसार एक ही परमात्माका निरूपण करनेके लिये, श्रीवेदव्यासजीने अठारह पुराणों-की रचना की है, जिस देवके नामसे जो पुराण बना, उसमें उसीको सर्वोपरि, सृष्टिकर्ता, सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर बतलाया गया। वास्तवमें नाम-रूपके भेदसे सबमें उस एक ही परमात्माकी बात कही गयी है। नाम-रूपकी भावना साधक अपने इच्छानुसार कर सकते हैं, यदि कोई एक स्तम्भको ही परमात्मा मानकर उसका ध्यान करे तो वह भी परमात्माका ही ध्यान होता है, अवश्य ही उसमें ईश्वरका पूर्ण भाव होना चाहिये।

साकार और निराकारके ध्यानमें साकारकी अपेक्षा निराकारका ध्यान कुछ कठिन है, फल दोनोंका एक ही है, केवल साधनमें भेद है। अतएव अपनी-अपनी प्रीतिके अनुसार साधक निराकार या साकारका ध्यान कर सकते हैं।

निराकारके उपासक साकारके भावको साथमें न रखकर केवल निराकारका ही ध्यान करें, तो भी कोई आपत्ति नहीं, परन्तु साकारका तत्त्व समझकर परमात्माको सर्वदेशी, विश्वरूप मानते हुए निराकारका ध्यान करें तो फल शीघ्र होता है। साकारका तत्त्व न समझनेसे कुछ विलम्बसे सफलता होती है।

साकारके उपासकको निराकार, व्यापक ब्रह्मका तत्त्व जाननेकी आवश्यकता है, इसीसे वह सुगमतापूर्वक शीघ्र सफलता प्राप्त कर सकता है। भगवान्ने गीतामें प्रभाव समझकर ध्यान करनेकी ही बड़ाई की है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२।२)

'हे अर्जुन! मेरेमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन, ध्यानमें लगे हुए * जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मेरेको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ।'

---

* अर्थात् गीता अध्याय ११।५५ में बताये हुए प्रकारसे निरन्तर मेरेमें लगे हुए।

वास्तवमें निराकारके प्रभावको जानकर जो साकारका ध्यान किया जाता है, वही भगवान्की शीघ्र प्राप्तिके लिये उत्तम और सुगम साधन है। परन्तु परमात्माका असली स्वरूप इन दोनोंसे ही विलक्षण है जिसका ध्यान नहीं किया जा सकता। निराकारके ध्यान करनेकी कई युक्तियाँ हैं। जिसको जो सुगम मालूम हो, वह उसीका अभ्यास करे। सबका फल एक ही है। कुछ युक्तियाँ यहाँपर बतलायी जाती हैं।

साधकको श्रीगीताके अध्याय ६। ११ से १३ के अनुसार एकान्त स्थानमें स्वस्तिक या सिद्धासनसे बैठकर, नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखकर या आँखें मूँदकर (अपनी इच्छानुसार) नियमपूर्वक प्रतिदिन कम-से-कम तीन घंटेका समय ध्यानके अभ्यासमें बिताना चाहिये। तीन घंटे कोई न कर सके तो दो करे, दो नहीं तो एक घंटे अवश्य ध्यान करना चाहिये। शुरू-शुरूमें मन न लगे तो पंद्रह-बीस मिनिटसे आरम्भ कर धीरे-धीरे ध्यानका समय बढ़ाता रहे। बहुत शीघ्र प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले साधकोंके लिये तीन घंटेका अभ्यास आवश्यक है। ध्यानमें नाम-जपसे बड़ी सहायता मिलती है। ईश्वरके सभी नाम समान हैं, परन्तु निराकारकी उपासनामें ॐकार प्रधान है। योगदर्शनमें भी महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्।
(१। २७-२८)

'उसका वाचक प्रणव (ॐ) है, उस प्रणवका जप करना और उसके अर्थ (परमात्मा) का ध्यान करना चाहिये।'

इन सूत्रोंका मूल आधार—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।' (योग० १ । २३) है । इसमें भगवान्की शरण होनेको और उन दोनोंमेंसे पहलेमें भगवान्का नाम बतलाकर, दूसरेमें नाम-जप और स्वरूपका ध्यान करनेकी बात कही गयी है ।

महर्षि पतञ्जलिके परमेश्वरके स्वरूपसम्बन्धी अन्य विचारोंके सम्बन्धमें मुझे यहाँपर कुछ नहीं कहना है । यहाँपर मेरा अभिप्राय केवल यही है कि ध्यानका लक्ष्य ठीक करनेके लिये पतञ्जलिजीके कथनानुसार स्वरूपका ध्यान करते हुए नामका जप करना चाहिये । ॐकी जगह कोई 'आनन्दमय' या 'विज्ञानानन्दघन' ब्रह्मका जप करे तो भी कोई आपत्ति नहीं है । भेद नामोंमें है, फलमें कोई फर्क नहीं है ।

जप सबसे उत्तम वह होता है, जो मनसे होता है, जिसमें जीभ हिलाने और ओष्ठसे उच्चारण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती । ऐसे जपमें ध्यान और जप दोनों साथ ही हो सकते हैं । अन्तःकरणके चार पदार्थोंमेंसे मन और बुद्धि दो प्रधान हैं । बुद्धिसे पहले परमात्माका स्वरूप निश्चय करके उसमें बुद्धि स्थिर कर ले, फिर मनसे उसी सर्वत्र परिपूर्ण आनन्दमयकी पुनः-पुनः आवृत्ति करता रहे । यह जप भी है और ध्यान भी । वास्तवमें आनन्दमयके जप और ध्यानमें कोई खास अन्तर नहीं है । दोनों काम एक साथ किये जा सकते हैं । दूसरी युक्ति श्वासके द्वारा जप करनेकी है । श्वासोंके आते और जाते समय कण्ठसे नामका जप करे, जीभ और ओष्ठको बंदकर श्वासके साथ नामकी आवृत्ति करता रहे,

यही प्राणजप है, इसको प्राणद्वारा उपासना कहते हैं । यह जप भी उच्च श्रेणीका है । यह न हो सके तो मनमें ध्यान करे और जीभसे उच्चारण करे, परन्तु मेरी समझसे इनमें साधकके लिये अधिक सुगम और लाभप्रद श्वासके द्वारा किया जानेवाला जप है। यह तो जपकी बात हुई, असलमें जप तो निराकार और साकार दोनों प्रकारके ध्यानमें ही होना चाहिये । अब निराकारके ध्यानके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है—

एकान्त स्थानमें स्थिर आसनसे बैठकर एकाग्र-चित्तसे इस प्रकार अभ्यास करे । जो कोई भी वस्तु इन्द्रिय और मनसे प्रतीत हो उसीको कल्पित समझकर उसका त्याग करता रहे । जो कुछ प्रतीत होता है, सो है नहीं । स्थूल शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कुछ भी नहीं हैं, इस प्रकार सबका अभाव करते-करते अन्तमें अभावकी पुरुषकी यह वृत्ति—(जिसे ज्ञान, विवेक और प्रत्यय भी कहते हैं, यह सब शुद्ध बुद्धिके कार्य हैं, यहाँपर बुद्धि ही इनका अधिकरण है, जिसके द्वारा परमात्माके स्वरूपका मनन होता है और प्रतीत होनेवाली प्रत्येक वस्तुमें यह नहीं है, यह नहीं है ऐसा अभाव हो जाता है, इसीको वेदोंमें 'नेति-नेति'—ऐसा नहीं, ऐसा भी नहीं—कहा है ।) अर्थात् सबको अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाती है । उस वृत्तिका त्याग करना नहीं पड़ता, स्वयमेव हो जाता है । त्याग करनेमें तो त्याग करनेवाला त्याज्य वस्तु और त्याग, यह त्रिपुटी आ जाती है । इसलिये त्याग करना नहीं बनता, त्याग हो जाता है । जैसे इन्धनके अभावसे अग्नि स्वयमेव शान्त हो जाती है, इसी प्रकार विषयोंके सर्वथा अभाव

से वृत्तियाँ भी सर्वथा शान्त हो जाती हैं। शेषमें जो बच रहता है, वही परमात्माका स्वरूप है। इसीको निर्वीज समाधि कहते हैं।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

(योग० १ । ५१)

यहाँपर यह शङ्का होती है कि त्यागके बाद त्यागी बचता है। वह अल्प है, परमात्मा महान् है, इसलिये बच रहनेवालेको ही परमात्माका स्वरूप कैसे कहा जाता है? बात ठीक है, परन्तु वह अल्प वहींतक है, जबतक वह एक सीमाबद्ध स्थानमें अपनेको मानकर बाकीकी सब जगह दूसरोंसे भरी हुई समझता है। दूसरी सब वस्तुओंका अभाव हो जानेपर, शेषमें बचा हुआ केवल एक तत्त्व ही 'परमात्मतत्त्व' है। संसारको जड़से उखाड़कर फेंक देनेपर परमात्मा आप ही रह जाते हैं। उपाधियोंका नाश होते ही सारा भेद मिटकर अपार एकरूप परमात्माका स्वरूप रह जाता है, वही सब जगह परिपूर्ण और सभी देश-कालमें व्याप्त है। वास्तवमें देश-काल भी उसमें कल्पित ही हैं। वह तो एक ही पदार्थ है, जो अपने ही आपमें स्थित है, जो अनिर्वचनीय है और अचिन्त्य है। जब चिन्तनका सर्वथा त्याग हो जाता है, तभी उस अचिन्त्य ब्रह्मका खजाना निकल पड़ता है, साधक उसमें जाकर मिल जाता है। जबतक अज्ञानकी आड़से दूसरे पदार्थ भरे हुए थे, तबतक वह खजाना अदृश्य था। अज्ञान मिटनेपर एक ही वस्तु रह जाती है, तब उसमें मिल जाना यानी सम्पूर्ण वृत्तियोंका शान्त होकर एक ही वस्तुका रह जाना निश्चित है।

यही प्राणजप है, इसको प्राणद्वारा उपासना कहते हैं । यह जप भी उच्च श्रेणीका है । यह न हो सके तो मनमें ध्यान करे और जीभसे उच्चारण करे, परन्तु मेरी समझसे इनमें साधकके लिये अधिक सुगम और लाभप्रद श्वासके द्वारा किया जानेवाला जप है। यह तो जपकी बात हुई, असलमें जप तो निराकार और साकार दोनों प्रकारके ध्यानमें ही होना चाहिये । अब निराकारके ध्यानके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है—

एकान्त स्थानमें स्थिर आसनसे बैठकर एकाग्र-चित्तसे इस प्रकार अभ्यास करे। जो कोई भी वस्तु इन्द्रिय और मनसे प्रतीत हो उसीको कल्पित समझकर उसका त्याग करता रहे । जो कुछ प्रतीत होता है, सो है नहीं । स्थूल शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कुछ भी नहीं हैं, इस प्रकार सबका अभाव करते-करते अभाव करनेवाले पुरुषकी यह वृत्ति-(जिसे ज्ञान, विवेक और प्रत्यय भी कहते हैं, यह सब शुद्ध बुद्धिके कार्य हैं, यहाँपर बुद्धि ही इनका अधिकरण है, जिसके द्वारा परमात्माके स्वरूपका मनन होता है और प्रतीत होनेवाली प्रत्येक वस्तुमें यह नहीं है, यह नहीं है, ऐसा अभाव हो जाता है, इसीको वेदमें 'नेति-नेति'—ऐसा भी नहीं, ऐसा भी नहीं—कहा है ।) अर्थात् दृश्यके अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाती है । उस वृत्तिका त्याग करना नहीं पड़ता, स्वयमेव हो जाता है । त्याग करनेमें तो त्याग करनेवाला, त्याज्य वस्तु और त्याग, यह त्रिपुटी आ जाती है । इसलिये त्याग करना नहीं बनता, त्याग हो जाता है । जैसे इन्धनके अभावमें अग्नि स्वयमेव शान्त हो जाती है, इसी प्रकार विषयोंके सर्वथा अभाव-

से वृत्तियाँ भी सर्वथा शान्त हो जाती हैं। शेषमें जो बच रहता है, वही परमात्माका स्वरूप है। इसीको निर्बीज समाधि कहते हैं।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

(योग० १ । ५१)

यहाँपर यह शङ्का होती है कि त्यागके बाद त्यागी बचता है। वह अल्प है, परमात्मा महान् है, इसलिये बच रहनेवालेको ही परमात्माका स्वरूप कैसे कहा जाता है? बात ठीक है, परन्तु वह अल्प वहींतक है, जबतक वह एक सीमाबद्ध स्थानमें अपनेको मानकर बाकीकी सब जगह दूसरोंसे भरी हुई समझता है। दूसरी सब वस्तुओंका अभाव हो जानेपर, शेषमें बचा हुआ केवल एक तत्त्व ही 'परमात्मतत्त्व' है। संसारको जड़से उखाड़कर फेंक देनेपर परमात्मा आप ही रह जाते हैं। उपाधियोंका नाश होते ही सारा भेद मिटकर अपार एकरूप परमात्माका स्वरूप रह जाता है, वही सब जगह परिपूर्ण और सभी देश-कालमें व्याप्त है। वास्तवमें देश-काल भी उसमें कल्पित ही हैं। वह तो एक ही पदार्थ है, जो अपने ही आपमें स्थित है, जो अनिर्वचनीय है और अचिन्त्य है। जब चिन्तनका सर्वथा त्याग हो जाता है, तभी उस अचिन्त्य ब्रह्मका खजाना निकल पड़ता है, साधक उसमें जाकर मिल जाता है। जबतक अज्ञानकी आड़से दूसरे पदार्थ भरे हुए थे, तबतक वह खजाना अदृश्य था। अज्ञान मिटनेपर एक ही वस्तु रह जाती है, तब उसमें मिल जाना यानी सम्पूर्ण वृत्तियोंका शान्त होकर एक ही वस्तुका रह जाना निश्चित है।

महाकाशसे घटाकाश तभीतक अलग है, जबतक घड़ा फूट नहीं जाता। घड़ेका फूटना ही अज्ञानका नाश होना है, परन्तु यह दृष्टान्त भी पूरा नहीं घटता। कारण, घड़ा फूटनेपर तो उसके टूटे हुए टुकड़े आकाशका कुछ अंश रोक भी लेते हैं, परन्तु यहाँ अज्ञानरूपी घड़ेके नाश हो जानेपर ज्ञानका जरा-सा अंश रोकने के लिये भी कोई पदार्थ नहीं बच रहता। मूल मिटते ही जगत्‌का सर्वथा अभाव हो जाता है। फिर जो बच रहता है, वही ब्रह्म है। उदाहरणार्थ जैसे, घटाकाश जीव है, महाकाश परमात्मा है। उपाधिरूपी घट नष्ट हो जानेपर दोनों एकरूप हो जाते हैं। एकरूप तो पहले भी थे, परन्तु उपाधि-भेदसे भेद प्रतीत होता था।

वास्तवमें आकाशका दृष्टान्त परमात्माके लिये सर्वदेशी नहीं है। आकाश जड है, परमात्मा जड नहीं। आकाश दृश्य है, परमात्मा दृश्य नहीं है। आकाश विकारी है, परमात्मा विकारशून्य है। आकाश अनित्य है, महाप्रलयमें इसका नाश होता है, परमात्मा नित्य है। आकाश शून्य है, उसमें सब कुछ समाता है, परमात्मा घन है, उसमें दूसरेका समाना सम्भव नहीं। आकाशसे परमात्मा अत्यन्त विलक्षण है। ब्रह्मके एक अंशमें माया है, जिसे अव्याकृत प्रकृति कहते हैं, उसके एक अंशमें महत्तत्त्व (समष्टि-बुद्धि) है, जिस बुद्धिसे सबकी बुद्धि होती है, उस बुद्धिके एक अंशमें अहंकार है, उस अहंकारके एक अंशमें आकाश, आकाशमें वायु, वायुमें अग्नि, अग्निमें जल और जलमें पृथ्वी। इस प्रकार प्रक्रियासे यह सिद्ध होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड मायाके एक अंशमें है और वह माया परमात्माके एक अंशमें है, इस न्यायसे आकाश तो

परमात्माकी तुलनामें अत्यन्त ही अल्प है, परन्तु इस अल्पताका पता परमात्माके जाननेपर ही लगता है। जैसे, एक आदमी स्वप्न देखता है। स्वप्नमें उसे दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात आदि समस्त पदार्थ भासते हैं, बड़ा विस्तार दीख पड़ता है, परन्तु आँख खुलते ही उस सारी सृष्टिका अत्यन्त अभाव हो जाता है, फिर पता लगता है कि वह सृष्टि तो अपने ही सकल्पसे अपने ही अन्तर्गत थी, जो मेरे अंदर थी वह अवश्य ही मुझसे छोटी वस्तु थी, मैं तो उससे बड़ा हूँ। वास्तवमें तो थी ही नहीं, केवल कल्पना ही थी, परन्तु यदि थी भी तो अत्यन्त अल्प थी, मेरे एक अंशमें थी, मेरा ही संकल्प था। अतएव मुझसे कोई भिन्न वस्तु नहीं थी। यह ज्ञान आँख खुलनेपर—जागनेपर होता है, इसी प्रकार परमात्माके सच्चे स्वरूपमें जागनेपर यह सृष्टि भी नहीं रहती। यदि कहीं रहती है ऐसा मानें, तो वह महापुरुषोंके कथनानुसार परमात्माके एक जरा-से अशमें और उसीके सकल्पमात्रमें रहती है।

इसलिये आकाशका दृष्टान्त परमात्मामें पूर्णरूपसे नहीं घटता। इतने ही अंशमें घटता है कि मनुष्यकी दृष्टिमें जैसे आकाश निराकार है, ब्रह्म वास्तवमें वैसे ही निराकार है। मनुष्यकी दृष्टिमें जैसे आकाशकी अनन्तता भासती है, वैसे ही ब्रह्म सत्य अनन्त है। मनुष्यकी दृष्टिसे समझानेके लिये आकाशका उदाहरण है। इन सब वस्तुओंका अभाव होनेपर प्राप्त होनेवाली चीज कैसी है, उसका स्वरूप कोई नहीं कह सकता, वह तो अत्यन्त विलक्षण है। सूक्ष्मभावके तत्त्वज्ञ सूक्ष्मदर्शी महात्मागण उसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

कहते हैं। वह अपार है, असीम है, चेतन है, ज्ञाता है, घन है, आनन्दमय है, सुखरूप है, सत् है, नित्य है। इस प्रकारके विशेषणोंसे वे विलक्षण वस्तुका निर्देश करते हैं। उसकी प्राप्ति हो जानेपर फिर कभी पतन नहीं होता। दुःख, क्लेश, दुर्गुण शोक, अल्पता, विक्षेप, अज्ञान और पाप आदि सब विकारोंकी सदाके लिये आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। एक सत्य, ज्ञान, बोध, आनन्दरूप ब्रह्मके भावुल्यकी जागृति रहती है। यह जागृति भी केवल समझानेके लिये ही है। वास्तवमें तो कुछ कहा नहीं जा सकता।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

(गीता १३। १२)

'वह आदिरहित परब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है।'

यदि ज्ञानका भोक्ता कहें तो कोई भोग नहीं है। यदि ज्ञानरूप या सुखरूप कहें तो कोई भोक्ता नहीं है। भोक्ता, भोग, भोग्य सब कुछ एक ही रह जाता है, वह एक ऐसी चीज है, जिसमें त्रिपुटी रहती ही नहीं। एक तो यह निराकारके ध्यानकी विधि है।

ध्यानकी दूसरी विधि

एकान्त स्थानमें बैठकर आँखें मूँदकर ऐसी भावना करे कि मानो सत् चित् आनन्दघनरूपी समुद्रकी अत्यन्त बाढ़ आ गयी है और मैं उसमें गहरा डूबा हुआ हूँ। आनन्द-विज्ञानानन्दघन समुद्रमें निमग्न हूँ। समस्त संसार परमात्माके संकल्पमें था, उसने संकल्प त्याग दिया, इससे मेरे सिवा सारे संसारका अभाव होकर

सर्वत्र एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह गये। मैं परमात्माका ध्यान करता हूँ तो परमात्माके सङ्कल्पमें मैं हूँ, मेरे सिवा और सबका अभाव हो गया। जब परमात्मा मेरा सङ्कल्प छोड़ देंगे, तब मैं भी नहीं रहूँगा, केवल परमात्मा ही रह जायँगे। यदि परमात्मा मेरा सङ्कल्प न त्याग कर मुझे स्मरण रक्खें तो भी बड़े आनन्दकी बात है। इस प्रकार भेदसहित निराकारकी उपासना करे।

इसमें साधनकालमें भेद है और सिद्धकालमें अभेद है, परमात्माने सङ्कल्प छोड़ दिया, बस एक परमात्मा ही रह गये। एक युक्ति यह है। इसके अतिरिक्त निराकारके ध्यानकी और भी कई युक्तियाँ हैं, उनमेंसे दो युक्तियाँ 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय' शीर्षक लेखमें बतलायी गयी हैं, वहाँ देखनी चाहिये। कहनेका अभिप्राय यह है कि निराकारका ध्यान दो प्रकारसे होता है—भेदसे और अभेदसे। दोनोंका फल एक अभेद परमात्माकी प्राप्ति ही है। जो लोग जीवको सदा अल्प मानकर परमात्मासे कभी उसका अभेद नहीं मानते, उनकी मुक्ति भी अल्प होती है, सदाके लिये वे मुक्त नहीं होते। उन्हें प्रलयकालके बाद वापस लौटना ही पड़ता है, इस मुक्तिवादसे वे ब्रह्मको प्राप्त हो करके भी अलग रह जाते हैं।

अब साकारके ध्यानके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है। साकारकी उपासनाके फल दोनों प्रकारके होते हैं। साधक यदि सद्योमुक्ति चाहता है, शुद्ध ब्रह्ममें एकरूपसे मिलना चाहता है तो उसमें मिल जाता है, उसकी सद्योमुक्ति हो जाती है, परन्तु यदि वह ऐसी इच्छा करता है कि मैं दास, सेवक या सखा बनकर भगवान्‌के

समीप निवासकर प्रेमानन्दका भोग करूँ या अथवा रहकर संसारमें भगवत्प्रेम-प्रचाररूप परम सेवा करूँ तो उसको सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य आदि मुक्तियोंमेंसे यथारुचि कोई-सी मुक्ति मिल जाती है और वह मृत्युके बाद भगवान्‌के परम नित्यधाममें चला जाता है। महाप्रलयतक नित्यधाममें रहकर अन्तमें परमात्मामें मिल जाता है या संसारका उद्धार करनेके लिये कारक पुरुष बनकर जन्म भी ले सकता है परन्तु जन्म लेनेपर भी वह किसी फँसावटमें नहीं फँसता। माया उसे किञ्चित् भी दुःख-कष्ट नहीं पहुँचा सकती, वह नित्य मुक्त ही रहता है। जिस नित्यधाममें ऐसा साधक जाता है वह परमधाम सर्वोपरि है, सबसे श्रेष्ठ है। उससे परे एक सच्चिदानन्दघन निराकार शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह सदासे है, सब लोकोंका नाश होनेपर भी वह बना रहता है। उसका स्वरूप कैसा है? इस बातको वही जानता है जो वहाँ पहुँच जाता है। वहाँ जानेपर सारी भूलें मिट जाती हैं। उसके सम्बन्धकी सम्पूर्ण भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ वहाँ पहुँचनेपर एक यथार्थ सत्यस्वरूपमें परिणत हो जाती हैं। महात्मागण कहते हैं कि वहाँ पहुँचे हुए भक्तोंको प्रायः वह सब शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जो भगवान्‌में हैं परन्तु वे भक्त भगवान्‌के सृष्टिकार्यके विरुद्ध उनका उपयोग कभी नहीं करते। उस महामहिम प्रभुके दास, सखा या सेवक बनकर जो उस परमधाममें सदा समीप निवास करते हैं वे सर्वदा उसकी आज्ञामें ही चलते हैं। गीताके अ० ८।२४ का श्लोक इस परमधाममें जानेवाले साधकके लिये ही है। बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद्‌में भी इस अर्चिमार्गका विस्तृत

वर्णन है। इस नित्यधामको ही सम्भवतः भगवान् श्रीकृष्णके उपासक गोलोक, भगवान् श्रीरामके उपासक साकेतलोक कहते हैं। वेदमें इसीको सत्यलोक और ब्रह्मलोक कहा है। (वह ब्रह्मलोक नहीं जिसमें ब्रह्माजी निवास करते हैं, जिसका वर्णन गीता अध्याय ८ के १६ वें श्लोकके पूर्वार्धमें है।) भगवान् साकार रूपसे अपने इसी नित्यधाममें विराजते हैं। साकार रूप मानकर नित्य परमधाम न मानना बड़ी भूलकी बात है।

भक्तोंके लिये भगवान् साकार कैसे बनते हैं ?

परमात्मा सत् चित् आनन्दघन नित्य अपार रूपसे सभी जगह परिपूर्ण हैं। उदाहरणके लिये अग्निका नाम लिया जा सकता है। अग्नि निराकार रूपसे सभी स्थानोंमें व्याप्त है, प्रकट करनेकी सामग्री एकत्र करके साधन करनेसे ही वह प्रकट हो जाती है। प्रकट होनेपर उसका व्यक्त रूप उतना ही लम्बा-चौडा दीख पड़ता है, जितना लकड़ी आदि पदार्थका होता है। इसी प्रकार गुप्तरूपसे सर्वत्र व्यापक अदृश्य सूक्ष्म निराकार परमात्मा भी भक्तके इच्छानुसार साकार रूपमें प्रकट होते हैं। वास्तवमें अग्निकी व्यापकताका उदाहरण भी एकदेशीय है, क्योंकि जहाँ केवल आकाश या वायुतत्त्व है, वहाँ अग्नि नहीं है परन्तु परमात्मा तो सब जगह परिपूर्ण है, परमात्माकी व्यापकता सबसे श्रेष्ठ और विलक्षण है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ परमात्मा न हो और संसारमें ऐसी भी कोई जगह नहीं कि जहाँ परमात्माकी माया न हो। जहाँ देश-काल हैं वहीं माया है। मायारूप सामग्रीको लेकर परमात्मा चाहे

जहाँ प्रकट हो सकते हैं। जहाँ जल है और शीतलता है, वहीं बर्फ जम सकती है। जहाँ मिट्टी और कुम्हार है, वहीं घड़ा बन सकता है। जल और मिट्टी तो शायद सब जगह न भी मिले परन्तु परमात्मा और उनकी माया तो संसारमें सभी जगह मिलती है, ऐसी स्थितिमें उनके प्रकट होनेमें कठिनता ही क्या है! भक्त-का प्रेम चाहिये।

हरि ब्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

निराकारकी व्यापकताका विचार तो सभी कर सकते हैं परन्तु साकार रूपसे तो भगवान् केवल भक्तको ही दीखते हैं। वे सर्वशक्तिमान् हैं, चाहे जैसे कर सकते हैं। एकको अनेकको या सबको एक साथ दर्शन दे सकते हैं, उनकी इच्छा है। भगवान् की यह इच्छा अज्ञकोंके लोककी तरह दोषयुक्त नहीं होती है। उनकी इच्छा विशुद्ध होती है। भक्तकी इच्छा भी भगवान्के भावानुसार ही होती है। भगवान्‌ने कहा है कि मैं भक्तके हृदयमें रहता हूँ। बात ठीक है। जैसे हम सबके शरीरमें निराकार रूपसे अग्नि स्थित है, उसी प्रकार भगवान् भी निराकार सत्, चित् आनन्दघनरूपसे सभीके हृदयमें स्थित हैं, परन्तु भक्तोंका हृदय शुद्ध होनेसे उसमें वे प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं, यही भक्त-हृदयकी विशेषता है। सूर्यका प्रतिबिम्ब काठ, पत्थर और दर्पणपर समान ही पड़ता है परन्तु स्वच्छ दर्पणमें तो वह दीखता है, काठ, पत्थरमें नहीं दीखता। इसी प्रकार भगवान् सबके हृदयमें रहनेपर भी अभक्तोंके काठ-सदृश अशुद्ध हृदयमें दिखलायी नहीं देते और भक्तोंके स्वच्छ

दर्पण-सदृश शुद्ध हृदयमें प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। भक्त ध्यानमें उन्हें जैसा समझता है, वैसे ही वे उसके हृदयमें बसते हैं।

महात्मा लोग कहा करते हैं कि जहाँ कीर्तन होता है वहाँ भगवान् स्वयं साकाररूपसे उपस्थित रहते हैं, कीर्तन करते हुए भक्तको साकाररूपमें दीखते भी हैं। यह नहीं समझना चाहिये कि यह केवल भक्तकी भावना ही है। वास्तवमें उसे सत्यरूपसे ही दीखते हैं। केवल प्रतीत होनेवाला तो मायाका कार्य है। भगवान् तो मायाशक्तिके प्रभु हैं। महापुरुषोंकी यह मान्यता सत्य है कि—

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

(आदिपु० १९। ३५)

यह हो सकता है कि भगवान् साकाररूपसे कीर्तनमें रहकर भी किसीको न दीखें, परन्तु वे कीर्तनमें स्वयं रहते हैं इस बातपर विश्वास करना ही श्रेयस्कर है।

जब भगवान् चाहे जहाँ, जिस रूपमें भक्तके इच्छानुसार प्रकट हो सकते हैं तब भक्त अपने भगवान्का किसी भी रूपमें ध्यान करे, फल एक ही होता है। मोरमुकुटधारी श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करे या धनुषबाणधारी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका करे। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान् श्रीविष्णुका ध्यान करे या विश्वरूप विराट् परमात्माका, बात एक ही है। जिस रूपका ध्यान करे उसीको पूर्ण मानकर करना चाहिये। इसी प्रकार जप भी अपनी रुचिके अनुसार ॐ, राम, कृष्ण, हरि, नारायण, शिव आदि किसी भी भगवन्नामका करे सबका फल एक ही है।

सगुणके ध्यानकी कुछ विधि 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' और 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय'* शीर्षक लेखोंमें है। वहाँ देख लेनी चाहिये।

अब यहाँ भगवान्‌के विश्वरूपके सम्बन्धमें कुछ कहना है। भगवान्‌ने अर्जुनको जो रूप दिखलाया था वह भी विश्वरूप था और वेदवर्णित भूर्भुव स्व–रूप यह ब्रह्माण्ड भी भगवान्‌का विश्वरूप है। दोनों एक ही बात है। सारा विश्व ही भगवान्‌का स्वरूप है। स्थावर-जङ्गम सबमें साक्षात् परमात्मा विराजमान हैं। समस्त विश्वको परमात्माका स्वरूप मानकर उसका सत्कार और सेवा करना ही विश्वरूप परमात्माका सत्कार और सेवा करना है। विश्वमें जो दोष या विकार हैं, वह सब परमात्माके स्वरूपमें नहीं हैं। ये सब बाजीगरकी क्रीड़ाके समान प्रतीतिमात्र हैं। नाम-रूप सब खेल है। भगवान् तो सदा अपने ही स्वरूपमें स्थित हैं। निराकाररूपसे तो परमात्मा बर्फमें जलकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण हैं, बर्फमें जलसे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं है। जलकी जगह बर्फका पिण्ड दीखता है, वास्तवमें कुछ है नहीं, इसी प्रकार उस शुद्ध ब्रह्ममें यह संसार दीखता है, वस्तुतः है नहीं।

सगुणरूपसे अग्निकी तरह अव्यक्त होकर व्यापक है, जो चाहे जब साकाररूपमें प्रकट हो सकता है, यही बात ऊपर कही गयी है, इसी व्यापक परमात्माको विष्णु कहते हैं, विष्णु शब्दका अर्थ ही व्यापक होता है।

---

* 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' और 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय' नामक दोनों लेख पुस्तकाकार गीताप्रेससे अलग भी मिल सकते हैं।

भगवान् गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त हैं और केवल सद्गुणसम्पन्न है

भगवान्‌में कोई भी गुण नहीं, वे गुणातीत हैं, बुरे भले सभी गुण उनमें हैं और उनमें केवल सद्गुण हैं, दुर्गुण हैं ही नहीं— ये तीनों ही बातें भगवान्‌के लिये कही जा सकती हैं। इस विषयको कुछ समझना चाहिये।

शुद्ध ब्रह्म निराकार चेतन विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी परमात्माका वास्तविक रूप सम्पूर्ण गुणोंसे सर्वथा अतीत है। जगत्‌के सारे गुण-अवगुण सत्, रज और तमसे बनते हैं। सत्, रज, तम तीनों गुण मायाके अन्तर्गत हैं, इसीसे उसका नाम त्रिगुणमयी माया है। इनमें सत्त्व उत्तम है, रज मध्यम है और तम अधम है। परमात्मा इस मायासे अत्यन्त विलक्षण, सर्वथा अतीत और गुणरहित है, इसीसे उसका नाम शुद्ध है अतएव वह गुणातीत है।

माया वास्तवमें है तो नहीं, यदि कहीं मानी जाय तो वह भी कल्पनामात्र है। यह मायाकी कल्पना परमात्माके एक अंशमें है। गुण-अवगुण सब मायामें है। इस न्यायसे सत्य, दया, त्याग, विचार और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि गुण और अवगुणोंसे युक्त यह सम्पूर्ण संसार उस परमात्मामें ही अध्यारोपित है। इसीसे सभी सद्गुण और दुर्गुण उसीमें आरोपित माने जा सकते हैं। इस स्थितिमें वह बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त कहा जा सकता है।

यह ब्रह्माण्ड जिसके अन्तर्गत है, वह मायाविशिष्ट ब्रह्म सृष्टिकर्ता ईश्वर शुद्ध ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, वह मायाको अपने अधीन

करके प्रादुर्भूत होता है, समय-समयपर अवतार धारण करता है, इसीसे उसे मायाविशिष्ट कहते हैं। गीतामें कहा है—

> अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
> प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
> (४।६)

जैसे अवतार होते हैं वैसे ही सृष्टिके आदिमें भी मायाको अपने अधीन करके ही भगवान् प्रकट होते हैं। इन्हींका नाम विष्णु है, ये आदिपुरुष विष्णु सर्वसत्त्वगुणसम्पन्न हैं। सत्त्वगुणकी मूर्ति हैं। सात्त्विक तेज, प्रभाव, सामर्थ्य, विभूति आदिसे विभूषित हैं। दैवी सम्पदाके गुण ही सत्त्वगुण हैं। शुद्ध सत्त्व ही उनका स्वरूप है। दुर्गुण तो रज और तममें रहते हैं, प्रेम सादृश्यता और समानतामें होता है, इसीसे जिस भक्तमें दैवी सम्पत्तिके गुण होते हैं वही भगवान्‌के दर्शनका उपयुक्त पात्र समझा जाता है। मायाविशिष्ट सगुण भगवान् मायाको साथ लेकर समय-समयपर अवतार धारण किया करते हैं। वे सर्वगुणसम्पन्न, शुद्ध, स्वतन्त्र, प्रभु और सर्वशक्तिमान् हैं। ऐसी कोई भी बात नहीं जो वे नहीं कर सकें। इसीलिये यद्यपि उन शुद्ध सत्त्वगुणरूप सगुण-साकार परमात्मामें रज और तम वास्तवमें नहीं रहते तथापि वह रज-तमका कार्य कर सकते हैं। भगवान् विष्णु दुष्टदमनरूप हिंसात्मक कार्य करते हुए दीख पड़ते हैं। मानव-दृष्टिसे उनमें हिंसा या तमकी प्रतीति होती है परन्तु वस्तुतः उनमें यह बात नहीं है। व्यापकारी होनेके कारण वे यथावश्यक

कार्य करते हैं । राजा जनक मुक्त पुरुष थे, परम सात्त्विक थे, परन्तु राजा होनेके कारण न्याय करना उनका काम था । चोरोंको वे दण्ड भी दिया करते थे । इसमें कोई दोषकी बात भी नहीं । माता अपने प्यारे बच्चेको शिक्षा देनेके लिये धमकाती और किसी समय आवश्यक समझकर हितभरे हृदयसे एक-आध थप्पड़ भी जमा देती है परन्तु ऐसा करनेमें उसकी दया ही भरी रहती है । इसी प्रकार दयानिधि न्यायकारी भगवान्‌का दण्डविधान भी दयासे युक्त ही होता है । धर्मानुकूल काम भी भगवान् है । भगवान्‌ने कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

(गीता ७ । ११)

धर्मयुक्त काम मैं हूँ, परन्तु पापयुक्त नहीं । भगवान् सत् हैं, सात्त्विक हैं, शुद्ध सत्त्व हैं । वे मायाकी शुद्धसत्त्वविद्यासे सम्पन्न हैं । जीव अविद्यासम्पन्न है । विद्यामें ज्ञान है, प्रकाश है, वहाँ अवगुण या अन्धकार ठहर ही कैसे सकता है ? अवगुण तो अविद्यामें रहते हैं । इस न्यायसे भगवान् केवल सद्गुणसम्पन्न हैं ।

ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि परमात्मा गुणातीत, गुणागुणयुक्त और केवल सत्त्वगुणसम्पन्न कहे जा सकते हैं ।

भगवान्‌का स्वरूप
और
निराकार-साकारकी एकता

शरीरके तीन भेद हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण । जो दीख पड़ता है सो स्थूल है, जो मरनेपर साथ जाता है वह सूक्ष्म है और जो मायामें लय हो जाता है वह कारण है । शरीरके ये

तीनों भेद नित्य भी देखे जाते हैं। जाग्रत्‌में स्थूल शरीर काम करता है, स्वप्नमें सूक्ष्म और सुषुप्तिमें कारण रहता है। इसी प्रकार परमात्माके भी तीन स्वरूप कहे जा सकते हैं। महाप्रलयमें रहनेवाला परमात्माका कारण स्वरूप है, सारा विश्व उसीमें लय होकर रहता है, उस समय केवल परमेश्वर और उनकी प्रकृति रहते हैं, सारे जीव प्रकृतिके अंदर लय हो जाते हैं। जीवमें भी प्रकृति-पुरुष दोनोंका अंश है। चेतनता परमात्माका अंश है और अज्ञान प्रकृतिका। मायाकी उपाधिके कारण महाप्रलयमें भी जीव मुक्त नहीं होते। उसके बाद सृष्टिके आदिमें फिर सोकर जाग उठनेके समान अपने-अपने कर्मफलानुरूप नाना रूपोंमें जाग उठते हैं। इस प्रकार महाप्रलयमें परमात्माका रूप कारण कहा जा सकता है।

परमात्माका सूक्ष्म रूप सब जगह रहता है, इसीका नाम आदिपुरुष है, सृष्टिका आदिकारण यही है, इसीका नाम पुरुषोत्तम, सृष्टिकर्ता ईश्वर है।

परमात्मा स्थूलरूपसे शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् विष्णु हैं, जो सदा नित्यधाममें विराजते हैं।

भक्तकी भावनाके अनुसार ही भगवान् बन जाते हैं। यह समस्त ब्रह्माण्ड परमात्माका शरीर है, इसीके अंदर अपना शरीर है, इस न्यायसे हम सब भी परमात्माके पेटमें हैं।

एक तत्त्वकी बात और समझनी चाहिये। जब आकाश निर्मल होता है सूर्य उगे हुए होते हैं, उस समय सूर्यके और अपने बीचमें आकाशमें कोई चीज नहीं दीखती, परन्तु वहाँ जल

रहता है। यह मानना पड़ेगा कि सूर्य और अपने बीचमें जल भरा हुआ है परन्तु वह दीखता नहीं; क्योंकि वह सूक्ष्म और परमाणुरूपमें रहता है, जब उसमें घनता आती है तब क्रमशः उसका रूप स्थूल होकर व्यक्त होने लगता है। सूर्यदेवके तापसे भाप बनती है, जब भाप घन होती है तब उसके बादल बन जाते हैं, फिर उनमें जलका सञ्चार होता है। पानीके बादल पहाड़परसे चले जाते हों, उस समय कोई वहाँ चला जाय तो वर्षा न होनेपर भी उसके कपड़े भींग जाते हैं। बादलमें जलकी घनता होनेपर बूँदें बन जाती हैं, और घनता होती है तो वही ओले बनकर बरसने लगता है। फिर वह ओले या बर्फ गर्मी पहुँचते ही गलकर पानी हो जाते हैं और अधिक गर्मी होनेपर उसीकी फिर भाप बन जाती है, भाप आकाशमें उड़कर अदृश्य हो जाती है और अन्तमें जल फिर उसी परमाणु अव्यक्त रूपमें परिणत हो जाता है। इस परमाणुरूपमें स्थित जलको—अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुको सहस्रगुण स्थूल दिखलानेवाले यन्त्रसे भी कोई नहीं देख सकता। पर जल रहता अवश्य है, न रहता तो आता कहाँसे ?

इस दृष्टान्तके अनुसार परमात्माका स्वरूप समझना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

> अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
> भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
> अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
> अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥
>
> (८। ३-४)

अर्जुनके सात प्रश्नोंमें छः प्रश्न ये थे कि ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत क्या है, अधिदैव क्या है और अधियज्ञ क्या है ? भगवान्‌ने उपर्युक्त श्लोकोंमें इनका यह उत्तर दिया कि अक्षर ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म है, शास्त्रोक्त त्याग कर्म है, नाश होनेवाले पदार्थ अधिभूत हैं, समष्टिप्राणरूपसे हिरण्यगर्भ द्वितीय पुरुष अधिदैव है और निराकार व्यापक विष्णु अधियज्ञ मैं हूँ ।

उपर्युक्त दृष्टान्तसे इसका दार्ष्टान्त इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) परमाणुरूप जलके स्थानमें—

शुद्ध सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्मा, जिसमें यह संसार न तो कभी हुआ और न है; जो केवल अतीत, परम अक्षर है ।

(२) भापरूप जल—

वही शुद्ध ब्रह्म अधियज्ञ निराकाररूपसे व्याप्त रहनेवाला मायाविशिष्ट ईश्वर ।

(३) बादल—

अधिदैव, सबका प्राणाधार हिरण्यगर्भ ब्रह्मा । सत्रह तत्त्वोंके समूहको सूक्ष्म कहते हैं, इनमें प्राण प्रधान है । सबके प्राण मिलकर समष्टिप्राण हो जाते हैं, यह समष्टिप्राण प्रलयमें भी रहता है, महाप्रलयमें नहीं । यह सत्रह तत्त्वोंका समूह हिरण्यगर्भ ब्रह्माका सूक्ष्म शरीर है ।

(४) जलकी भाप-कणोंकी बूँदें ।

जगत्‌के सब जीव ।

(५) वर्षा—

जीवोंकी क्रिया ।

(६) जलके ओले या बर्फ—

पञ्चभूतोंकी अत्यन्त स्थूल सृष्टि ।

इस सृष्टिका स्वरूप इतना स्थूल और विनाशशील है कि जरा-सा ताप लगते ही क्षणभरमें ओलोंके गलकर पानी हो जानेके सदृश तुरत गल जाता है । वहाँ ताप ज्ञानाग्निरूप वह प्रकाश है, जिसके पैदा होते ही स्थूल सृष्टिरूपी ओले तुरत गल जाते हैं ।

अज्ञान ही सरदी है । जितना अज्ञान होता है उतनी स्थूलता होती है और जितना ज्ञान होता है उतनी ही सूक्ष्मता होती है । जो पदार्थ जितना भारी होता है, वह उतना ही नीचे गिरता है, जितना हलका होता है उतना ही ऊपरको उठता है । अज्ञान ही बोझा है, जलके अत्यन्त स्थूल होनेपर जब वह बर्फ बन जाता है तभी उसे नीचे गिरना पड़ता है, इसी प्रकार अज्ञानके बोझसे स्थूल हो जानेपर जीवको गिरना पड़ता है ।

ज्ञानरूपी तापके प्राप्त होते ही संसारका बोझ उतर जाता है और जैसे तापसे गलकर जल बननेपर और भी ताप प्राप्त होने-से वह जल धूआँ या भाप होकर ऊपर उड़ जाता है, वैसे ही जीव भी ऊपर उठ जाता है ।

जीवात्मा खास ईश्वरका स्वरूप है, परंतु जडता या अज्ञान-से जब यह स्थूल हो जाता है तभी इसका पतन होता है । अज्ञान ही अधःपतनका कारण है और ज्ञान ही उत्थानका कारण है

जीवात्मा एक बार ध्येय सीमातक उठनेपर फिर नहीं गिरता। उसके ज्ञानमें सब कुछ परमेश्वर ही हो जाता है, वास्तवमें तत्त्वसे है तो एक ही। परमाणु, भाप, बादल, बूँद, ओले सब जल ही तो हैं।

इस न्यायसे सभी वस्तुएँ एक ही परमात्मतत्त्व हैं, इसलिये भगवान् चाहे जैसे, चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपसे प्रकट हो जाते हैं। इस बातका ज्ञान होनेपर साधकको सब जगह ईश्वर ही दीखते हैं। जलका तत्त्व समझ लेनेपर सब जगह जल ही दीखता है, वही परमाणुमें और वही ओलेमें। अव्यक्त सूक्ष्ममें भी वही और व्यक्त स्थूलमें भी वही। इसी प्रकार सूक्ष्म और स्थूलमें वही एक परमात्मा है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्।' यही निराकार साकारकी एकरूपता है।

अज्ञानसे अहंकार बढ़ता है जितना अहंकार अधिक होता है उतना ही वह सांसारिक वस्तुओंको अधिक ग्रहण करता है। जितना सांसारिक बोझ अधिक होगा उतना ही वह नीचे जायगा। गुण तीन हैं, इनमें तमोगुण सबसे भारी है, इसीसे तमोगुणी पुरुष नीचे जाता है। रजोगुण समान है इससे रजोगुणी बीचमें—मनुष्यादिमें रह जाता है। सत्त्वगुण हलका है, इससे सत्त्वगुणी परमात्माकी ओर ऊपरको उठता है—

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः'
'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः'
'अधो गच्छन्ति तामसाः'

हलकी चीज ऊपर तैरती है भारी डूब जाती है। आसुरी सम्पदा तमोगुणका स्वरूप है इसलिये वह नीचे ले जाती है, सत्त्वगुण हलका होनेसे ऊपरको उठाता है। दैवी सम्पदा ही सत्त्वगुण है,

यही ईश्वरकी सम्पत्ति है । यह सम्पत्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-ही-त्यों साधक ऊपर उठता है, यानी परमात्माके समीप पहुँचता है ।

इस तरहसे स्थूल और सूक्ष्ममें उस एक ही परमात्माको व्यापक समझना चाहिये ।

परमात्मा व्यापकरूपसे सबको देखते और जानते हैं ।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

(गीता १३ । १३)

वह ज्ञेय कैसा है ? सब ओरसे हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर तथा मुखवाला एवं सब ओरसे कानवाला है । ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह न हो, ऐसा कोई शब्द नहीं जिसे वह न सुनता हो, ऐसा कोई दृश्य नहीं जिसे वह न देखता हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वह न ग्रहण करता हो और ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ वह न पहुँचता हो ।

हम यहाँ प्रसाद लगाते हैं तो वह तुरंत खाता है । हम यहाँ स्तुति करते हैं तो वह सुनता है । हमारी प्रत्येक क्रियाको वह देखता है परन्तु हम उसे नहीं देख सकते । इसपर यह प्रश्न होता है कि एक ही पुरुषकी सब जगह सब इन्द्रियाँ कैसे रहती हैं ? आँख है, वहाँ नाक कैसे हो सकती है ? इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि यह बात तो ठीक है, परन्तु परमात्मा इससे विलक्षण है । वह कुछ अलौकिक शक्ति है, उसमें सब कुछ सम्भव है । मान लीजिये एक सोनेका ढेला है, उसमें कड़े, बाजूबंद, कण्ठी आदि सभी गहने सभी जगह हैं । जहाँ इच्छा हो

वहाँसे सब चीजें मिल सकती हैं, इसी प्रकार यह एक ऐसी वस्तु है जिसमें सब जगह सभी वस्तुएँ व्यापक हैं, सभी उसमेंसे मिल सकती हैं, यह सब जगहकी और सबकी बातोंको एक साथ सुन सकता है और सबको एक साथ देख सकता है।

स्वप्नमें आँख, कान, नाक आदि न होनेपर भी अन्तःकरण स्वयं सब क्रियाओंको आप ही करता और आप ही देखता-सुनता है। स्रष्टा, दर्शन और दृश्य सभी कुछ बन जाता है, इसी प्रकार ईश्वरीय शक्ति भी बड़ी विलक्षण है, वह सब जगह सब कुछ करनेमें सर्वथा समर्थ है। यही तो उसका ईश्वरत्व और विराट् स्वरूप है।

साकाररूप उस परमेश्वरका समस्त ब्रह्माण्ड शरीर है, जैसे बर्फ जलका शरीर है परन्तु उससे अलग नहीं है। इसी प्रकार क्या संसार भी वस्तुतः ऐसा ही है ? क्या शरीर भी परमात्मा है ?

इसके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि है भी और नहीं भी। इस शरीरकी कोई सेवा करता या आराम पहुँचाता है, तब मैं उसे अपनी सेवा और अपनेको आराम पहुँचता है, ऐसा मानता हूँ, परन्तु वस्तुतः मैं शरीर नहीं हूँ; मैं आत्मा हूँ, पर जबतक मैं इस साढ़े तीन हाथकी देहको 'मैं' मानता हूँ, तबतक यह मैं हूँ। इस स्थितिमें चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है सबको उसकी सेवा करनी चाहिये उसकी सेवा ही ईश्वरकी सेवा है संसारको सुख पहुँचाना ही परमात्माको सुख पहुँचाना है और जब मैं यह शरीर नहीं हूँ, तब यह ब्रह्माण्डरूपी शरीर भी ईश्वर नहीं है। यह अपना शरीर

है तभीतक वह उसका शरीर है । हम सब उसके अंश हैं, तो वह अंशी है । वास्तवमें अन्तमें हम आत्मा ही ठहरते हैं, शरीर नहीं । परन्तु जबतक ऐसा नहीं है तबतक इसी चालसे चलना चाहिये । यथार्थ ज्ञान होनेपर तो एक शुद्ध ब्रह्म ही रह जायगा ।

इस न्यायसे निराकार-साकार सब एक ही वस्तु है । जगत् परमेश्वरमें अध्यारोपित है । महात्मा लोग ऐसा ही कहते हैं । जैसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीतिमात्र है, वास्तवमें है नहीं । स्वप्नका संसार अपनेमें प्रतीत होता है, मृगतृष्णाका जल या आकाशमें तिरमिरे प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार परमात्मामें संसारकी प्रतीति होती है । इस बातको महात्मा पुरुष ही जानते हैं । जागनेपर जागनेवालेको ही स्वप्नके संसारकी असारताका यथार्थ ज्ञान होता है । जबतक यह बात जाननेमें नहीं आती तबतक उपाय करना चाहिये । उपाय यह है—

निराकार और साकार किसी भी रूपका ध्यान करनेपर जो एक ही परम वस्तु उपलब्ध होती है, उस परमेश्वरकी सब प्रकारसे शरण होकर इन्द्रिय और शरीरसे उसकी सेवा करना, मनसे उसे स्मरण करना, श्वाससे उसका नामोच्चारण करना, कानोंसे उसका प्रभाव सुनना और शरीरसे उसकी इच्छानुसार चलना यही उसकी सेवा है, यही असली भक्ति है और इसीसे आत्माका शीघ्र कल्याण हो सकता है ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

त्यागसे भगवत्-प्राप्ति

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥
(गीता ४। २०)

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥
(गीता १८। ११)

गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी मनुष्य त्यागके द्वारा परमात्माको प्राप्त कर सकता है। परमात्माको प्राप्त करनेके लिये 'त्याग' ही मुख्य साधन है। अतएव सात श्रेणियोंमें विभक्त करके त्यागके लक्षण संक्षेपमें लिखे जाते हैं।

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना। यह पहली श्रेणीका त्याग है।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग ।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे एवं रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना * । यह दूसरी श्रेणीका त्याग है ।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग ।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री-पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्-प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना । यह तीसरी श्रेणीका त्याग है ।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग ।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एव बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना इत्यादि जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं उन सबका त्याग करना † । यह चौथी श्रेणीका त्याग है ।

---

* यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म सयोगवश प्राप्त हो जाय जो कि स्वरूपसे तो सकाम हो, परन्तु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या कर्म उपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकसग्रहके लिये उसका कर लेना सकाम कर्म नहीं है ।

† यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीरसम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता

(५) संपूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खानपान इत्यादि जितने कर्तव्यकर्म हैं उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना।

(क) ईश्वर भक्तिमें आलसका त्याग।

अपने जीवनका परम कर्तव्य मानकर परम दयालु, सबके सुहृद्, परम प्रेमी अन्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और प्रेमकी रहस्यमयी कथाका श्रवण, मनन और पठन पाठन करना तथा आलस्यरहित होकर उनके परम पुनीत नामका उत्साहपूर्वक ध्यानसहित निरन्तर जप करना।

(ख) ईश्वर-भक्तिमें कामनाका त्याग।

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको क्षणभङ्गुर, नाशवान् और भगवान्की भक्तिमें बाधक समझकर किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये न तो भगवान्से प्रार्थना करना और न

हो या लोकदिखामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसर पर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है। क्योंकि स्त्री पुत्र और नौकर आदिके की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थ स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोक-मर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है।

मनमें इच्छा ही रखना। तथा किसी प्रकारका सकट आ जानेपर भी उसके निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना न करना अर्थात् हृदयमें ऐसा भाव रखना कि प्राण भले ही चले जायँ; परन्तु इस मिथ्या जीवनके लिये विशुद्ध भक्तिमें कलङ्क लगाना उचित नहीं है। जैसे भक्त प्रह्लादने पिताद्वारा बहुत सताये जानेपर भी अपने कष्टनिवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना नहीं की।

अपना अनिष्ट करनेवालोंको भी, 'भगवान् तुम्हारा बुरा करें' इत्यादि किसी प्रकारके कठोर शब्दोंसे सराप न देना और उनका अनिष्ट होनेकी मनमें इच्छा भी न रखना।

भगवान्‌की भक्तिके अभिमानमें आकर किसीको वरदानादि भी न देना, जैसे कि 'भगवान् तुम्हें आरोग्य करें', 'भगवान् तुम्हारा दु:ख दूर करें', 'भगवान् तुम्हारी आयु बढ़ावें' इत्यादि।

पत्र-व्यवहारमें भी सकाम शब्दोंका न लिखना अर्थात् जैसे 'अठे उठे श्रीठाकुरजी सहाय छै' 'ठाकुरजी बिक्री चलासी' 'ठाकुरजी वर्षा करसी' 'ठाकुरजी आराम करसी' इत्यादि सासारिक वस्तुओंके लिये ठाकुरजीसे प्रार्थना करनेके रूपमें सकाम शब्द मारवाड़ी समाजमें प्राय: लिखे जाते हैं। वैसे न लिखकर 'श्रीपरमात्मदेव आनन्द रूपसे सर्वत्र विराजमान हैं', 'श्रीपरमेश्वरका भजन सार है' इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना तथा इसके सिवा अन्य किसी प्रकारसे भी लिखने, बोलने आदिमें सकाम शब्दोंका प्रयोग न करना।

(ग) देवताओंके पूजनमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शास्त्र-मर्यादासे अथवा लोक-मर्यादासे पूजनेके योग्य देवताओं-

को पूजनेका नियत समय आनेपर उनका पूजन करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है एवं भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना परम कर्तव्य है ऐसा समझकर उत्साहपूर्वक विधिके सहित उनका पूजन करना एवं उनसे किसी प्रकारकी भी कामना न करना।

उनके पूजनके उद्देश्यसे रोकड़ बहीखाते आदिमें भी सकाम शब्द न लिखना अर्थात् जैसे मारवाड़ी समाजमें नये बसनेके दिन अथवा दीपमालिकाके दिन श्रीलक्ष्मीजीका पूजन करके 'श्रीलक्ष्मीजी लाभ मोकलो देसी' 'भण्डार भरपूर राखसी' 'ऋद्धि सिद्धि करसी' 'श्रीकालीजीके आसरे' 'श्रीगङ्गाजीके आसरे' इत्यादि बहुत-से सकाम शब्द लिखे जाते हैं वैसे न लिखकर 'श्रीलक्ष्मीनारायणजी सब जगह आनन्दरूपसे विराजमान हैं' तथा 'बहुत आनन्द और उत्साहके सहित श्रीलक्ष्मीजीका पूजन किया' इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना और नित्य रोकड़, नकल आदिके आरम्भ करनेमें भी उपर्युक्त रीतिसे ही लिखना।

(ग) माता पितादि गुरुजनोंकी सेवामें आलस्य और कामनाका त्याग।

माता, पिता, आचार्य एवं और भी जो पूजनीय पुरुष वर्ण, आश्रम, अवस्था और गुणोंमें किसी प्रकार भी अपनेसे बड़े हों उन सबकी सब प्रकारसे नित्य सेवा करना और उनको नित्य प्रणाम करना मनुष्यका परम कर्तव्य है, इस बातको हृदयमें रखते हुए आलस्यका सर्वथा त्याग करके, निष्काम भावसे उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार उनकी सेवा करनेमें तत्पर रहना।

(ङ) यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

पञ्च महायज्ञादि* नित्यकर्म एवं अन्यान्य नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञादिका करना तथा अन्न, वस्त्र, विद्या, औषध और धनादि पदार्थोंके दानद्वारा संपूर्ण जीवोंको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी और शरीरसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना तथा अपने धर्मका पालन करनेके लिये हर प्रकारसे कष्ट सहन करना, इत्यादि शास्त्रविहित कर्मोंमें इस लोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करके एवं अपना परम कर्तव्य मानकर श्रद्धासहित उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ ही उनका आचरण करना।

(च) आजीविकाद्वारा गृहस्थ निर्वाहके उपयुक्त कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

आजीविकाके कर्म जैसे वैश्यके लिये कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्यादि कहे हैं वैसे ही जो अपने-अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार शास्त्रमें विधान किये गये हों उन सबके पालनद्वारा संसारका हित करते हुए ही गृहस्थका निर्वाह करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है। इसलिये अपना कर्तव्य मानकर लाभ-

---

* पञ्च महायज्ञ यह हैं—देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषियज्ञ (वेदपाठ, सन्ध्या, गायत्रीजपादि), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्धादि), मनुष्ययज्ञ (अतिथि-सेवा) और भूतयज्ञ (बलिवैश्व)।

हानिको समान समझते हुए सब प्रकारकी कामनाओंका त्याग करके उत्साहपूर्वक उपर्युक्त कर्मोंका करना।*

(छ) शरीरसम्बन्धी कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शरीर-निर्वाहके लिये शास्त्रोक्त रीतिसे भोजन, वस्त्र और औषधादिके सेवनरूप जो शरीरसम्बन्धी कर्म हैं उनमें सब प्रकार के भोगविलासोंकी कामनाका त्याग करके एवं सुख, दुःख, लाभ, हानि और जीवन, मरण आदिको समान समझकर केवल भगवत् प्राप्तिके लिये ही योग्यताके अनुसार उनका आचरण करना।

पूर्वोक्त चार श्रेणियोंके त्यागसहित इस पाँचवीं श्रेणीके त्यागानुसार संपूर्ण दोषोंका और सब प्रकारकी कामनाओंका नाश होकर केवल एक भगवत् प्राप्तिकी ही तीव्र इच्छाका होना ज्ञानकी पहिली भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

---

* उपर्युक्त भावसे करनेवाले पुरुषके कर्म लोभसे रहित होनेके कारण उनमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आ सकता। क्योंकि आजीविकाके कर्मोंमें लोभ ही विशेषरूपसे पाप करानेका हेतु है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि 'गीताप्रेस गोरखपुर' से प्रकाशित साधारण भाषाटीका गीता अध्याय १८ श्लोक ४४ की टिप्पणीमें जैसे वैश्यके प्रति वाणिज्यके दोषोंका त्याग करनेके लिये विस्तारपूर्वक लिखा है उसी प्रकार अपने-अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार संपूर्ण कर्मोंमें सब प्रकारके दोषोंका त्याग करके केवल भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌के लिये निष्काम भाव से ही संपूर्ण कर्मोंका आचरण करे।

(६) संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग ।

धन, भवन और वस्त्रादि संपूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि सपूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषयभोगरूप पदार्थ हैं उन सबको क्षणभंगुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली संपूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना । यह छठी श्रेणीका त्याग है* ।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है । इसलिये उनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना

---

* सपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग तो तीसरी और पाँचवीं श्रेणीके त्यागमें कहा गया, परन्तु उपर्युक्त त्यागके होनेपर भी उनमें ममता और आसक्ति शेष रह जाती है । जैसे भजन, ध्यान और सत्सङ्गके अभ्याससे भरतमुनिका सपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग होनेपर भी हरिणमें और हरिणके पालन-रूप कर्ममें ममता और आसक्ति बनी रही । इसलिये ससारके संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिके त्यागको छठी श्रेणीका त्याग कहा है ।

और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्‌का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषय-भोग और व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता। एवं उनके द्वारा संपूर्ण कर्तव्य, कर्म भगवान्‌के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

इस प्रकार संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका त्याग होकर केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही विशुद्ध प्रेमका होना ज्ञानकी दूसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

(७) संसार, शरीर और संपूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग।

संसारके संपूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं ऐसा दृढ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और संपूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र

भी न रहना । यह सातवीं श्रेणीका त्याग है* ।

इस सातवीं श्रेणीके त्यागरूप पर-वैराग्यको † प्राप्त हुए पुरुषोंके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ संपूर्ण संसारसे अत्यन्त उपराम हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई सांसारिक स्फुरणा हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते, क्योंकि उनकी एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्यभावसे गाढ़ स्थिति निरन्तर बनी रहती है ।

इसलिये उनके अन्तःकरणमें संपूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर अहिंसा १, सत्य २, अस्तेय ३, ब्रह्मचर्य ४, अपैशुनता ५, लज्जा, अमानित्व ६,

* संपूर्ण संसारके पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका एवं ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर भी उनमें सूक्ष्म वासना और कर्तृत्व-अभिमान शेष रह जाता है इसलिये सूक्ष्म वासना और अहंभावके त्यागको सातवीं श्रेणीका त्याग कहा है ।

† पूर्वोक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है, परन्तु इस सातवीं श्रेणीके त्यागी पुरुषका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उसमें आसक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसके निश्चयमें एक परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं, इसलिये इस त्यागको पर-वैराग्य कहा है ।

१ मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना ।

२ अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना ।

३ चोरीका सर्वथा अभाव ।

४ आठ प्रकारके मैथुनोंका अभाव ।

५ किसीकी भी निन्दा न करना ।

६ सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना ।

निष्कामता, शौच१, सन्तोष २, तितिक्षा३, सत्सङ्ग, सेवा, यज्ञ, दान, तप ४, स्वाध्याय ५, शम ६, दम ७, विनय, आर्जव ८, दया ९, श्रद्धा १०, विवेक ११ वैराग्य १२, एकान्तवास, अपरिग्रह १३,

१ बाहर और भीतरकी पवित्रता (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी एवं यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको तो बाहरकी शुद्धि कहते हैं और राग, द्वेष तथा कपटादि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ और शुद्ध हो जाना, भीतरकी शुद्धि कहलाती है)।

२ तृष्णाका सर्वथा अभाव।

३ शीत उष्ण सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंका सहन करना।

४ स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहना।

५ वेद और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन।

६ मनका वशमें होना।

७ इन्द्रियोंका वशमें होना।

८ शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता।

९ दुःखियोंमें करुणा।

१० वेद, शास्त्र महात्मा गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षके सदृश विश्वास।

११ सत् और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान।

१२ ब्रह्मलोकतकके संपूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव।

१३ ममत्वबुद्धिसे संग्रहका अभाव।

समाधान १, उपरामता, तेज २, क्षमा ३, धैर्य ४, अद्रोह ५, अभय ६, निरहंकारता, शान्ति ७ और ईश्वरमें अनन्यभक्ति इत्यादि सद्गुणोंका आविर्भाव स्वभावसे ही हो जाता है।

इस प्रकार शरीरसहित संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

उपर्युक्त गुणोंमेंसे कितने ही तो पहिली और दूसरी भूमिकामें ही प्राप्त हो जाते हैं; परन्तु संपूर्ण गुणोंका आविर्भाव तो प्रायः तीसरी भूमिकामें ही होता है। क्योंकि यह सब भगवत्-प्राप्तिके अति समीप पहुँचे हुए पुरुषोंके लक्षण एवं भगवत्-स्वरूपके साक्षात् ज्ञानमें

१ अन्तःकरणमें संशय और विक्षेपका अभाव।

२ श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः पापाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

३ अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना।

४ भारी विपत्ति आनेपर भी अपनी स्थितिसे चलायमान न होना।

५ अपने साथ द्वेष रखनेवालोंमें भी द्वेषका न होना।

६ सर्वथा भयका अभाव।

७ इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्तःकरणमें नित्य-निरन्तर प्रसन्नताका रहना।

हेतु हैं। इसीलिये श्रीकृष्ण भगवान्ने प्रायः इन्हीं गुणोंको श्रीगीताजीके १३ वें अध्यायमें (श्लोक ७ से ११ तक) ज्ञानके नामसे तथा १६वें अध्यायमें (श्लोक १ से ३ तक) दैवी सम्पदाके नामसे कहा है।

तथा उक्त गुणोंको शास्त्रकारोंने सामान्य धर्म माना है। इसलिये मनुष्यमात्रका ही इनमें अधिकार है, अतएव उपर्युक्त सद्गुणोंका अपने अन्तःकरणमें आविर्भाव करनेके लिये सभीको भगवान्के शरण होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

उपसंहार

इस लेखमें सात श्रेणियोंके त्यागद्वारा भगवत् प्राप्तिका होना कहा गया है। उनमें पहिली ५ श्रेणियोंके त्यागतक तो ज्ञानकी प्रथम भूमिकाके लक्षण और छठी श्रेणीके त्यागतक दूसरी भूमिकाके लक्षण तथा सातवीं श्रेणीके त्यागतक तीसरी भूमिकाके लक्षण बताये गये हैं। उक्त तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर उसका इस क्षणभंगुर नाशवान् अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषका स्वप्नके संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता वैसे ही अज्ञाननिद्रासे जगे हुए पुरुषका भी मायाके कार्यरूप अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। यद्यपि लोकदृष्टिमें उस ज्ञानी पुरुषके शरीरद्वारा प्रारब्धसे संपूर्ण कर्म होते हुए दिखायी देते हैं एवं उन कर्मोंद्वारा संसारमें बहुत ही लाभ पहुँचता है। क्योंकि कामना, आसक्ति और कर्तृत्व-अभिमानसे रहित

होनेके कारण उस महात्माके मन, वाणी और शरीरद्वारा किये हुए आचरण लोकमें प्रमाणस्वरूप समझे जाते हैं और ऐसे पुरुषोंके भावसे ही शास्त्र बनते हैं, परन्तु यह सब होते हुए भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवको प्राप्त हुआ पुरुष तो इस त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है, इसलिये वह न तो गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और निद्रा आदिके प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा ही करता है । क्योंकि सुख-दु ख, लाभ-हानि, मान-अपमान और निन्दा-स्तुति आदिमें एव मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण आदिमें सर्वत्र उसका स्वभाव हो जाता है । इसलिये उस महात्माको न तो किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियकी निवृत्तिमें हर्ष होता है, न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है । यदि उस धीर पुरुषका शरीर किसी कारणसे शस्त्रोंद्वारा काटा भी जाय या उसको कोई अन्य प्रकारका भारी दुःख आकर प्राप्त हो जाय तो भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवमें अनन्यभावसे स्थित हुआ पुरुष उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता । क्योंकि उसके अन्त.करणमें संपूर्ण ससार मृगतृष्णाके जलकी भाँति प्रतीत होता है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीका भी होनापना नहीं भासता । विशेष क्या कहा जाय, वास्तवमें उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका भाव वह स्वयं ही जानता है । मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करनेके लिये किसीका भी

सामर्थ्य नहीं है । अतएव जितना शीघ्र हो सके अज्ञाननिद्रासे चेतकर उक्त सात श्रेणियोंमें चढ़ते हुए त्यागद्वारा परमात्माको प्राप्त करनेके लिये सत्पुरुषोंकी शरण ग्रहण करके उनके कथनानुसार साधन करनेमें तत्पर होना चाहिये । क्योंकि यह अति दुर्लभ मनुष्य शरीर बहुत जन्मोंके अन्तमें परम दयालु भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है । इसलिये नाशवान् क्षणभंगुर संसारके अनित्य भोगोंको भोगनेमें अपने जीवनका अमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहिये ।

शान्ति शान्ति शान्ति

हरिः ॐ तत्सत् हरि ॐ तत्सत् हरि ॐ तत्सत्

शरणागति

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६२)

मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य आत्यन्तिक आनन्दकी प्राप्ति है, आत्यन्तिक आनन्द परमात्मामें है। अतएव परमात्माकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये शास्त्रकारों और महात्माओंने अधिकारीके अनुसार अनेक उपाय और साधन बतलाये हैं परन्तु विचार करनेपर उन समस्त साधनोंमें परमात्माकी शरणागतिके समान सरल, सुगम, सुखसाध्य साधन अन्य कोई-सा भी नहीं प्रतीत होता। इसीलिये प्राय: सभी शास्त्रोंमें इसकी प्रशंसा की गयी है। श्रीमद्भगवद्गीता-में तो उपदेशका आरम्भ और पर्यवसान दोनों ही शरणागतिमें होते हैं। पहले अर्जुन **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (गीता २। ७) 'मैं आपका शिष्य हूँ, शरणागत हूँ, मुझे यथार्थ उपदेश दीजिये' ऐसा कहता है तब भगवान् उपदेशका आरम्भ करते हैं और अन्तमें उपदेशका उपसंहार करते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल मुझ एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर ।

इससे पहले भी भगवान्‌ने शरणागतिको जितना महत्त्व दिया है उतना अन्य किसी भी साधनाको नहीं दिया। जाति या आचरणसे कोई कैसा भी नीच या पापी क्यों न हो, भगवान्‌की शरणमात्रसे ही वह अनायास परमगतिको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९ । ३२)

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य शूद्रादि और पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं। श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥
(कठ० १ । २ । १६, १७)

यह अक्षर ही ब्रह्मस्वरूप है, यह अक्षर ही पररूप है, इस अक्षरको ही जानकर जो पुरुष जैसी इच्छा करता है, उसको वह ही प्राप्त होता है । इस अक्षरका आश्रय (शरण) श्रेष्ठ है । यह आश्रय सर्वोत्कृष्ट है, इस आश्रयको जानकर (वह) ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ।

महर्षि पतञ्जलि अन्यान्य सब उपायोंसे इसीको सुगम बतलाते हुए कहते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।

(योगदर्शन १ । २३)

ईश्वरकी शरणागतिसे समाधिकी प्राप्ति होती है । आगे चलकर पतञ्जलि इसका फल बतलाते हैं—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

(योगदर्शन १ । २९)

उस ईश्वरप्रणिधानसे परमात्माकी प्राप्ति और (साधनमें आनेवाले) सम्पूर्ण विघ्नोंका भी अत्यन्त अभाव हो जाता है ।

भगवान् श्रीरामने घोषणा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

(वा० रा० ६ । १८ । ३३)

यह तो प्रमाणोंका केवल दिग्दर्शनमात्र है । शास्त्रोंमें शरणागतिकी महिमाके असंख्य प्रमाण वर्तमान हैं । परन्तु विचारणीय विषय तो यह है कि शरणागति वास्तवमें किसे कहते हैं । केवल मुखसे कह देना कि 'हे भगवन् ! मैं आपके शरण हूँ'

शरणागतिका स्वरूप नहीं है । साधारणतया शरणागतिका अर्थ किया जाता है मन, वाणी और शरीरको सर्वतोभावसे भगवान्‌के अर्पण कर देना; परन्तु यह अर्पण भी केवल 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' कह देनेमात्रसे सिद्ध नहीं हो सकता । यदि इसीमें अर्पणकी सिद्धि होती तो अबतक न मालूम कितने भगवान्‌के शरणागत भक्त हो गये होते, इसलिये अब यह समझना चाहिये कि अर्पण किसे कहते हैं ।

शरण, आश्रय, अनन्यभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अवलम्बन, निर्भरता और आत्मसमर्पण आदि शब्द प्राय एक ही अर्थके बोधक हैं ।

एक परमात्माके सिवा किसीका किसी भी कालमें कुछ भी सहारा न समझकर लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर, शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही अपना परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्यभावसे, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना और भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए ही उनकी आज्ञानुसार समस्त कर्तव्य कर्मोंका नि स्वार्थभावसे केवल भगवान्‌के लिये ही आचरण करते रहना, यही 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्यशरण' होना है ।

इस शरणागतिमें प्रधानतः चार बातें साधकके लिये समझनेकी हैं ।

(१) सब कुछ परमात्माका समझकर उसके अर्पण करना।

(२) उसके प्रत्येक विधानमें परम सन्तुष्ट रहना ।

(३) उसकी आज्ञानुसार उसीके लिये समस्त कर्तव्य कर्म करना ।

(४) नित्य-निरन्तर स्वाभाविक ही उसका एकतार स्मरण रखना ।

इन चारोंपर कुछ विस्तारसे विचार कीजिये ।

सर्वस्व अर्पण

सब कुछ परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ घर-द्वार छोड़कर सन्यासी हो जाना या कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर कर्महीन हो बैठना नहीं है। सांसारिक वस्तुओंपर हमने भूलसे जो ममता आरोपित कर रक्खी है यानी उनमें जो अपनापन है उसे उठा देना। यही उसकी वस्तु उसके अर्पण कर देना है। वस्तु तो उसीकी है, हमसे छिन भी जाती हैं परन्तु हम उन्हें भ्रमसे अपनी मान लेते हैं, इसीसे छिननेके समय हमें रोना भी पड़ता है।

एक धनी सेठका बड़ा कारोबार है, उसपर एक मुनीम काम करता है। सेठने उसको ईमानदार और कर्तव्यपरायण समझकर सम्पत्तिकी रक्षा, व्यापारके सञ्चालन और नियमानुसार व्यवहार करनेका सारा भार सौंप रक्खा है। अब मुनीमका यही काम है कि वह मालिककी किसी भी वस्तुपर अपना किञ्चित् भी अधिकार न समझकर, किसीपर ममता या अहंकार न रखकर मालिककी आज्ञा और उसकी नियत की हुई विधिके अनुसार समस्त

शरणागतिका स्वरूप नहीं है । साधारणतया शरणागतिका अर्थ किया जाता है मन, वाणी और शरीरको सर्वतोभावसे भगवान्‌के अर्पण कर देना; परन्तु यह अर्पण भी केवल 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' कह देनेमात्रसे सिद्ध नहीं हो सकता । यदि इसीमें अर्पणकी सिद्धि होती तो अबतक न मालूम कितने भगवान्‌के शरणागत भक्त हो गये होते, इसलिये अब यह समझना चाहिये कि अर्पण किसे कहते हैं ।

शरण, आश्रय, अनन्यभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अवलम्बन, निर्भरता और आत्मसमर्पण आदि शब्द प्रायः एक ही अर्थके बोधक हैं ।

एक परमात्माके सिवा किसीका किसी भी कालमें कुछ भी सहारा न समझकर लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर, शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही अपना परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्यभावसे, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना और भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए ही उनकी आज्ञानुसार समस्त कर्तव्य कर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल भगवान्‌के लिये ही आचरण करते रहना, यही 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्यशरण' होना है ।

इस शरणागतिमें प्रधानतः चार बातें साधकके लिये समझनेकी हैं ।

यदि हम अपनी इस भूलको मिटाकर यह समझ लें कि जो कुछ है सो परमात्माका है, हम तो उसके सेवकमात्र हैं, उसकी सेवा करना ही हमारा धर्म है, तो वह परमात्मा हमें ईमानदार समझकर हमपर प्रसन्न होता है और हम उसकी कृपा और पुरस्कारके पात्र होते हैं। मायाके बन्धनसे छूटना ही सबसे बड़ा पुरस्कार है। जो कुछ है सो परमात्माका है, इस बुद्धिके आ जानेपर ममता चली जाती है और जो कुछ है सो परमात्मा ही है, इस बुद्धिसे अहंकार-का नाश हो जाता है—यानी एक परमात्माको ही जगत्‌का उपादान और निमित्त-कारण समझ लेनेसे उसमें ममता और अहंकार (मैं और मेरा) नष्ट हो जाता है। 'मैं-मेरा' ही बन्धन है, भगवान्‌-का शरणागत भक्त 'मैं-मेरा'के बन्धनसे मुक्त होकर परमात्मासे कहता है कि बस, केवल एक तू ही है और सब तेरा ही है।

यही अर्पण है, इस अर्पणकी सिद्धि हो जानेपर साधक बन्धनमुक्त हो जाता है, उसे किसी प्रकारकी कोई चिन्ता नहीं रहती। जो चिन्ता करता है, अपनेको बँधा हुआ मानता है, बन्धनसे मुक्ति चाहता है, वह वास्तवमें परमात्माके तत्त्वको जानकर उनके शरण नहीं हुआ। अपने उद्धारकी चिन्ता तो शरणागतिके साधकके चित्तसे भी चली जाती है। वास्तवमें बात भी यही है। शरण ग्रहण करनेपर भी यदि शरणागतको चिन्ता करनी पड़े तो वह शरण ही कैसी? जो जिसकी शरण होता है उसकी चिन्ता उस स्वामीको ही रहती है।

जो जाको शरणो गहै, ताकहँ ताकी लाज।
उलटै जल मछली चलै, बह्यो जात गजराज॥

कार्य बड़ी दक्षता, सावधानी और ईमानदारीके साथ करता रहे। करोड़ोंका लेन-देन करे, करोड़ोंकी सम्पत्तिपर मालिककी भाँति अपनी सँभाल रक्खे, मालिकके नामसे हस्ताक्षर करे परन्तु अपना कुछ भी न समझे। मूल-धन मालिकका, कारोबारमें होनेवाला मुनाफा मालिकका और नुकसानका उत्तरदायित्व भी मालिकका।

यदि वह मुनीम कहीं भूल प्रमाद या बेईमानीसे मालिकके धनको अपना समझकर अपने काममें लाना चाहे, मालिककी सम्पत्ति या नफेकी रकमपर अधिकार कर ले तो वह चोर, बेईमान या अपराधी समझा जाता है। न्यायालयमें मुकदमा चलाकर वह सम्पत्ति उससे छीन ली जाती है, उसे कठोर दण्ड मिलता है और उसके नामपर इतना कलङ्क लग जाता है जिससे वह सबमें अविश्वासी समझा जाकर सदाके लिये दुःखी हो जाता है। इसी प्रकार यदि मालिककी कोठीका भार सँभालकर वह काम करनेसे जी चुराता है मालिकके नियमोंको तोड़ता है तो भी वह अपराधी होता है, अतएव मुनीमके लिये यह दोनों ही बातें निषिद्ध हैं।

इसी तरह यह समस्त जगत् उस परमात्माका है, वही यावन्मात्र पदार्थोंका उत्पन्न करनेवाला, वही नियन्त्रणकर्ता, वही आधार और वही स्वामी है। उसीने हमको हमारे कर्मवश जैसी योनि, जो स्थिति मिलनी चाहिये थी उसीमें उत्पन्न कर अपनी कुछ वस्तुओंकी सँभाल और सेवाका भार दे दिया है और हमारे लिये कर्तव्यकी विधि भी बतला दी है परन्तु हमने भ्रमसे परमात्माके पदार्थोंको अपना मान लिया है, इसीलिये हमारी दुर्गति होती है।

यदि हम अपनी इस भूलको मिटाकर यह समझ लें कि जो कुछ है सो परमात्माका है, हम तो उसके सेवकमात्र हैं, उसकी सेवा करना ही हमारा धर्म है, तो वह परमात्मा हमें ईमानदार समझकर हमपर प्रसन्न होता है और हम उसकी कृपा और पुरस्कारके पात्र होते हैं। मायाके बन्धनसे छूटना ही सबसे बड़ा पुरस्कार है। जो कुछ है सो परमात्माका है, इस बुद्धिके आ जानेपर ममता चली जाती है और जो कुछ है सो परमात्मा ही है, इस बुद्धिसे अहंकार-का नाश हो जाता है—यानी एक परमात्माको ही जगत्का उपादान और निमित्त-कारण समझ लेनेसे उसमें ममता और अहंकार (मैं और मेरा) नष्ट हो जाता है। 'मैं-मेरा' ही बन्धन है, भगवान्-का शरणागत भक्त 'मैं-मेरा'के बन्धनसे मुक्त होकर परमात्मासे कहता है कि बस, केवल एक तू ही है और सब तेरा ही है।

यही अर्पण है, इस अर्पणकी सिद्धि हो जानेपर साधक बन्धनमुक्त हो जाता है, उसे किसी प्रकारकी कोई चिन्ता नहीं रहती। जो चिन्ता करता है, अपनेको बँधा हुआ मानता है, बन्धनसे मुक्ति चाहता है, वह वास्तवमें परमात्माके तत्त्वको जानकर उनके शरण नहीं हुआ। अपने उद्धारकी चिन्ता तो शरणागतिके साधकके चित्तसे भी चली जानी है। वास्तवमें बात भी यही है। शरण ग्रहण करनेपर भी यदि शरणागतको चिन्ता करनी पड़े तो वह शरण ही कैसी ? जो जिसकी शरण होता है उसकी चिन्ता उस स्वामीको ही रहती है।

जो जाको शरणो गहै, ताकहँ ताकी लाज।
उलटै जल मछली चलै, बह्यो जात गजराज॥

जब कबूतरके शरणापन्न हो जानेपर दया और शरणागत-वत्सलताके वशीभूत हो महाराज शिबि अपने शरीरका मांस देकर उसकी रक्षा कर सकते हैं तब वह परमेश्वर जो अनाथोंका नाथ है, दयाका अनन्त, अथाह सागर है, जगत्के इतिहासमें शरणागत-वत्सलताकी बड़ी-से-बड़ी घटना जिसकी शरणागत-वत्सलताके सामने सागरकी तुलनामें एक जलकणके सदृश भी नहीं है, क्या शरण होनेपर वह हमारी रक्षा और उद्धार न करेगा ! यदि इतनेपर हमारे मनमें अपने उद्धारकी चिन्ता होती है और हम अपनेको शरणागत भी समझते हैं तो यह हमारी मीठता है, हम शरणागतिका रहस्य ही नहीं समझते । वास्तवमें शरणागत भक्तको उद्धार होने-न-होनेसे मतलब ही क्या है ! वह तो अपने आपको मन-बुद्धिसहित उसके चरणोंमें समर्पितकर सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है, उसे उद्धारकी परवा ही क्यों होने लगी ! शरणागतिके रहस्यको समझनेवाले भक्तके लिये उद्धारकी चिन्ता करना तो दूर रहा, वह इस प्रसङ्गकी स्मृतिको भी पसंद नहीं करता । यदि भगवान् स्वयं कभी उसे उद्धारकी बात कहते हैं तो वह अपनी शरणागतिमें त्रुटि समझकर कम्पित और संकुचित होकर अपनेको धिक्कारता है । वह समझता है कि यदि मेरे मनमें कहीं मुक्तिकी इच्छा छिपी हुई न होती तो आज इस अप्रिय प्रसङ्गके लिये अवसर ही क्यों आता ! मुक्ति तो भगवत्प्रेमका पासँगमात्र है, उस प्रेम-धनको छोड़कर पासँगकी इच्छा करना अत्यन्त लज्जाका विषय है । मुक्तिकी इच्छाको कलङ्क समझकर और अपनी दुर्बलता तथा

नीचाशयताका अनुभवकर भगवान्‌पर अपना अविश्वास जानकर वह परमात्माके सामने एकान्तमें रोकर पुकार उठता है कि—

'हे प्रभो ! जबतक मेरे हृदयमें मुक्तिकी इच्छा बनी हुई है तबतक मैं आपका दास कहाँ ? मैं तो मुक्तिका ही गुलाम हूँ । आपको छोड़कर अन्यकी आशा करता हूँ, मुक्तिके लिये आपकी भक्ति करता हूँ। और इतनेपर भी अपनेको निष्काम प्रेमी शरणागत भक्त समझता हूँ । नाथ ! यह मेरा दम्भाचरण है । स्वामिन् ! दयाकर इस दम्भका नाश कीजिये । मेरे हृदयसे मुक्तिरूपी स्वार्थ-की कामनाका भी मूलोच्छेदकर अपने अनन्य प्रेमकी भिक्षा दीजिये । आप-सरीखे अनुपमेय दयामयसे कुछ माँगना अवश्य ही लड़कपन है, परन्तु आतुर क्या नहीं करता ?'

इस तरहसे शरणागत भक्त सब कुछ भगवदर्पण कर सब प्रकारसे निश्चिन्त हो रहता है ।

भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें सन्तोष

इस अवस्थामें जो कुछ होता है वह उसीमें सन्तुष्ट रहता है । प्रारब्धवश अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी लाभ-हानि सुख दुःखकी प्राप्ति होती है वह उसको परमात्माका दयापूर्ण विधान समझकर सदा समानभावसे सन्तुष्ट, निर्विकार और शान्त रहता है । गीतामें कहा है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥
(४ । २२)

अपने आप जो कुछ आ प्राप्त हो, उसमें ही सन्तुष्ट रहनेवाला हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत हुआ तथा मत्सरता अर्थात् ईर्ष्यासे रहित सिद्धि और असिद्धिमें समत्वभाववाला पुरुष कर्मोंको करके भी नहीं बँधता है।

वास्तवमें शरणागत भक्त इस तत्त्वको जानता है कि दैवयोगसे जो कुछ आ प्राप्त होता है वह ईश्वरके न्यायसङ्गत विधान और उसकी दयापूर्ण आज्ञासे होता है। इससे वह उसे परम सुहृद् प्रभुद्वारा भेजा हुआ इनाम समझकर आनन्दसे मस्तक झुकाकर ग्रहण करता है। जैसे कोई प्रेमी सज्जन अपने किसी प्रेमी न्यायकारी सुहृद् सज्जनके द्वारा किये हुए न्यायको अपनी इच्छाके प्रतिकूल फैसला होनेपर भी उस सज्जनकी न्यायपरायणता, विवेकबुद्धि, विचारशीलता, सौहार्द, पक्षपातहीनता और प्रेमपर विश्वास रखकर हर्षके साथ स्वीकार कर लेता है, इसी प्रकार शरणागत भक्त भगवान्के कड़े-से-कड़े विधानको सहर्ष सादर स्वीकार करता है; क्योंकि वह जानता है, मेरा सुहृद् अकारण करुणाशील भगवान् जो कुछ विधान करता है उसमें उसकी दया, प्रेम, न्याय और मेरा मङ्गलकामना भरी रहती है। वह भगवान्के किसी भी विधानपर कभी भूलकर भी मन मैला नहीं करता।

कभी-कभी भगवान् अपने शरणागत भक्तकी कठिन परीक्षा भी लिया करते हैं वे सब कुछ जानते हैं, तीनों कालकी कुछ भी बात उनसे छिपी हुई नहीं है तथापि भक्तके हृदयस्थ मान, अहंकार दूषण आदि मलोंको दूरकर उसे निर्मल बनाने और उसे पवित्र कर उसका परम हित करनेके लिये परीक्षाकी लीला किया करते हैं।

जो परमात्माके प्रेमी सज्जन शरणागतिके तत्त्वको समझ लेते हैं उन्हें तो कोई भी विषय अपने मनसे प्रतिकूल प्रतीत ही नहीं होता। बाजीगरकी कोई भी चेष्टा उसके झमूरेको अपने मनसे प्रतिकूल या दुःखदायक नहीं दीखती। वह अपने स्वामीकी इच्छाके अधीन होकर बड़े हर्षके साथ उसकी प्रत्येक क्रियाको स्वीकार करता है। इसी प्रकार भक्त भी भगवान्की प्रत्येक लीलामें प्रसन्न रहता है। वह जानता है कि यह सब मेरे नाथकी माया है। वे अद्भुत खिलाड़ी नाना प्रकारके खेल करते हैं। मुझपर तो उनकी अपार दया है जो उन्होंने अपनी लीलामें मुझे साथ रक्खा है—यह मेरा बड़ा सौभाग्य है जो मैं उस लीलामयकी लीलाओंका साधन बन सका हूँ, यों समझकर वह उसकी प्रत्येक लीलामें, उसके प्रत्येक खेलमें उसकी चातुरी और उसके पीछे उसका दिव्य दर्शनकर पद-पदपर प्रसन्न होता है। यह तो सिद्ध शरणागत भक्तकी बात है परन्तु शरणागतिका साधक भी प्रत्येक सुख-दुःखको उसका दया-पूर्ण विधान मानकर प्रसन्न होता है। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि सुखकी प्राप्तिमें तो प्रसन्न होना स्वाभाविक और युक्तियुक्त है परन्तु दुःखमें सुखकी तरह प्रसन्न होना कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषकी दृष्टिमें तो सुखकी प्राप्तिसे होनेवाली प्रसन्नता और शान्ति भी विकार ही है। वह तो पुण्य-पापवश प्राप्त होनेवाले अनुकूल या प्रतिकूल विषयजन्य सुख-दुःख दोनोंसे ही अतीत है, परन्तु साधनकालमें भी प्रसन्नता तो होनी ही चाहिये। जैसे कठिन रोगके समय बुद्धिमान् रोगी सद्-वैद्य-द्वारा दी हुई अत्यन्त कटु उपयोगी ओषधिका सहर्ष सेवन करता

है और वैद्यका बड़ा उपकार मानता है, इसी प्रकार निष्काम वैद्यरूप परम सुहृद् परमात्माद्वारा विधान किये हुए कर्मोंको सहर्ष स्वीकार करते हुए उसकी कृपा और सदाशयताके लिये ऋणी होकर सुखी होना चाहिये। भगवान्‌का प्रिय प्रेमी शरणागत भक्त महान् दु:खरूप फलको बड़े आनन्दके साथ भोगता हुआ पद-पदपर उसकी दयाका स्मरणकर परम प्रसन्न होता है। वह समझता है कि दयालु डाक्टर जैसे पके हुए फोड़ेमें चीरा देकर सड़ी हुई मवादको बाहर निकालकर उसे रोगमुक्त कर देता है, इसी प्रकार भगवान् भक्तके हितार्थ कभी-कभी कष्टरूपी चीरा लगाकर उसे निरोग बना देते हैं। इसमें उनकी दया ही भरी रहती है। यह समझकर भक्त अपने भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें परम सन्तुष्ट रहता है, वह दु:खसे उद्विग्न नहीं होता। और सुखकी स्पृहा नहीं करता '*दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:*।' (गीता २। ५६)

भगवान्‌की आज्ञानुसार कर्म

इसीलिये सुखकी इच्छा न रहनेके कारण वह आसक्ति या कामनावश कोई भी निषिद्ध कार्य नहीं कर सकता। उसका प्रत्येक कार्य ईश्वरकी आज्ञानुसार होता है। उसकी कोई भी क्रिया परमात्माकी इच्छाके प्रतिकूल नहीं होती; क्योंकि परमात्माकी इच्छामें ही वह अपनी इच्छा मिला देता है, वह अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रखता। जब कि एक साधारण दयालु सेवक भी अपने स्वामीके प्रतिकूल कोई कार्य करना नहीं चाहता, कभी भूलसे कोई विपरीत आचरण हो जाता है तो वह लज्जित-संकुचित होकर अपनी भूलपर अत्यन्त पश्चात्ताप करता है, तब भला निष्काम प्रेमभावसे शरणमें

आया हुआ श्रद्धालु ईश्वरभक्त परमात्माके प्रतिकूल किञ्चिन्मात्र कार्य भी कैसे कर सकता है ? जैसे सतीशिरोमणि पतिव्रता स्त्री अपने परम प्रिय पतिकी भृकुटीकी ओर ताकती हुई सदा-सर्वदा पतिके अनुकूल ही उसकी छायाके समान चलती है, उसी प्रकार ईश्वरप्रेमी शरणागत भक्त भगवदिच्छाका अनुसरण करता है, सब कुछ उसीका समझकर उसीके लिये कार्य करता है ।

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि जब ईश्वर सबके प्रत्यक्ष नहीं है तब ईश्वरकी आज्ञा या इच्छाका पता कैसे लगे ? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो शास्त्रोंकी आज्ञा ही एक प्रकारसे ईश्वरकी आज्ञा है; क्योंकि त्रिकालज्ञ भक्त ऋषियोंने भगवान्‌का अभिप्राय समझकर ही प्रायः शास्त्रोंका निर्माण किया है। दूसरे श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे ग्रन्थोंमें भगवदाज्ञा प्रत्यक्ष ही है । इसके सिवा भगवान् सर्व-व्यापी और सर्वान्तर्यामी होनेसे सबके हृदयमें सदा प्रत्यक्ष विद्यमान हैं । मनुष्य यदि स्वार्थ छोड़कर सरल जिज्ञासु-भावसे हृदयस्थित ईश्वरसे पूछे तो उसे साधारणतया यथार्थ उत्तर मिल ही जाता है । झूठ बोलने, चोरी करने या हिंसादि करनेके लिये किसीका भी हृदय सच्चे भावसे आज्ञा नहीं देता । यही भगवान्‌की इच्छाका सङ्केत है।

अन्तःकरणपर अज्ञानका विशेष आवरण होनेके कारण जिस प्रश्नके उत्तरमें शङ्कायुक्त जवाब मिले, जिसके निर्णय करनेमें हमारी बुद्धि समर्थ न हो, उस विषयमें धर्मके तत्त्वको जाननेवाले स्वार्थरहित सदाचारी पुरुषोंसे पूछकर निर्णय कर लेना चाहिये । जिस विषयमें अपने मनमें शङ्का न हो, उस विषयमें भी उत्तम पुरुषोंसे परामर्श कर लेना तो लाभदायक ही है; क्योंकि जबतक मनुष्य

परमात्माको तत्त्वसे नहीं जान लेता तबतक भ्रमसे कहीं-कहीं असत्यका सत्यके रूपमें प्रतीत हो जाना सम्भव है, इसलिये निर्णीत विषयोंको भी सत्पुरुषोंकी सम्मतिसे मार्जन कर लेना उचित है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर परमात्माका संकेत यथार्थ समझमें आने लगता है। फिर साधक जो कुछ करता है सो सब प्रायः ईश्वरके अनुकूल ही करता है।

यह देखा जाता है कि मालिककी इच्छानुसार चलनेवाला स्वामिभक्त सेवक जो सदा मालिकके इशारेके अनुसार काम करता है वह मालिकके भावको तनिक-से इशारेमात्रसे ही समझ लेता है। जब साधारण मनुष्योंमें ऐसा होता है तब एक ईश्वरका शरणागत भक्त श्रद्धा, विश्वास और प्रेमके बलसे ईश्वरके तात्पर्यको समझने लगे, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

ईश्वरकी इच्छा समझनेके लिये एक बात और है। यह समझ लेना चाहिये कि ईश्वर सत्य, सर्वसुहृद् दयासागर, सबका आत्मा और सबके हितमें रत है। अतएव किसी भी जीवका किसी भी प्रकारसे किसी भी कालमें अहित या अनिष्ट करनेमें उसकी सम्मति नहीं हो सकती, इसलिये जिस कार्यसे यथार्थरूपमें दूसरोंका हित होता हो, वही ईश्वरकी इच्छाके अनुकूल कार्य है और जिससे जीवोंका अनिष्ट होता हो, वह उसकी इच्छाके प्रतिकूल कार्य है।

कुछ लोग भ्रमवश शास्त्र या धर्मकी आड़ लेकर पराये अहित, अनिष्ट या हिंसा आदिको धर्म मान लेते हैं परन्तु ऐसा मानना अनुचित है। हिंसा और अहित कभी धर्म या ईश्वरका अभिप्रेत

नहीं हो सकता । अवश्य ही किसीके हितके लिये माता-पिता या गुरुद्वारा स्नेहभावसे अपने बालक या शिष्यको ताड़ना देनेके समान दण्ड आदि देना हिंसामें शामिल नहीं है ।

अतएव भक्त प्रत्येक कार्य भगवदिच्छाके अनुकूल ही करता है, जिससे वह कभी पाप या निषिद्ध कर्म तो कर ही नहीं सकता, उसका प्रत्येक कार्य स्वाभाविक ही सरल, सात्त्विक और लोक-हितकारी होता है, क्योंकि उसका संसारमें न कोई स्वार्थ है, न किसी वस्तुमें आसक्ति है और न किसी कालमें किसीसे उसे भय है।

शरणागत भक्तकी तो बात ही क्या है, भय और पाप तो उसके भी नहीं रहते जो ईश्वरका यथार्थरूपसे अस्तित्व (होनापन) ही मान लेता है । राजा या राजकर्मचारी निर्जन स्थान और अन्धकारमयी रात्रिमें सब जगह मौजूद नहीं रहते परन्तु राज्यकी सत्ताके कारण ही लोग प्राय. नियमविरुद्ध कार्य नहीं करते । राजकर्मचारी जहाँ रहता है वहाँ तो कानून तोड़ना बड़ा ही कठिन रहता है । जब राजसत्ताका यह प्रताप होता है तब सर्वशक्तिमान् परमात्माको जो सब जगह देखता है, उससे पाप कैसे बन सकते हैं ? ईश्वर सर्वव्यापी होनेके कारण सब जगह उनका रहना सिद्ध ही है । फिर भय भी किस बातका ? क्योंकि जब एक राजकर्मचारी साथ होनेपर भी कहीं चोरोंका भय नहीं रहता तब राजराजेश्वर भगवान् जिसके साथ हों उसके लिये भयकी सम्भावना ही कहाँ है ! जो अपनेको भक्त कहकर परिचय देते हुए भी पापोंमें फँसे रहते या बात-बातमें मृत्यु आदिका भय करते हैं वे यथार्थमें ईश्वरका अस्तित्व ही नहीं मानते । ईश्वरको माननेवाले तो नित्य निष्पाप और निर्भय रहते हैं ।

भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन

शरणागत साधकको यदि कोई भय रहता है तो वह इसी बातका रहता है कि कहीं उसके चित्तसे प्रियतम परमात्माकी विस्मृति न हो जाय। वास्तवमें वह कभी परमात्माको भूल भी नहीं सकता, क्योंकि परमात्माके चिन्तनका वियोग उससे क्षणमात्रके लिये भी सहा नहीं जाता *'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'* (*नारदभक्तिसूत्र १९*) सम्पूर्ण कर्म परमात्माके अर्पण करके प्रतिपल उसे स्मरण रखना और क्षणभरकी विस्मृतिसे मणिहीन सर्प या जलसे भिन्न हुई मछलीकी भाँति परम व्याकुल होकर तड़पने लगना उसका स्वभाव बन जाता है। उसकी दृष्टिमें एकमात्र परमात्मा ही उसका परम जीवन, परम धन, परम आश्रय, परम गति और परम लक्ष्य रह जाता है, प्रतिक्षण उसके नाम-गुणोंका चिन्तन करना, उसके प्रेममें ही तन्मय हो रहना, भावावेशमें मूकवत् स्तम्भित हो जाना, परम उल्लाससे प्रेममें झूमना यही उसकी जीवनचर्या बन जाती है।

> क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
> द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
> नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
> भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
> (श्रीमद्भा० ११।३।३२)

वे भक्तगण कभी उन अच्युतका चिन्तन करते हुए रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी आनन्दित होते हैं, कभी अलौकिक कथा कहने लगते हैं, कभी नाचते हैं कभी गाते हैं, कभी उन अजन्मा प्रभुकी लीलाओंका अनुकरण करते हैं और कभी परमानन्दको प्राप्त शान्त और चुप हो रहते हैं।

इस प्रकार परमात्माके शरणका तत्त्व जानकर वे भक्त भगवान्‌की तद्रूपताको प्राप्त हो जाते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(गीता ५ । १७)

'तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे परमेश्वरपरायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्ति अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं ।' ऐसे ही पुरुषोंके लिये भगवान्‌ने कहा है, मैं उसका अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है *'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥'* (गीता ७ । १७) उसमें मैं अदृश्य नहीं होता, वह मुझसे अदृश्य नहीं होता । *'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥'* (गीता ६ । ३०)

ऐसे पुरुषके द्वारा शरीरसे जो कुछ क्रिया होती है सो क्रिया नहीं समझी जाती । आनन्दमें मग्न हुआ वह भगवान्‌का शरणागत भक्त लीलामय भगवान्‌की आनन्दमयी लीलाका ही अनुकरण करता है, अतएव उसके कर्म भी लीलामात्रसे ही हैं । भगवान् कहते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
(गीता ६ । ३१)

'जो पुरुष एकीभावसे स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब

भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन

शरणागत साधकको यदि कोई भय रहता है तो वह यही भासता रहता है कि कहीं उसके चित्तसे प्रियतम परमात्माकी विस्मृति न हो जाय। वास्तवमें वह कभी परमात्माको भूल भी नहीं सकता, क्योंकि परमात्माके चिन्तनका वियोग उससे क्षणमात्रके लिये भी सहा नहीं जाता *'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'* (*नारदभक्तिसूत्र १९*) सम्पूर्ण कर्म परमात्माके अर्पण करके प्रतिपल उसे स्मरण रखना और क्षणभरकी विस्मृतिसे मणिहीन सर्प या जलसे निकली हुई मछलीकी भाँति परम व्याकुल होकर तड़पने लगना उसका स्वभाव बन जाता है। उसकी दृष्टिमें एकमात्र परमात्मा ही उसका परम जीवन, परम धन, परम आश्रय, परम गति और परम लक्ष्य रह जाता है, प्रतिक्षण उसके नाम-गुणोंका चिन्तन करना, उसके प्रेममें ही तन्मय हो रहना, बाह्यज्ञान भूलकर उन्मत्त हो जाना, परम उल्लाससे प्रेममें झूमना यही उसकी जीवनचर्या बन जाती है।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(श्रीमद्भा० ११।३।३२)

वे भक्तगण कभी उन अच्युतका चिन्तन करते हुए रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी आनन्दित होते हैं, कभी अलौकिक वचन कहने लगते हैं, कभी नाचते हैं, कभी गाते हैं, कभी उन अजन्मा प्रभुकी लीलाओंका अनुकरण करते हैं और कभी परमानन्दको पाकर शान्त और चुप हो रहते हैं।

अनन्य प्रेम ही भक्ति है

अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिये भगवद्भक्तिके सदृश किसी भी युगमें अन्य कोई भी सुगम उपाय नहीं है। कलियुगमें तो है ही नहीं। परन्तु यह बात सबसे पहले समझनेकी है कि भक्ति किसे कहते हैं? भक्ति कहनेमें जितनी सहज है, करनेमें उतनी ही कठिन है। केवल बाह्याडम्बरका नाम भक्ति नहीं है। भक्ति दिखानेकी चीज नहीं, वह तो हृदयका परम गुप्त धन है। भक्तिका स्वरूप जितना गुप्त रहता है उतना ही वह अधिक मूल्यवान् समझा जाता है। भक्ति-तत्त्वका समझना बड़ा कठिन है। अवश्य ही उन भाग्यवानोंको इसके समझनेमें बहुत आयास या श्रम नहीं करना पड़ता, जो उस दयामय परमेश्वरके शरण हो जाते हैं। अनन्य शरणागत भक्तको भक्तिका तत्त्व परमेश्वर स्वयं समझा

देते हैं । एक बार भी जो सच्चे हृदयसे भगवान्की शरण हो जाता है, भगवान् उसे अभय कर देते हैं, यह उनका व्रत है ।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(वा० रा० ६ । १८ । ३३)

भगवान्की शरणागति एक बड़े ही महत्त्वका साधन है परन्तु उसमें अनन्यता होनी चाहिये । पूर्ण अनन्यता होनेपर भगवान्की ओरसे तुरंत ही इच्छित उत्तर मिलता है । विभीषण अत्यन्त आतुर होकर एकमात्र श्रीरामके आश्रयमें ही अपनी रक्षा समझकर श्रीरामकी शरण आता है । भगवान् राम उसे उसी क्षण अपना लेते हैं । कौरवोंकी राजसभामें सब तरफसे निराश होकर देवी द्रौपदी ज्यों ही अशरण-शरण श्रीकृष्णको स्मरण करती है त्यों ही चीर अनन्त हो जाता है । अनन्य शरणके यही उदाहरण हैं । यह शरणागति सांसारिक कष्ट-निवृत्तिके लिये थी । इसी भावसे भक्तोंको भगवान्के लिये ही भगवान्के शरणागत होना चाहिये । फिर तत्त्वकी उपलब्धि होनेमें विलम्ब नहीं होगा ।

यद्यपि इस प्रकार भक्तिका परम तत्त्व भगवान्की शरण होनेसे ही जाना जा सकता है तथापि शास्त्र और सत-महात्माओंकी उक्तियोंके आधारपर अपना अधिकार न समझते हुए भी अपने चित्तकी प्रसन्नताके लिये मैं जो कुछ लिख रहा हूँ इसके लिये भक्तजन मुझे क्षमा करें ।

परमात्मामें परम अनन्य विशुद्ध प्रेमका होना ही भक्ति कहलाता है । श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक जगह इसका विवेचन है, जैसे

'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।' (१३ । १०)

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।' (१४ । २६)

आदि । इसी प्रकारका भाव नारद और शाण्डिल्य-सूत्रोंमें पाया जाता है । अनन्य प्रेमका साधारण स्वरूप यह है—एक भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें किसी समय भी आसक्ति न हो, प्रेमकी मग्नतामें भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका ज्ञान ही न रहे । जहाँ-जहाँ मन जाय वहीं भगवान् दृष्टिगोचर हों । यों होते-होते अभ्यास बढ़ जानेपर अपने आपकी विस्मृति होकर केवल एक भगवान् ही रह जायँ । यही विशुद्ध अनन्य प्रेम है । परमेश्वरमें प्रेम करनेका हेतु केवल परमेश्वर या उनका प्रेम ही हो—प्रेमके लिये ही प्रेम किया जाय, अन्य कोई हेतु न रहे । मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और इस लोक तथा परलोकके किसी भी पदार्थकी इच्छाकी गन्ध भी साधकके मनमें न रहे, त्रैलोक्यके राज्यके लिये भी उसका मन कभी न ललचावे । स्वयं भगवान् प्रसन्न होकर भोग्य-पदार्थ प्रदान करनेके लिये आग्रह करें तब भी न ले । इस बातके लिये यदि भगवान् रूठ जायँ तो भी परवा न करे । अपने स्वार्थकी बातें सुनते ही उसे अतिशय वैराग्य और उपरामता हो । भगवान्‌की ओरसे विषयोंका प्रलोभन मिलनेपर मनमें पश्चात्ताप होकर यह भाव उदय हो कि 'अवश्य ही मेरे प्रेममें कोई दोष है, मेरे मनमें सच्चा विशुद्ध भाव होता और इन स्वार्थकी बातोंको सुनकर यथार्थमें मुझे क्लेश होता तो भगवान् इनके लिये मुझे कभी न ललचाते ।' विनय, अनुरोध और भय दिखलानेपर भी परमात्माके प्रेमके सिवा किसी भी हालतमें दूसरी वस्तु स्वीकार न करे, अपने प्रेम-हठपर अटल-अचल रहे । वह यही समझता रहे कि

भगवान् जबतक मुझे नाना प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर ललचा रहे हैं और मेरी परीक्षा ले रहे हैं, तबतक मुझमें अवश्य ही विषयासक्ति है। सच्चा प्रेम होता तो एक अपने प्रेमास्पदको छोड़कर दूसरी बात भी मैं न सुन सकता। विषयोंको देख, सुन और सहन कर रहा हूँ। इससे यह सिद्ध है कि मैं सच्चे प्रेमका अधिकारी नहीं हूँ, तभी तो भगवान् मुझे लोभ दिखा रहे हैं। उत्तम तो यह था कि मैं विषयोंकी चर्चा सुनते ही मूर्छित होकर गिर पड़ता। ऐसी अवस्था नहीं होती, इसलिये निःसन्देह मेरे हृदयमें कहीं-न-कहीं विषयवासना छिपी हुई है। यह है विशुद्ध प्रेमके ऊँचे साधनका स्वरूप।

ऐसा विशुद्ध प्रेम होनेपर जो आनन्द होता है उसकी महिमा अकथनीय है। ऐसे प्रेमका वास्तविक महत्त्व कोई परमात्माका अनन्य प्रेमी ही जानता है। प्रेमकी साधारणतः तीन संज्ञाएँ हैं—गौण, मुख्य और अनन्य। जैसे नन्हे बछड़ेको छोड़कर गौ वनमें चरने जाती है, वहाँ घास चरती है, उस गौका प्रेम घासमें गौण है, बछड़ेमें मुख्य है और अपने जीवनमें अनन्य है, बछड़ेके लिये घासका एवं जीवनके लिये वह बछड़ेका भी त्याग कर सकती है। इसी प्रकार उत्तम साधक सांसारिक कार्य करते हुए भी अनन्य-भावसे परमात्माका चिन्तन किया करते हैं। साधारण भगवत्-प्रेमी साधक अपना मन परमात्मामें लगानेकी कोशिश करते हैं, परन्तु अभ्यास और आसक्तिवश भजन-ध्यान करते समय भी उनका मन विषयोंमें चला ही जाता है। जिनका भगवान्में मुख्य प्रेम है वे हर समय भगवान्को स्मरण रखते हुए समस्त कार्य करते हैं और जिनका भगवान्में अनन्य प्रेम हो

जाता है उनको तो समस्त चराचर विश्व एक वासुदेवमय ही प्रतीत होने लगता है। ऐसे महात्मा बड़े दुर्लभ हैं। (गीता ७। १९)

इस प्रकारके अनन्य प्रेमी भक्तोंमें कई तो प्रेममें इतने गहरे डूब जाते हैं कि वे लोकदृष्टिमें पागल-से दीख पड़ते हैं। किसी-किसीकी बालकवत् चेष्टा दिखायी देती है। उनके सांसारिक कार्य छूट जाते हैं। कई ऐसी प्रकृतिके भी प्रेमी पुरुष होते हैं जो अनन्य प्रेममें निमग्न रहनेपर भी महान् भागवत श्रीभरतजीकी भाँति या भक्तराज श्रीहनुमान्‌जीकी भाँति सदा ही 'रामकाज' करनेको तैयार रहते हैं। ऐसे भक्तोंके सभी कार्य लोकहितार्थ होते हैं। ये महात्मा एक क्षणके लिये भी परमात्माको नहीं भुलाते, न भगवान् ही उन्हें कभी भुला सकते हैं। भगवान्‌ने कहा ही है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

भगवान् जबतक मुझे नाना प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर ललचा रहे हैं और मेरी परीक्षा ले रहे हैं, तबतक मुझमें अवश्य ही विषयासक्ति है। सच्चा प्रेम होता तो एक अपने प्रेमास्पदको छोड़कर दूसरी बात भी मैं न सुन सकता। विषयोंको देख, सुन और ग्रहण कर रहा हूँ। इससे यह सिद्ध है कि मैं सच्चे प्रेमका अधिकारी नहीं हूँ, तभी तो भगवान् मुझे भ्रम दिखा रहे हैं। उत्तम तो यह था कि मैं विषयोंकी चर्चा सुनते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ता। ऐसी अवस्था नहीं होती, इसलिये निःसन्देह मेरे हृदयमें कहीं-न-कहीं विषयवासना छिपी हुई है। यह है विशुद्ध प्रेमके ऊँचे साधनका स्वरूप।

ऐसा विशुद्ध प्रेम होनेपर जो आनन्द होता है उसकी महिमा अकथनीय है। ऐसे प्रेमका वास्तविक महत्त्व कोई परमात्माका अनन्य प्रेमी ही जानता है। प्रेमकी साधारणतः तीन संज्ञाएँ हैं—गौण, मुख्य और अनन्य। जैसे मनमें बछड़ेको छोड़कर गौ वनमें चरने जाती है, वहाँ घास चरती है, उस गौका प्रेम घासमें गौण है, बछड़ेमें मुख्य है और अपने जीवनमें अनन्य है, बछड़ेके लिये घासका एवं जीवनके लिये वह बछड़ेका भी त्याग कर सकती है। इसी प्रकार उत्तम साधक सांसारिक कार्य करते हुए भी अनन्य-भावसे परमात्माका चिन्तन किया करते हैं। साधारण भगवत्-प्रेमी साधक अपना मन परमात्मामें लगानेकी कोशिश करते हैं, परन्तु अभ्यास और आसक्तिवश भजन-ध्यान करते समय भी उनका मन विषयोंमें चला ही जाता है। जिनका भगवान्‌में मुख्य प्रेम है वे हर समय भगवान्‌को स्मरण रखते हुए समस्त कार्य करते हैं और जिनका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो

इसीलिये भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं पर उनमेंसे किसीको हम असत्य नहीं कह सकते। जैसे वेद परमात्माका निःश्वास है, इसी प्रकार गीता भी साक्षात् भगवान्‌के वचन होनेसे भगवत्-स्वरूप ही है। अतएव भगवान्‌की भाँति गीताका स्वरूप भी भक्तोंको अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे भासता है। कृपासिन्धु भगवान्‌ने अपने प्रिय सखा—भक्त अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त संसारके कल्याणार्थ इस अद्भुत गीता-शास्त्रका उपदेश किया है। ऐसे गीता-शास्त्रके किसी तत्त्वपर विवेचन करना मेरे-सदृश साधारण मनुष्यके लिये बालचपलतामात्र है। मैं इस विषयमें कुछ कहनेका अपना अधिकार न समझता हुआ भी जो कुछ कह रहा हूँ सो केवल अपने मनोविनोदके लिये है। निवेदन है कि भक्त और विज्ञजन मेरी इस बालचेष्टापर क्षमा करें।

गीतामें कर्म, भक्ति और ज्ञान—तीनों सिद्धान्तोंकी ही अपनी-अपनी जगह प्रधानता है तथापि यह कहा जा सकता है कि गीता एक भक्तिप्रधान ग्रन्थ है, इसमें ऐसा कोई अध्याय नहीं जिसमें भक्तिका कुछ प्रसङ्ग न हो। गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भक्तिमें ही है। आरम्भमें अर्जुन '*शाधि मां त्वां प्रपन्नम्*' (२।७) कहकर भगवान्‌की शरण ग्रहण करता है और अन्तमें भगवान् '*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*' (१८।६६) कहकर शरणागतिका ही पूर्ण समर्थन करते हैं—समर्थन ही नहीं, समस्त धर्मोंका आश्रय सर्वथा परित्याग कर केवल भगवदाश्रय—अपने आश्रय होनेके लिये आज्ञा करते हैं और साथ ही समस्त पापोंसे छुटकारा कर देनेका भी

गीतामें भक्ति

श्रीमद्भगवद्गीता एक अद्वितीय आध्यात्मिक ग्रन्थ है, यह कर्म, उपासना और ज्ञानके तत्त्वोंका भण्डार है। इस बातको कोई नहीं कह सकता कि गीतामें प्रधानतासे केवल अमुक विषयका ही वर्णन है। यद्यपि यह छोटा-सा ग्रन्थ है और इसमें सब विषयोंका सूत्ररूपसे वर्णन है परन्तु किसी भी विषयका वर्णन स्वल्प होनेपर भी अपूर्ण नहीं है इसीलिये कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा० भीष्म ४१।१)

इस कथनसे दूसरे शास्त्रोंका निषेध नहीं है यह तो गीताका इसका महत्त्व बतलानेके लिये है, वास्तवमें गीतोक्त ज्ञानकी उपलब्धि हो जानेपर और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। गीतामें अपने अपने स्थानपर कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनोंका विशद और पूर्ण वर्णन होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें कौन-सा विषय प्रधान और कौन-सा गौण है। सुतरां जिनको जो विषय प्रिय है—जो सिद्धान्त मान्य है, वही गीतामें भासने लगता है।

इसीलिये भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं पर उनमेंसे किसीको हम असत्य नहीं कह सकते। जैसे वेद परमात्माका निःश्वास है, इसी प्रकार गीता भी साक्षात् भगवान्‌के वचन होनेसे भगवत्-स्वरूप ही है। अतएव भगवान्‌की भाँति गीताका स्वरूप भी भक्तोंको अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे भासता है। कृपासिन्धु भगवान्‌ने अपने प्रिय सखा—भक्त अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त संसारके कल्याणार्थ इस अद्भुत गीता-शास्त्रका उपदेश किया है। ऐसे गीता-शास्त्रके किसी तत्त्वपर विवेचन करना मेरे-सदृश साधारण मनुष्यके लिये बालचपलतामात्र है। मैं इस विषयमें कुछ कहनेका अपना अधिकार न समझता हुआ भी जो कुछ कह रहा हूँ सो केवल अपने मनोविनोदके लिये है। निवेदन है कि भक्त और विज्ञजन मेरी इस बालचेष्टापर क्षमा करें।

गीतामें कर्म, भक्ति और ज्ञान—तीनों सिद्धान्तोंकी ही अपनी-अपनी जगह प्रधानता है तथापि यह कहा जा सकता है कि गीता एक भक्तिप्रधान ग्रन्थ है, इसमें ऐसा कोई अध्याय नहीं जिसमें भक्तिका कुछ प्रसङ्ग न हो। गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भक्तिमें ही है। आरम्भमें अर्जुन '*शाधि मां त्वां प्रपन्नम्*' (२।७) कहकर भगवान्‌की शरण ग्रहण करता है और अन्तमें भगवान् '*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*' (१८।६६) कहकर शरणागतिका ही पूर्ण समर्थन करते हैं—समर्थन ही नहीं, समस्त धर्मोंका आश्रय सर्वथा परित्याग कर केवल भगवदाश्रय—अपने आश्रय होनेके लिये आज्ञा करते हैं और साथ ही समस्त पापोंसे छुटकारा कर देनेका भी

मिल्ना होते हैं । यह मानी हुई बात है कि शरणागति भक्तिका ही एक स्वरूप है । अवश्य ही गीताकी भक्ति अविवेकपूर्वक की हुई अन्धभक्ति या अज्ञानप्रेरित आलस्यमय कर्मत्यागरूप जड़ता नहीं है, गीताकी भक्ति क्रियात्मक और विवेकपूर्ण है । गीताकी भक्ति पूर्णपुरुष परमात्माकी पूर्णताके समीप पहुँचे हुए साधकद्वारा की जाती है । गीताकी भक्तिके लक्षण बारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने स्वयं बतलाये हैं । गीताकी भक्तिमें पापको स्थान नहीं है । सर्वत्र भगवान्‌का जो शरणागत अनन्य भक्त सब तरफ सबमें सर्वदा भगवान्‌को देखता है, वह छिपकर भी पाप कैसे कर सकता है ! जो शरणागत भक्त अपने जीवनको परमात्माके हाथोंमें सौंपकर उसके इशारेपर नाचना चाहता है उसके द्वारा पाप कैसे बन सकते हैं ! जो भक्त सारे जगत्‌को परमात्माका स्वरूप समझकर सबकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है वह निष्क्रिय आलसी कैसे हो सकता है ! एवं जिसके पास परमात्मस्वरूपके ज्ञानका प्रकाश है वह अन्धतममें कैसे प्रवेश कर सकता है ?

इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनसे स्पष्ट कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८ । ७)

युद्ध करो परन्तु सब समय मेरा (भगवान्‌का) स्मरण करते हुए और मेरेमें (भगवान्‌में) अर्पित मन-बुद्धिसे युक्त होकर करो । यही तो निष्कामकर्मसंयुक्त भक्तियोग है, इससे निस्सन्देह

परमात्माकी प्राप्ति होती है । इसी प्रकारकी आज्ञा अध्याय ९ । २७ और १८ । ५७ आदि श्लोकोंमें दी है ।

इसका यह मतलब नहीं कि केवल कर्मयोग या केवल भक्ति-योगके लिये भगवान्‌ने स्वतन्त्ररूपसे कहीं कुछ भी नहीं कहा है । *'कर्मण्येवाधिकारस्ते'* (२। ४७) *'योगस्थः कुरु कर्माणि'* (२।४८)आदि श्लोकोंमें केवल कर्मका और 'मन्मना भव'(९ । ३४) आदिमें केवल भक्ति-का वर्णन मिलता है, परन्तु इनमें भी कर्ममें भक्तिका और भक्तिमें कर्मका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रच्छन्न है । समत्वरूप योगमें स्थित होकर फलका अधिकार ईश्वरके जिम्मे समझकर जो कर्म करता है वह भी प्रकारान्तरसे ईश्वरस्मरणरूप भक्ति करता है और भक्ति, पूजा, नमस्कार आदि भगवद्भक्तिपरक क्रियाओंको करता हुआ भी साधक तत्तत् क्रियारूप कर्म करता ही है । साधारण सकामकर्मोंमें और उसमें भेद इतना ही है कि सकामकर्मी कर्मका अनुष्ठान सांसारिक कामना-सिद्धिके लिये करता है और निष्कामकर्मी भगवत्प्रीत्यर्थ करता है । स्वरूपसे कर्मत्यागकी तो गीताने निन्दा की है और उसे तामसी त्याग बतलाया है (१८ । ७) एवं अध्याय ३ श्लोक ४ में कर्मत्यागसे सिद्धिका नहीं प्राप्त होना कहकर अगले श्लोकमें स्वरूपसे कर्मत्यागको अशक्य भी बतलाया है । अतएव गीताके अनुसार प्रधानतः अनन्यभावसे भगवान्‌के स्वरूपमें स्थित होकर भगवान्‌की आज्ञा मानकर भगवान्‌के लिये मन, वाणी, शरीरसे स्ववर्णानुसार समस्त कर्मोंका आचरण करना ही भगवान्‌की भक्ति है और इसीसे परम सिद्धिरूप मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है । भगवान् घोषणा करते हैं—

चिन्ता लेते हैं। यह मानी हुई बात है कि शरणागति भक्तिका ही एक स्वरूप है। अवश्य ही गीताकी भक्ति अविवेकपूर्वक की हुई अन्धभक्ति या अज्ञानप्रेरित आलस्यमय कर्मत्यागरूप जड़ता नहीं है गीताकी भक्ति क्रियात्मक और विवेकपूर्ण है। गीताकी भक्ति पूर्णपुरुष परमात्माकी पूर्णताके समीप पहुँचे हुए साधकद्वारा की जाती है। गीताकी भक्तिके लक्षण बारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने स्वयं बतलाये हैं। गीताकी भक्तिमें पापको स्थान नहीं है। वास्तवमें भगवान्‌का जो शरणागत अनन्य भक्त सब तरफ सबमें सर्वदा भगवान्‌को देखता है, वह छिपकर भी पाप कैसे कर सकता है? जो शरणागत भक्त अपने जीवनको परमात्माके हाथोंमें सौंपकर उसके इशारेपर नाचना चाहता है उसके द्वारा पाप कैसे बन सकते हैं? जो भक्त सारे जगत्‌को परमात्माका स्वरूप समझकर उसकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है वह निष्क्रिय आलसी कैसे हो सकता है? एवं जिसके पास परमात्मस्वरूपके ज्ञानका प्रकाश है वह अन्धतममें कैसे प्रवेश कर सकता है?

इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनसे स्पष्ट कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८।७)

युद्ध करो, परन्तु सब समय मेरा (भगवान्‌का) स्मरण करते हुए और मेरेमें (भगवान्‌में) अर्पित मन-बुद्धिसे युक्त होकर करो। यही तो निष्कामकर्मसंयुक्त भक्तियोग है, इससे निस्सन्दे

कुछ प्रमादवश इन्द्रियोंको आराम देनेवाले भोगोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। सच्चे भजन-ध्यानमें लगनेवाले विरले ही निकलते हैं। एकान्तमें निवासकर भजन-ध्यान करना बुरा नहीं है। परन्तु यह साधारण बात नहीं है। इसके लिये बहुत अभ्यासकी आवश्यकता है और यह अभ्यास कर्म करते हुए ही क्रमशः बढ़ाया और गाढ़ किया जा सकता है, इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए फलासक्तिरहित होकर मेरी आज्ञासे मेरी प्रीतिके लिये कर्म करना चाहिये। परमेश्वरके ध्यानकी गाढ़ स्थिति प्राप्त होनेमें कर्मोंका संयोग वियोग बाधक-साधक नहीं है। प्रीति और सच्ची श्रद्धा ही इसमें प्रधान कारण है। प्रीति और श्रद्धा होनेपर कर्म उसमें बाधक नहीं होते, बल्कि उसका प्रत्येक कर्म भगवत्-प्रीतिके लिये ही अनुष्ठित होकर शुद्ध भक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। इससे भी कर्मत्यागकी आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। परन्तु इस कथनसे एकान्तमें निरन्तर भक्ति करनेका निषेध भी नहीं है।

अधिकारियोंके लिये 'विविक्तदेशसेवित्वम्' और 'अरतिर्जन-संसदि' (१३ । १०) होना उचित ही है, परन्तु संसारमें प्रायः अधिकांश अधिकारी कर्मके ही मिलते हैं। एकान्तवासके वास्तविक अधिकारी वे हैं जो भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन हैं, जिनका हृदय अनन्यप्रेमसे परिपूर्ण है, जो क्षणभरके भगवान्‌के विस्मरणसे ही परम व्याकुल हो जाते हैं, भगवत्-प्रेमकी विह्वलतासे बाह्यज्ञान लुप्तप्राय रहनेके कारण जिनके सांसारिक कार्य सुचारुरूपसे सम्पन्न नहीं हो सकते और जिनको संसारके ऐशो-आराम-भोगके दर्शन-श्रवणमात्रसे

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।४६)

जिस परमात्मासे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।

इस प्रकारके कर्म बन्धनके कारण न होकर मुक्तिके कारण ही होते हैं, इनमें पतनका डर बिल्कुल नहीं रहता है। भगवान्‌ने साधकको भगवत्प्राप्तिके लिये और साधनोत्तर सिद्धावस्थामें ज्ञानीको भी लोकसंग्रह यानी जनताको सन्मार्गपर लानेके लिये अपना उदाहरण पेशकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है, यद्यपि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है—'तस्य कार्यं न विद्यते।' (३।१७)

इसके सिवा अर्जुन क्षत्रिय, गृहस्थ और कर्मशील पुरुष थे, इसलिये भी उन्हें कर्मसहित भक्ति करनेके लिये ही विशेषरूपसे कहा है और वास्तवमें सर्वसाधारणके हितके लिये भी यही आवश्यक है। संसारमें तमोगुण अधिक छाया हुआ है। तमोगुणके कारण लोग भगवत्तत्त्वसे अनभिज्ञ रहकर एकान्तवासमें भजन-ध्यानके बहाने निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यताके शिकार हो जाते हैं। ऐसा देखा भी जाता है कि कुछ लोग अब तो हम निरन्तर एकान्तमें रहकर भजन-ध्यान ही किया करेंगे कहकर कर्म छोड़ देते हैं, परन्तु थोड़े ही दिनोंमें उनका मन एकान्तसे हट जाता है। कुछ लोग सोनेमें समय बिताते हैं, तो कोई कहने लगते हैं 'क्या करें, ध्यानमें मन नहीं लगता।' फलतः कुछ तो निकम्मे हो जाते हैं और

कुछ प्रमादवश इन्द्रियोंको आराम देनेवाले भोगोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। सच्चे भजन-ध्यानमें लगनेवाले बिरले ही निकलते हैं। एकान्तमें निवासकर भजन-ध्यान करना बुरा नहीं है। परन्तु यह साधारण बात नहीं है। इसके लिये बहुत अभ्यासकी आवश्यकता है और यह अभ्यास कर्म करते हुए ही क्रमश. बढ़ाया और गाढ़ किया जा सकता है, इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए फलासक्तिरहित होकर मेरी आज्ञासे मेरी प्रीतिके लिये कर्म करना चाहिये। परमेश्वरके ध्यानकी गाढ़ स्थिति प्राप्त होनेमें कर्मोंका संयोग वियोग बाधक-साधक नहीं है। प्रीति और सच्ची श्रद्धा ही इसमें प्रधान कारण है। प्रीति और श्रद्धा होनेपर कर्म उसमें बाधक नहीं होते, बल्कि उसका प्रत्येक कर्म भगवत्-प्रीतिके लिये ही अनुष्ठित होकर शुद्ध भक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। इससे भी कर्मत्यागकी आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। परन्तु इस कथनसे एकान्तमें निरन्तर भक्ति करनेका निषेध भी नहीं है।

अधिकारियोंके लिये 'विविक्तदेशसेवित्वम्' और 'अरतिर्जन-संसदि' (१३ । १०) होना उचित ही है, परन्तु संसारमें प्राय· अधिकांश अधिकारी कर्मके ही मिलते हैं। एकान्तवासके वास्तविक अधिकारी वे हैं जो भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन हैं, जिनका हृदय अनन्यप्रेमसे परिपूर्ण है, जो क्षणभरके भगवान्‌के विस्मरणसे ही परम व्याकुल हो जाते हैं, भगवत्-प्रेमकी विह्वलतासे बाह्यज्ञान लुप्तप्राय रहनेके कारण जिनके सांसारिक कार्य सुचारुरूपसे सम्पन्न नहीं हो सकते और जिनको संसारके ऐशो-आराम-भोगके दर्शन-श्रवणमात्रसे

ही ताप होने लगता है, ऐसे अधिकारियोंके लिये जनसमुदायसे अलग रहकर एकान्तदेशमें निरन्तर अटल साधन करना ही अधिक श्रेयस्कर होता है। वे लोग कर्मको नहीं छोड़ते। कर्म ही उन्हें छोड़कर अलग हो जाते हैं। ऐसे लोगोंको एकान्तमें कभी आलस्य या विषय-चिन्तन नहीं होता। इनके भगवत्प्रेमकी सरितामें एकान्तसे उत्तरोत्तर बाढ़ आती है और वह बहुत ही शीघ्र इन्हें परमात्मरूपी महासमुद्रमें मिलाकर इनका स्वतन्त्र अस्तित्व समुद्रके विशाल असीम अस्तित्वमें अभिन्नरूपसे मिला देती है। परन्तु जिन लोगोंको एकान्तमें सांसारिक विक्षेप सताते हैं, वे अधिक समयतक कर्मरहित होकर एकान्तवासके अधिकारी नहीं हैं। जगत्में ऐसे ही लोग अधिक हैं। अधिकसंख्यक लोगोंके लिये जो उपाय उपयोगी होता है, प्रायः वही बतलाया जाता है, यही नीति है। इसलिये शास्त्रोक्त सांसारिक कर्मोंकी गति भगवत्की ओर मोड़ देनेका ही विशेष प्रयत्न करना चाहिये, कर्मोंको छोड़नेका नहीं।

ऊपर कहा गया है कि अर्जुन गृहस्थ, क्षत्रिय और कर्मशील था, इसमें कामकी बात कही गयी है। इसका यह अर्थ नहीं है कि गीता केवल गृहस्थ क्षत्रिय या कर्मियोंके लिये ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीतारूपी दुग्धामृत अर्जुनरूप वत्सके ब्याजसे ही विश्वको मिला, परन्तु वह इतना सार्वभौम और सुमधुर है कि सभी देश सभी जाति सभी वर्ण और सभी आश्रमके लोग उसका अबाधितरूपसे पानकर अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं। जैसे भगवत्प्राप्तिमें सबका अधिकार है वैसे ही गीताके भी सभी अधिकारी हैं। अवश्य

ही सदाचार, श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका होना आवश्यक है; क्योंकि भगवान्‌ने अश्रद्धालु, सुनना न चाहनेवाले, आचरणभ्रष्ट और भक्तिहीन मनुष्योंमें इसके प्रचारका निषेध किया है। (गीता १८। ६७) भगवान्‌का आश्रित जन कोई भी क्यों न हो, सभी इस अमृतपानके पात्र हैं। (१८। ६८)

यदि यह कहा जाय कि गीतामें तो सांख्ययोग और कर्मयोग नामक दो ही निष्ठाओंका वर्णन है। भक्तिकी तीसरी कोई निष्ठा ही नहीं, तब गीताको भक्तिप्रधान कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि भक्तिकी भिन्न निष्ठा भगवान्‌ने नहीं कही है, परन्तु पहले यह समझना चाहिये कि निष्ठा किसका नाम है और क्या योग और सांख्यनिष्ठा उपासना बिना सम्पन्न हो सकते हैं? उपासनारहित कर्म जड होनेसे कदापि मुक्तिदायक नहीं होते और न उपासनारहित ज्ञान ही प्रशंसनीय है। गीतामें भक्ति ज्ञान और कर्म—दोनोंमें ओतप्रोत है। निष्ठाका अर्थ है— परमात्माके स्वरूपमें स्थिति। जो स्थिति परमेश्वरके स्वरूपमें भेदरूपसे होती है, यानी परमेश्वर अंशी और मैं उसका अंश हूँ, परमेश्वर सेव्य और मैं उसका सेवक हूँ। इस भावसे परमात्माकी प्रीतिके लिये उसके आज्ञानुसार फलासक्ति त्याग कर जो कर्म किये जाते हैं उसका नाम है निष्काम कर्मयोगनिष्ठा और जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदरूपसे स्थिति है यानी ब्रह्ममें स्थित रहकर प्रकृतिद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंको प्रकृतिका विस्तार और माया-मात्र मानकर वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और

ही ताप होने लगता है, ऐसे अधिकारियोंके लिये जनसमुदायसे अलग रहकर एकान्तदेशमें निरन्तर अटल साधन करना ही अधिक श्रेयस्कर होता है। ये लोग कर्मको नहीं छोड़ते। कर्म ही इन्हें छोड़कर अलग हो जाते हैं। ऐसे लोगोंको एकान्तमें कभी आलस्य या विषय-चिन्तन नहीं होता। इनके भगवत्प्रेमकी सरिता एकान्तमें उत्तरोत्तर बढ़ जाती है और वह बहुत ही शीघ्र इन्हें परमात्मरूपी महासमुद्रमें मिलाकर इनका स्वतन्त्र अस्तित्व समुद्रके विशाल असीम अस्तित्वमें अभिन्नरूपसे मिला देती है। परन्तु जिन लोगोंको एकान्तमें सांसारिक विक्षेप सताते हैं, वे अधिक समयतक कर्मरहित होकर एकान्तवासके अधिकारी नहीं हैं। जगत्में ऐसे ही लोग अधिक हैं। अधिकसंख्यक लोगोंके लिये जो उपाय उपयोगी होता है, प्राय वही बतलाया जाता है, यही नीति है। इसलिये साधारणतः सांसारिक कर्मोंकी गति भगवत्की ओर मोड़ देनेका ही विशेष प्रयत्न करना चाहिये, कर्मोंको छोड़नेका नहीं।

ऊपर कहा गया है कि अर्जुन गृहस्थ, क्षत्रिय और कर्मशील था, इससे कर्मकी बात कही गयी है। इसका यह अर्थ नहीं है कि गीता केवल गृहस्थ क्षत्रिय या कर्मियोंके लिये ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीतारूपी दुग्धामृत अर्जुनरूप वत्सके व्याजसे ही विश्वको मिला, परन्तु वह इतना सार्वभौम और सुमधुर है कि सभी देश सभी जाति सभी वर्ण और सभी आश्रमके लोग उसका अबाधितरूपसे पानकर अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं। जैसे भगवत्प्राप्तिमें सबका अधिकार है वैसे ही गीताके भी सभी अधिकारी हैं। अवश्य

ही सदाचार, श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका होना आवश्यक है, क्योंकि भगवान्‌ने अश्रद्धालु, सुनना न चाहनेवाले, आचरणभ्रष्ट और भक्तिहीन मनुष्योंमें इसके प्रचारका निषेध किया है। (गीता १८ । ६७) भगवान्‌का आश्रित जन कोई भी क्यों न हो; सभी इस अमृतपानके पात्र हैं। (१८ । ६८)

यदि यह कहा जाय कि गीतामें तो साख्ययोग और कर्मयोग नामक दो ही निष्ठाओंका वर्णन है । भक्तिकी तीसरी कोई निष्ठा ही नहीं, तब गीताको भक्तिप्रधान कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि भक्तिकी भिन्न निष्ठा भगवान्‌ने नहीं कही है, परन्तु पहले यह समझना चाहिये कि निष्ठा किसका नाम है और क्या योग और सांख्यनिष्ठा उपासना बिना सम्पन्न हो सकते हैं? उपासनारहित कर्म जड होनेसे कदापि मुक्तिदायक नहीं होते और न उपासनारहित ज्ञान ही प्रशसनीय है । गीतामें भक्ति ज्ञान और कर्म--दोनोंमें ओतप्रोत है । निष्ठाका अर्थ है--- परमात्माके स्वरूपमें स्थिति । जो स्थिति परमेश्वरके स्वरूपमें भेदरूपसे होती है, यानी परमेश्वर अंशी और मैं उसका अंश हूँ, परमेश्वर सेव्य और मैं उसका सेवक हूँ । इस भावसे परमात्माकी प्रीतिके लिये उसके आज्ञानुसार फलासक्ति त्याग कर जो कर्म किये जाते हैं उसका नाम है निष्काम कर्मयोगनिष्ठा और जो सच्चिदा-नन्दघन ब्रह्ममें अभेदरूपसे स्थिति है यानी ब्रह्ममें स्थित रहकर प्रकृतिद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंको प्रकृतिका विस्तार और माया-मात्र मानकर वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और

कुछ भी नहीं है यों निश्चय करके जो अभेद स्थिति होती है उसे सांख्यनिष्ठा कहते हैं। इन दोनों ही निष्ठाओंमें उपासना भी है। अतएव भक्तिको तीसरी स्वतन्त्र निष्ठाके नामसे कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इसपर यदि कोई कहे कि तब तो निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोगके बिना केवल भक्तिमार्गसे परमात्माकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्ने केवल भक्तियोगसे स्थान-स्थानपर परमात्माकी प्राप्ति होना बतलाया है। साक्षात् दर्शनके लिये तो यहाँतक कह दिया है कि अनन्य भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे नहीं हो सकता (गीता ११।५४)। ध्यानयोगरूपी भक्तिको (गीता १२।२४ में) '*ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति*' कहकर भगवान्ने और भी स्पष्ट कर दिया है। इस ध्यानयोगका प्रयोग उपर्युक्त दोनों साधनोंके साथ भी होता है और अलग भी। यह उपासना या भक्तिमार्ग बड़ा ही सुगम और महत्त्वपूर्ण है। इसमें ईश्वरका सहारा रहता है और उसका बल प्राप्त होता रहता है। अतएव हमलोगोंको इसी गीतोक्त निष्काम विशुद्ध अनन्यभक्तिका आश्रय लेकर अपने समस्त स्वाभाविक कर्म भगवदर्पण करने चाहिये।

श्रीप्रेम-भक्ति-प्रकाश

परमात्माकी शरणमें प्राप्त हुए पुरुषका मन परमात्मासे प्रार्थना करता है—

हे प्रभो ! हे विश्वम्भर ! हे दीनदयालो ! हे कृपासिन्धो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे पतितपावन ! हे सर्वशक्तिमान् ! हे दीनबन्धो ! हे नारायण ! हे हरे ! दया कीजिये, दया कीजिये । हे अन्तर्यामिन् ! आपका नाम संसारमें दयासिन्धु और सर्वशक्तिमान् विख्यात है, इसीलिये दया करना आपका काम है ।

हे प्रभो ! यदि आपका नाम पतितपावन है तो एक बार आकर दर्शन दीजिये । मैं आपको बारंबार प्रणाम करके विनय करता हूँ, हे प्रभो ! दर्शन देकर कृतार्थ कीजिये । हे प्रभो ! आपके बिना इस संसारमें मेरा और कोई भी नहीं है, एक बार दर्शन दीजिये, दर्शन दीजिये, विशेष न तरसाइये । आपका नाम विश्वम्भर है, फिर मेरी आशाको क्यों नहीं पूर्ण करते हैं । हे करुणामय ! हे दयासागर ! दया कीजिये । आप दयाके समुद्र हैं, इसलिये किञ्चित् दया करनेसे आप दयासागरमें कुछ दयाकी त्रुटि नहीं हो जायगी । आपकी किञ्चित् दयासे सम्पूर्ण संसारका उद्धार हो सकता है, फिर

एक तुच्छ जीवका उद्धार करना आपके लिये कौन बड़ी बात है! हे प्रभो! यदि आप मेरे कर्तव्यको देखें तब तो इस संसारसे मेरा निस्तार होनेका कोई उपाय ही नहीं है। इसलिये आप अपने पतितपावन नामकी ओर देखकर इस तुच्छ जीवको दर्शन दीजिये। मैं न तो कुछ भक्ति जानता हूँ, न योग जानता हूँ तथा न कोई क्रिया ही जानता हूँ, जो कि मेरे कर्तव्यसे आपका दर्शन हो सके। आप अन्तर्यामी होकर यदि दयासिन्धु नहीं होते तो आपको संसारमें कोई दयासिन्धु नहीं कहता, यदि आप दयासागर होकर भी अन्तरकी पीड़ाको न पहचानते तो आपको कोई अन्तर्यामी नहीं कहता। दोनों गुणोंसे युक्त होकर भी यदि आप सामर्थ्यवान् न होते तो आपको कोई सर्वशक्तिमान् और सर्वसामर्थ्यवान् नहीं कहता। यदि आप केवल भक्तवत्सल ही होते तो आपको कोई पतितपावन नहीं कहता। हे प्रभो! हे दयासिन्धो!! एक बार दया करके दर्शन दीजिये॥ १॥

जीवात्मा अपने मनसे कहता है—

रे दुष्ट मन! कपटभरी प्रार्थना करनेसे क्या अन्तर्यामी भगवान् प्रसन्न हो सकते हैं? क्या वे नहीं जानते कि ये सब तेरी प्रार्थनाएँ निष्काम नहीं हैं? एवं तेरे हृदयमें श्रद्धा, विश्वास और प्रेम कुछ भी नहीं है? यदि तुझको यह विश्वास है कि भगवान् अन्तर्यामी हैं तो फिर किसलिये प्रार्थना करता है? बिना प्रेमके मिथ्या प्रार्थना करनेसे भगवान् कभी नहीं सुनते और यदि प्रेम है तो फिर कहनेसे प्रयोजन ही क्या है? क्योंकि भगवान्ने तो स्वयं ही श्रीगीताजीमें कहा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
(४।११)

'जो मेरेको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' तथा—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(गीता ९।२९)

'जो (भक्त) मेरेको भक्तिसे भजते हैं वे मेरेमें हैं और मैं भी उनमें (प्रत्यक्ष प्रकट) हूँ।'*

रे मन! हरि दयासिन्धु होकर भी यदि दया न करें तो भी कुछ चिन्ता नहीं, अपनेको तो अपना कर्तव्यकार्य करते ही रहना चाहिये। हरि प्रेमी हैं, वे प्रेमको पहचानते हैं। प्रेमके विषयको प्रेमी ही जानता है, वे अन्तर्यामी भगवान् क्या तेरे शुष्क प्रेमसे दर्शन दे सकते हैं? जब विशुद्ध प्रेम और श्रद्धा-विश्वासरूपी डोरी तैयार हो जायगी तो उस डोरीद्वारा बँधे हुए हरि आप-ही-आप चले आवेंगे। रे मूर्ख मन! क्या मिथ्या प्रार्थनासे काम चल सकता है? क्योंकि हरि अन्तर्यामी हैं। रे मन! तुझको नमस्कार है, तेरा काम संसारमें चक्कर लगानेका है, सो जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ जा। तेरे ही सङ्गके कारण मैं इस असार संसारमें अनेक दिन फिरता रहा, अब हरिके चरण-कमलोंका आश्रय ग्रहण करनेसे तेरा सम्पूर्ण कपट जान गया, तू मेरे लिये

* जैसे सूक्ष्मरूपसे सब जगह व्याप्त हुआ भी अग्नि साधनोंद्वारा प्रकट करनेसे ही प्रत्यक्ष होता है वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्तिसे भजनेवालेके ही अन्तःकरणमें प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है।

कष्टमाव और अति दीन वचनोंसे भगवान्‌से प्रार्थना करता है। परन्तु तू नहीं जानता कि हरि अन्तर्यामी हैं। श्रीयोगवासिष्ठमें ठीक ही लिखा है कि मनके शमन हुए बिना अर्थात् मनका नाश हुए बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती। वासनाका क्षय, मनका नाश और परमेश्वरकी प्राप्ति—ये तीनों एक ही कालमें होते हैं। इसलिये तुझसे विनय करता हूँ कि तू यहाँसे अपने भाजनेसहित चला जा, अब यह पक्षी तेरी मायारूपी फाँसीमें नहीं फँस सकता; क्योंकि इसने हरिके चरणोंका आश्रय लिया है। क्या तू अपनी दुर्दशा कराके ही जायगा? अहो! कहाँ वह माया? कहाँ काम-क्रोधादि शत्रुगण? अब तो तेरी सम्पूर्ण सेनाका क्षय होता जाता है, इसलिये अपना प्रभाव पड़नेकी आशाको त्याग कर यहाँसे रफूचक्कर हो चला जा॥ २॥

मन फिर परमात्मासे प्रार्थना करता है—

प्रभो! प्रभो! दया करिये, हे नाथ! मैं आपकी शरण हूँ। हे शरणागतप्रतिपालक! शरण आयेकी लज्जा रखिये। हे प्रभो! रक्षा करिये, रक्षा करिये एक बार आकर दर्शन दीजिये। आपके बिना इस संसारमें मेरे लिये कोई भी आधार नहीं है अतएव आपको बारंबार नमस्कार करता हूँ, प्रणाम करता हूँ, विलम्ब न करिये, शीघ्र आकर दर्शन दीजिये। हे प्रभो! हे दयासिन्धो!! एक बार आकर दासकी सुध लीजिये। आपके न आनेसे प्राणोंका आधार कोई भी नहीं दीखता। हे प्रभो! दया करिये, दया करिये, मैं आपकी शरण हूँ, एक बार मेरी ओर दयादृष्टिसे देखिये। हे प्रभो! हे दीनबन्धो! हे दीनदयालो! विलम्ब न तरसाइये,

दया करिये। मेरी दुष्टताकी ओर न देखकर अपने पतितपावन स्वभावका प्रकाश करिये ॥ ३ ॥

जीवात्मा अपने मनसे फिर कहता है—

रे मन! सावधान! सावधान! किसलिये व्यर्थ प्रलाप करता है। वे श्रीसच्चिदानन्दघन हरि झूठी विनती नहीं चाहते। अब तेरा कपट यहाँ नहीं चलेगा, तू मेरे लिये क्यों हरिसे कपटभरी प्रार्थना करता है? ऐसी प्रार्थना मैं नहीं चाहता, तेरी जहाँ इच्छा हो वहाँ चला जा।

यदि हरि अन्तर्यामी हैं तो प्रार्थना करनेकी क्या आवश्यकता है? यदि वे प्रेमी हैं तो बुलानेकी क्या आवश्यकता है? यदि वे विश्वम्भर हैं तो माँगनेकी क्या आवश्यकता है? तेरेको नमस्कार है, तू यहाँसे चला जा, चला जा ॥ ४ ॥

जीवात्मा अपनी बुद्धि और इन्द्रियोंसे कहता है—

हे इन्द्रियो! तुमको नमस्कार है, तुम भी जाओ, जहाँ वासना होती है वहाँ तुम्हारा टिकाव होता है। मैंने हरिके चरणकमलोंका आश्रय लिया है, इसलिये अब तुम्हारा दाव नहीं पड़ेगा। हे बुद्धे! तुझको भी नमस्कार है, पहले तेरा ज्ञान कहाँ गया था जब कि तू मुझको संसारमें डूबनेके लिये शिक्षा दिया करती थी? क्या वह शिक्षा अब लग सकती है? ॥ ५ ॥

जीवात्मा परमात्मासे कहता है—

हे प्रभो! आप अन्तर्यामी हैं, इसलिये मैं नहीं कहता कि आप आकर दर्शन दीजिये, क्योंकि यदि मेरा पूर्ण प्रेम

होता तो क्या आप ठहर सकते ? क्या वैकुण्ठमें लक्ष्मी भी आपको अटका सकती ? यदि मेरी आपमें पूर्ण श्रद्धा होती तो क्या आप विलम्ब करते ? क्या वह प्रेम और विश्वास आपको छोड़ सकता ? अहो ! मैं व्यर्थ ही संसारमें निष्कामी और निर्वासनिक बना हुआ हूँ और व्यर्थ ही अपनेको आपके शरणागत मानता हूँ। परन्तु कोई चिन्ता नहीं, जो कुछ आकर प्राप्त हो उसीमें मुझे प्रसन्न रहना चाहिये। क्योंकि ऐसे ही आपने श्रीगीताजीमें कहा है*। इसलिये आपके चरणकमलोंकी प्रेम-भक्तिमें मग्न रहते हुए यदि मुझको नरक भी प्राप्त हो तो वह भी स्वर्गसे बढ़कर है। ऐसी दशामें मुझको क्या चिन्ता है ? जब मेरा आपमें प्रेम होगा तो क्या आपका नहीं होगा ? जब मैं आपके दर्शन बिना नहीं ठहर सकूँगा उस समय क्या आप ठहर सकेंगे ? आपने तो स्वयं श्रीगीताजीमें कहा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(४।११)

'जो मुझको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' अतएव मैं नहीं कहता कि आप आकर दर्शन दीजिये। और आपको भी क्या परवा है, परन्तु कोई चिन्ता नहीं, आप जैसा उचित समझें वैसा ही करें। आप जो कुछ करें उसीमें मुझको आनन्द मानना चाहिये॥ ६॥

---

* यदृच्छालाभसंतुष्टः (गीता अध्याय ४ श्लोक २२), संतुष्टो येन केनचित् (गीता अध्याय १२ श्लोक १९)।

जीवात्मा ज्ञाननेत्रोंद्वारा परमेश्वरका ध्यान करता हुआ आनन्दमें विह्वल होकर कहता है—

अहो ! अहो ! आनन्द ! आनन्द ! प्रभो ! प्रभो ! क्या आप पधारे ! धन्य भाग्य ! धन्य भाग्य ! आज मैं पतित भी आपके चरणकमलोंके प्रभावसे कृतार्थ हुआ । क्यों न हो, आपने स्वयं श्रीगीताजीमें कहा है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(९ । ३०-३१)

'यदि (कोई) अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको (निरन्तर) भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है ।'

'इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है, हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता' ॥ ७ ॥

जीवात्मा परमात्माके आश्चर्यमय सगुण रूपको ध्यानमें देखता हुआ अपने मन-ही-मनमें उनकी शोभाका वर्णन करता है—

अहो ! कैसे सुन्दर भगवान्‌के चरणारविन्द हैं कि जो नील-मणिके ढेरकी भाँति चमकते हुए अनन्त सूर्योंके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं । चमकीले नखोंसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियाँ जिन-

पर रत्नजटित सुवर्णके नूपुर शोभायमान हैं। जैसे भगवान्‌के चरण-कमल हैं वैसे ही जानु और जङ्घादि अङ्ग भी नीलमणिके ढेरकी भाँति पीताम्बरके भीतरसे चमक रहे हैं। अहो! सुन्दर चार भुजाएँ कैसी शोभायमान हैं। ऊपरकी दोनों भुजाओंमें तो शङ्ख और चक्र एवं नीचेकी दोनों भुजाओंमें गदा और पद्म विराजमान हैं। चारों भुजाओंमें केयूर और कड़े आदि सुन्दर-सुन्दर आभूषण शोभित हैं। अहो! भगवान्‌का वक्षःस्थल कैसा सुन्दर है जिसके मध्यमें श्रीलक्ष्मीजीका और भृगुलताका चिह्न विराजमान है तथा नीलकमल-के सदृश वर्णवाली भगवान्‌की ग्रीवा भी कैसी सुन्दर है जिसमें रत्नजटित हार और कौस्तुभमणि विराजमान हैं एवं मोतियोंकी और वैजयन्ती तथा सुवर्णकी और भाँति-भाँतिके पुष्पोंकी मालाएँ सुशोभित हैं, सुन्दर ठोढ़ी, लाल ओष्ठ और भगवान्‌की अतिशय सुन्दर नासिका है जिसके अग्रभागमें मोती विराजमान है। भगवान्‌के दोनों नेत्र कमलपत्रके समान विशाल और नीलकमलके पुष्पकी भाँति खिले हुए हैं। कानोंमें रत्नजटित सुन्दर मकराकृत कुण्डल और ललाट पर श्रीधारी तिलक एवं शीशपर रत्नजटित किरीट (मुकुट) शोभायमान है। अहो! भगवान्‌का मुखारविन्द पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति गोल-गोल कैसा मनोहर है जिसके चारों ओर सूर्यके सदृश किरणें देदीप्यमान हैं। जिनके प्रकाशसे मुकुटादि सम्पूर्ण भूषणोंके रत्न चमक रहे हैं। अहो! आज मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ कि जो मन्द-मन्द हँसते हुए आनन्दमूर्ति हरि भगवान्‌का दर्शन कर रहा हूँ॥ ८॥

इस प्रकार आनन्दमें विह्वल हुआ जीवात्मा ध्यानमें अपने सम्मुख

सवा हाथकी दूरीपर बारह वर्षकी सुकुमार अवस्थाके रूपमें भूमिसे सवा हाथ ऊँचे आकाशमें विराजमान परमेश्वरको देखता हुआ उनकी मानसिक पूजा करता है।

मानसिक पूजाकी विधि

ॐ पाद्योः पाद्यं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १ ॥

इस मन्त्रको बोलकर शुद्ध जलसे श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंको धोकर उस जलको अपने मस्तकपर धारण करना ॥ १ ॥

ॐ हस्तयोरर्घ्यं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ २ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीहरि भगवान्‌के हस्त-कमलोंपर पवित्र जल छोड़ना ॥ २ ॥

ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ३ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीनारायणदेवको आचमन कराना ॥ ३ ॥

ॐ गन्धं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ४ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीहरि भगवान्‌के ललाटपर रोली लगाना ॥ ४ ॥

ॐ मुक्ताफलं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ५ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के ललाटपर मोती लगाना ॥ ५ ॥

ॐ पुष्पं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ६ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के मस्तकपर और नासिकाके सामने आकाशमें पुष्प छोड़ना ॥ ६ ॥

ॐ मालां समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ७ ॥

इस मन्त्रको बोलकर पुष्पोंकी माला श्रीहरिके गलेमें पहराना ॥ ७ ॥

ॐ धूपमाघ्रापयामि नारायणाय नमः ॥ ८ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के सामने अग्निमें धूप छोड़ना ॥ ८ ॥

ॐ दीपं दर्शयामि नारायणाय नमः ॥ ९ ॥

इस मन्त्रको बोलकर घृतका दीपक जलाकर श्रीविष्णु भगवान्‌के सामने रखना ॥ ९ ॥

ॐ नैवेद्य समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १० ॥

इस मन्त्रको बोलकर मिश्रीसे श्रीहरि भगवान्‌के भोग लगाना ॥ १० ॥

ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ११ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌को आचमन कराना ॥ ११ ॥

ॐ ऋतुफलं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १२ ॥

इस मन्त्रको बोलकर ऋतुफल (केला आदि) से श्रीभगवान्‌के भोग लगाना ॥ १२ ॥

ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १३ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌को फिर आचमन कराना ॥ १३ ॥

ॐ पूगीफलं सताम्बूलं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १४ ॥

इस मन्त्रको बोलकर सुपारीसहित पानपान श्रीभगवान्‌के अर्पण करना ॥ १४ ॥

ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १५ ॥

इस मन्त्रको बोलकर पुनः श्रीहरिको आचमन कराना । फिर सुवर्णके थालमें कपूरको प्रदीप्त करके श्रीनारायणदेवकी आरती उतारना ॥ १५ ॥

ॐ पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १६ ॥

श्रीशेषशायी

इस मन्त्रको बोलकर सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंकी अञ्जलि भरकर श्रीहरि भगवान्‌के मस्तकपर छोड़ना ॥ १६ ॥

फिर चार प्रदक्षिणा करके श्रीनारायणदेवको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना ॥ ९ ॥

उक्त प्रकारसे श्रीहरि भगवान्‌की मानसिक पूजा करनेके पश्चात् उनको अपने हृदय-आकाशमें शयन कराके जीवात्मा अपने मन ही-मनमें श्रीभगवान्‌के स्वरूप और गुणोंका वर्णन करता हुआ बारबार सिरसे प्रणाम करता है—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

'जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म-मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र विष्णु भगवान्‌को मैं सिरसे प्रणाम करता हूँ ।'

असख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओंके समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असख्य मरुद्गणोंके समान जिनका

श्री नागशायी

नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते ।
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिभूत पृथ्वीको धारण करनेवाले और युग-युगमें प्रकट होनेवाले अनन्त रूपधारी (आप) विष्णु-भगवान्के लिये नमस्कार है ।'

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

'आप ही माता और आपही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही मित्र हैं, आप ही विद्या और आप ही धन हैं, हे देवोंके देव ! आप ही मेरे सर्वस्व हैं ॥ ११ ॥

उक्त प्रकारसे परमात्माकी प्रेम-भक्तिमें लगे हुए पुरुषका जब परमात्मामें अतिशय प्रेम हो जाता है उस कालमें उसको अपने शरीरादिकी भी सुधि नहीं रहती, जैसे सुन्दरदासजीने प्रेम-भक्तिका लक्षण करते हुए कहा है—

इन्दव छन्द

प्रेम लग्यो परमेश्वरसों, तब भूलि गयो सिगरो घरबारा ।
ज्यों उन्मत्त फिरै जित ही तित, नेक रही न शरीर सँभारा ॥

विष्णु अनेक रूपसे स्थित है ।' तथा 'एकोऽहं बहु स्याम्' (इति श्रुति) (सृष्टिके आदिमें भगवान्ने सङ्कल्प किया कि) 'मैं एक ही बहुत रूपोंमें होऊँ ।'

पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथिवियोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जो गम्भीर हैं, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं कर सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवल कल्पनामात्र ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया ऐसे अनुपमेय श्रीहरि भगवान्को मेरा बारंबार नमस्कार है।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णु भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, जिनके सारे अङ्गोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई शोभा देती हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरि भगवान्को मेरा बारंबार नमस्कार है ॥ १० ॥

जीवात्मा मन-ही-मनमें श्रीहरि भगवान्को पंखेसे हवा करता हुआ एवं उनके चरणोंकी सेवा करता हुआ उनकी स्तुति करता है—

अहा ! हे प्रभो ! आप ही ब्रह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं, आप ही महेश हैं, आप ही सूर्य हैं, आप ही चन्द्रमा और तारागण हैं, आप ही भूर्भुवः स्वः—तीनों लोक हैं तथा सातों द्वीप और चौदह भुवन आदि जो कुछ भी है, सब आपहीका स्वरूप है, आप ही विराट्स्वरूप हैं, आप ही हिरण्यगर्भ हैं, आप ही चतुर्भुज हैं और मायातीत शुद्ध ब्रह्म भी आप ही हैं, आपहीने अपने अनेक रूप धारण किये हैं, इसलिये सम्पूर्ण संसार आपहीका स्वरूप है तथा द्रष्टा, दृश्य, दर्शन जो कुछ भी है सो सब आपही हैं * । अतएव—

* 'एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः' (विष्णुसहस्रनाम १४) पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाला महान् भूत एक ही

नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते ।
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिभूत पृथ्वीको धारण करनेवाले और युग-युगमें प्रकट होनेवाले अनन्त रूपधारी (आप) विष्णु-भगवान्‌के लिये नमस्कार है ।'

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

'आप ही माता और आपही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही मित्र हैं, आप ही विद्या और आप ही धन हैं, हे देवोंके देव ! आप ही मेरे सर्वस्व हैं ॥ ११ ॥

उक्त प्रकारसे परमात्माकी प्रेम-भक्तिमें लगे हुए पुरुषका जब परमात्मामें अतिशय प्रेम हो जाता है उस कालमें उसको अपने शरीरादिकी भी सुधि नहीं रहती, जैसे सुन्दरदासजीने प्रेम-भक्तिका लक्षण करते हुए कहा है—

इन्दव छन्द

प्रेम लग्यो परमेश्वरसों, तब भूलि गयो सिगरो घरबारा ।
ज्यों उन्मत्त फिरै जित ही तित, नेक रही न शरीर सँभारा ॥

विष्णु अनेक रूपसे स्थित है ।' तथा 'एकोऽहं बहु स्याम्' (इति श्रुतिः) (सृष्टिके आदिमें भगवान्‌ने सङ्कल्प किया कि) 'मैं एक ही बहुत रूपोंमें होऊँ ।'

श्वास उसास उठे सब रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि, छाकि परयौ रस पी मतवारा॥

नाराच छन्द

न लाज तीन लोककी, न वेदको कह्यो करै।
न शंक भूत प्रेतकी, न देव यक्षतें डरै॥
सुनै न कान औरकी, द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात, भक्ति प्रेम लच्छना॥

चौपाई छन्द

प्रेम अधीनो छाक्यो डोलै, क्योंकि क्योंही बाणी बोलै।
जैसे गोपी भूली देहा, तैसो चाहे जासों नेहा॥

मनहरन छन्द

नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर बिनु शिशु जैसे,
पीरको औषधि बिनु, कैसे रह्यो जात है।
चातक ज्यों स्वातिबूँद, चन्दको चकोर जैसे,
चन्दनकी चाह करि, सर्प अकुलात है॥
निर्धन ज्यों धन चाहे, कामिनीको कन्त चाहे,
ऐसी जाके चाह ताहि, कछु न सुहात है।
प्रेमको प्रवाह ऐसो, प्रेम तहाँ नेम कैसो,
सुन्दर कहत यह, प्रेमहीकी बात है॥

छप्पय छन्द

कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै, रोवन फिर लागै।
कबहुँक गद्गद-कण्ठ, शब्द निकसै नहिं आगै॥

कबहुँक हृदय उमङ्ग, बहुत ऊँचे स्वर गावै।
कबहुँक ह्वै मुख मौन, गगन ऐसे रहि जावै॥
चित्त-वित्त हरिसों लग्यो, सावधान कैसे रहै।
यह प्रेमलक्षणा भक्ति है, शिष्य सुनहु सुन्दर कहै॥१२॥

सगुण भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर जीवात्मा शुद्ध सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें मग्न हुआ कहता है—

अहो! आनन्द! आनन्द! अति आनन्द! सर्वत्र एक वासुदेव-ही-वासुदेव व्याप्त है*। अहो! सर्वत्र एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है।

कहाँ काम, कहाँ क्रोध, कहाँ लोभ, कहाँ मोह, कहाँ मद, कहाँ मत्सरता, कहाँ मान, कहाँ क्षोभ, कहाँ माया, कहाँ मन, कहाँ बुद्धि, कहाँ इन्द्रियाँ, सर्वत्र एक सच्चिदानन्द-ही-सच्चिदानन्द व्याप्त है। अहो! अहो! सर्वत्र एक सत्यरूप, चेतनरूप, आनन्दरूप, घनरूप, पूर्णरूप, ज्ञानस्वरूप, कूटस्थ, अक्षर, अव्यक्त, अचिन्त्य, सनातन, परब्रह्म, परम अक्षर, परिपूर्ण, अनिर्देश्य, नित्य, सर्वगत, अचल, ध्रुव, अगोचर, मायातीत, अग्राह्य, आनन्द, परमानन्द, महानन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न कुछ भी नहीं है॥ १३॥

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति.

---

* बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (गीता ७। १९)
'(जो) बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मेरेको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

श्वास उसास उठै सब रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि, छाकि परयो रस पी मतवारा॥

नाराच छन्द

न लाज तीन लोककी, न वेदको कह्यो करै।
न शंक भूत प्रेतकी, न देव यक्षतें डरै॥
सुनै न कान औरकी, द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात, भक्ति-प्रेम लच्छना॥

चौतुमाल छन्द

प्रेम अधीनो छाक्यो डोलै, क्योंकि क्योंही बाणी बोलै।
जैसे गोपी भूली देहा, तैसो चाहै जासों नेहा॥

मनहरण छन्द

नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर बिनु शिशु जैसे,
पीरकी ओपधि बिनु, कैसे रह्यो जात है।
चातक ज्यों स्वातिबूँद, चन्दको चकोर जैसे,
चन्दनकी चाह करि, सर्प अकुलात है॥
निर्धन ज्यों धन चाहै, कामिनीको कन्त चाहै,
ऐसी जाके चाह ताहि, कछु न सुहात है।
प्रेमको प्रवाह ऐसो, प्रेम तहाँ नेम कैसो,
सुन्दर कहत यह, प्रेमहीकी बात है॥

छप्पय छन्द

कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै, रोवन फिर लागै।
कबहुँक गद्गद-कण्ठ, शब्द निकसे नहिं आगै॥

महिमाका दिग्दर्शन

भगवन्नामकी अपार महिमा है, सभी युगोंमें इसकी महिमा-का विस्तार है। शास्त्रों और साधु-महात्माओंने सभी युगोंके लिये मुक्तकण्ठसे नाम-महिमाका गान किया है परन्तु कलियुगके लिये तो इसके समान मुक्तिका कोई दूसरा उपाय ही नहीं बतलाया गया। यथा——

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(नारदपु० १।४१।१५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिनाम ही कल्याणका परम साधन है, इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।'

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२।३।५२)

'सत्ययुगमें भगवान् विष्णुके ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञोंसे, द्वापरमें भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेसे जो फल होता है, कलियुगमें केवल हरिके नाम-सकीर्तनसे वही फल प्राप्त होता है।'

कलिजुग केवल नाम अधारा।
सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरेहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है

वस्तुतमें नामकी महिमा वही पुरुष जान सकता है, जिसका मन निरन्तर श्रीभगवन्नाममें संलग्न रहता है। नामकी प्रिय और मधुर स्मृतिसे जिसके क्षण-क्षणमें रोमाञ्च और अश्रुपात होते हैं, जो जलके वियोगमें मछलीकी व्याकुलताके समान क्षणभरके नाम-वियोगसे भी विकल हो उठता है, जो महापुरुष निमेषमात्रके लिये भी भगवान्‌के नामको नहीं छोड़ सकता और जो निष्काम भावसे निरन्तर प्रेमपूर्वक जप करते-करते उसमें तल्लीन हो चुका है। ऐसा ही महात्मा पुरुष इस विषयके पूर्णतया वर्णन करनेका अधिकारी है और उसीके लेखसे संसारमें विशेष लाभ पहुँच सकता है।

यद्यपि मैं एक साधारण मनुष्य हूँ उस अपरिमित गुणनिधान भगवान्‌के नामकी अवर्णनीय महिमाका वर्णन करनेका मुझमें सामर्थ्य नहीं है तथापि अपने कतिपय मित्रोंके अनुरोधसे मैंने कुछ निवेदन करनेका साहस किया है। अतएव इस लेखमें जो कुछ त्रुटियाँ रही हों उनके लिये पाठकगण क्षमा करें।

मेरा अनुभव

कुछ मित्रोंने मुझे इस विषयमें अपना अनुभव लिखनेके लिये अनुरोध किया है, परन्तु जब कि मैंने भगवन्नामका विशेष सख्यामें जप ही नहीं किया तब मैं अपना अनुभव क्या लिखूँ ? भगवत्-कृपासे जो कुछ यत्किञ्चित् नामस्मरण मुझसे हो सका है उसका माहात्म्य भी पूर्णतया लिखा जाना कठिन है ।

नामका अभ्यास मैं लड़कपनसे ही करने लगा था । जिससे शनैः-शनैः मेरे मनकी विषयवासना कम होती गयी और पापोंसे हटनेमें मुझे बड़ी ही सहायता मिली । काम-क्रोधादि अवगुण कम होते गये, अन्तःकरणमें शान्तिका विकास हुआ । कभी-कभी नेत्र बद करनेसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अच्छा ध्यान भी होने लगा । सासारिक स्फुरणा बहुत कम हो गयी । भोगोंमें वैराग्य हो गया । उस समय मुझे वनवास या एकान्त स्थानका रहन-सहन अनुकूल प्रतीत होता था ।

इस प्रकार अभ्यास होते-होते एक दिन स्वप्नमें श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजीसहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन हुए और उनसे बातचीत भी हुई । श्रीरामचन्द्रजीने वर माँगनेके लिये मुझसे बहुत कुछ कहा पर मेरी इच्छा माँगनेकी नहीं हुई, अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर भी मैंने इसके सिवा और कुछ नहीं माँगा कि 'आपसे मेरा वियोग कभी न हो ।' यह सब नामका ही फल था ।

इसके बाद नामजपसे मुझे और भी अधिकतर लाभ हुआ, जिसकी महिमा वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूँ । हाँ, इतना अवश्य कह सकता

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन ।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन ॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ ॥
रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान ।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान ॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल ॥

नामु सप्रेम जपत अनयासा । भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू । भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपने बस करि राखे रामू ॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ । भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका । भए नाम जपि जीव बिसोका ॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥

नाम-महिमामें प्रमाणोंका पार नहीं है । हमारे शास्त्र इससे भरे पड़े हैं परन्तु अधिक विस्तारभयसे यहाँ इतने ही लिखे जाते हैं । संसारमें जितने मत-मतान्तर हैं प्रायः सभी ईश्वरके नामकी महिमाको स्वीकार करते और गाते हैं । अपनी अपनी रुचि और भावके अनुसार नामोंमें भिन्नता रहती है परन्तु परमात्माका नाम कोई-सा भी क्यों न हो, सभी एक-सा काम पहुँचानेवाले हैं । अतएव जिसको जो नाम रुचिकर प्रतीत हो वह उसीके जपका ध्यानसहित अभ्यास करे ।

मेरा अनुभव

कुछ मित्रोंने मुझे इस विषयमें अपना अनुभव लिखनेके लिये अनुरोध किया है, परन्तु जब कि मैंने भगवन्नामका विशेष सख्या-में जप ही नहीं किया तब मैं अपना अनुभव क्या लिखूँ ? भगवत्-कृपासे जो कुछ यत्किञ्चित् नामस्मरण मुझसे हो सका है उसका माहात्म्य भी पूर्णतया लिखा जाना कठिन है ।

नामका अभ्यास मैं लडकपनसे ही करने लगा था । जिससे शनैः-शनैः मेरे मनकी विषयवासना कम होती गयी और पापोंसे हटनेमें मुझे बड़ी ही सहायता मिली । काम-क्रोधादि अवगुण कम होते गये, अन्त.करणमें शान्तिका विकास हुआ । कभी-कभी नेत्र बद करनेसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अच्छा ध्यान भी होने लगा । सासारिक स्फुरणा बहुत कम हो गयी । भोगोंमें वैराग्य हो गया । उस समय मुझे वनवास या एकान्त स्थानका रहन-सहन अनुकूल प्रतीत होता था ।

इस प्रकार अभ्यास होते-होते एक दिन स्वप्नमें श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजीसहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन हुए और उनसे बातचीत भी हुई । श्रीरामचन्द्रजीने वर माँगनेके लिये मुझसे बहुत कुछ कहा पर मेरी इच्छा माँगनेकी नहीं हुई, अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर भी मैंने इसके सिवा और कुछ नहीं माँगा कि 'आपसे मेरा वियोग कभी न हो ।' यह सब नामका ही फल था ।

इसके बाद नामजपसे मुझे और भी अधिकतर लाभ हुआ, जिसकी महिमा वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूँ । हाँ, इतना अवश्य कह सकता

हूँ कि नामजपसे मुझे जितना लाभ हुआ है, उतना श्रीमद्भगवद्गीताके अभ्यासको छोड़कर अन्य किसी भी साधनसे नहीं हुआ।

जब-जब मुझे साधनसे च्युत करनेवाले भारी विघ्न प्राप्त हुआ करते थे, तब-तब मैं प्रेमपूर्वक भावनासहित नामजप करता था और उसीके प्रभावसे मैं उन विघ्नोंसे छुटकारा पाता था। अतएव मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि साधन-पथके विघ्नोंको नष्ट करने और मनमें होनेवाली सांसारिक स्फुरणाओंका नाश करनेके लिये स्वरूप-चिन्तनसहित प्रेमपूर्वक भगवन्नाम जप करनेके समान दूसरा कोई साधन नहीं है। जब कि साधारण सत्यामें भगवन्नामका जप करनेसे ही मुझे इतनी परम शान्ति, इतना अपार आनन्द और इतना अनुपम लाभ हुआ है जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, तब जो पुरुष भगवन्नामका निष्काम भावसे ध्यानसहित नित्य-निरन्तर जप करते हैं, उनके आनन्दकी महिमा तो कौन कह सकता है!

नामजप किसलिये करना चाहिये ?

श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० १।२।१६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है इसी ओंकार रूप अक्षरको जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

श्रुतिके इस कथनके अनुसार कल्पवृक्षरूप भगवन्नामके

प्रतापसे जिस वस्तुको मनुष्य चाहता है, उसे वही मिल सकती है। परन्तु आत्माका कल्याण चाहनेवाले सच्चे प्रेमी भक्तोंको तो निष्काम भावसे ही भजन करना चाहिये। शास्त्रोंमें निष्काम प्रेमी भक्तकी ही अधिक प्रशंसा की गयी है। भगवान्‌ने भी कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १६-१७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझे भजते हैं। उनमें भी नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

इस प्रकार निष्काम प्रेमपूर्वक होनेवाले भगवद्भजनके प्रभावको जो मनुष्य जानता है, वह एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूलता और भगवान् भी उसको नहीं भूलते। भगवान्‌ने स्वयं कहा भी है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत

हूँ कि नामजपसे मुझे जितना लाभ हुआ है, उतना श्रीमद्भगवद्गीताके अभ्यासको छोड़कर अन्य किसी भी साधनसे नहीं हुआ ।

जब-जब मुझे साधनसे च्युत करनेवाले भारी विघ्न प्राप्त हुआ करते थे, तब-तब मैं प्रेमपूर्वक भावनासहित नामजप करता था और उसीके प्रभावसे मैं उन विघ्नोंसे छुटकारा पाता था । अतएव मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि साधन-पथके विघ्नोंको नष्ट करने और मनमें होनेवाली सांसारिक स्फुरणाओंका नाश करनेके लिये स्वरूप-चिन्तनसहित प्रेमपूर्वक भगवन्नाम-जप करनेके समान दूसरा कोई साधन नहीं है । जब कि साधारण संध्यामें भगवन्नामका जप करनेसे ही मुझे इतनी परम शान्ति, इतना अपार आनन्द और इतना अनुपम लाभ हुआ है जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, तब जो पुरुष भगवन्नामका निष्काम भावसे ध्यानसहित नित्य-निरन्तर जप करते हैं, उनके आनन्दकी महिमा तो कौन कह सकता है !

नामजप किसलिये करना चाहिये ?

श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
(कठ १ । २ । १६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकाररूप अक्षरको जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है ।'

श्रुतिके इस कथनके अनुसार परमात्मस्वरूप भगवन्नामके

इसलिये नामजप किसी प्रकारकी भी छोटी-बडी कामनाके लिये न करके केवल भगवत्के विशुद्ध प्रेमके लिये ही करना चाहिये।

नामजप कैसे करना चाहिये ?

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः।

(योग० १ । २७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(योग० १ । २८)

'उस परमात्माके नामजप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योग० १ । २९)

'उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि नामजप नामीके स्वरूपचिन्तन-सहित करना चाहिये। स्वरूपचिन्तनयुक्त नामजपसे अन्तरायोंका नाश और भगवत्-प्राप्ति होती है।

यद्यपि नामी नामके ही अधीन है। श्रीगोस्वामीजी महाराजने कहा है—

देखिअहिं रूप नाम आधीना।
रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥

देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है, क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

भला, सच्चा प्रेमी क्या अपने प्रेमास्पदको छोड़कर कभी दूसरेको मनमें स्थान दे सकता है? जो भाग्यवान् पुरुष परम सुखमय परमात्माके प्रभावको जानकर उसे ही अपना एकमात्र प्रेमास्पद बना लेते हैं, वे तो अहर्निश उसीके प्रिय नामकी स्मृतिमें तल्लीन रहते हैं, वे दूसरी वस्तु न कभी चाहते हैं और न उन्हें सुहाती ही है।

अतएव जहाँतक ऐसी अवस्था न हो वहाँतक ऐसा अभ्यास करना चाहिये। नामोच्चारण करते समय मन प्रेममें इतना मग्न हो जाना चाहिये कि उसे अपने शरीरका भी ज्ञान न रहे। भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेम-भक्ति और भगवत्-साक्षात्कारिता के सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

निष्काम भावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक बहुत शीघ्र अच्छा लाभ उठा सकता है।

यदि कोई शङ्का करे कि बहुत लोग भगवन्नामका जप किया करते हैं परन्तु उनके कोई विशेष लाभ होता हुआ नहीं देखा जाता, तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि उन लोगोंने या तो विधिसहित जपका अभ्यास ही नहीं किया होगा या अपने जप-रूप परमधनके बदलेमें तुच्छ सांसारिक भोगोंको खरीद लिया होगा, नहीं तो उन्हें अवश्य ही विशेष लाभ होता, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसलिये नामजप किसी प्रकारकी भी छोटी-बडी कामनाके लिये न करके केवल भगवत्के विशुद्ध प्रेमके लिये ही करना चाहिये।

नामजप कैसे करना चाहिये ?

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः।

(योग० १ । २७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(योग० १ । २८)

'उस परमात्माके नामजप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योग० १ । २९)

'उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि नामजप नामीके स्वरूपचिन्तन-सहित करना चाहिये। स्वरूपचिन्तनयुक्त नामजपसे अन्तरायोंका नाश और भगवत्-प्राप्ति होती है।

यद्यपि नामी नामके ही अधीन है। श्रीगोस्वामीजी महाराजने कहा है—

देखिअहिं रूप नाम आधीना।
रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें ।
आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ॥

इसलिये स्वरूपचिन्तनकी चेष्टा किये बिना भी केवल नाम-जपके प्रतापसे ही साधकको समयपर भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार अपने-आप ही हो सकता है, परन्तु उसमें विलम्ब हो जाता है। भगवान्के मनमोहन स्वरूपका चिन्तन करते हुए जपका अभ्यास करनेसे बहुत ही शीघ्र लाभ होता है, क्योंकि निरन्तर चिन्तन होनेसे भगवान्की स्मृतिमें अन्तर नहीं पड़ता।

इसीलिये भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(८।७)

'अतएव हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।' भगवान्की इस आज्ञाके अनुसार उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और प्रत्येक सांसारिक कार्य करते समय साधकको नामजपके साथ-ही-साथ मन बुद्धिसे भगवान्के स्वरूपका चिन्तन और निश्चय करते रहना चाहिये। किसी क्षणमात्रके लिये भी उसकी स्मृतिका वियोग न हो।

इसपर यदि कहा जाय कि किस भावका जप अधिक लाभदायक है? और नामके साथ भगवान्के कैसे स्वरूपका ध्यान करना चाहिये? तो इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि

परमात्माके अनेक नाम हैं, उनमेंसे जिस साधककी जिस नाममें अधिक रुचि और श्रद्धा हो, उसे उसी नामके जपसे विशेष लाभ होता है। अतएव साधकको अपनी रुचिके अनुकूल ही भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। एक बात अवश्य है कि जिस नामका जप किया जाय, स्वरूपका चिन्तन भी उसीके अनुसार होना चाहिये। उदाहरणार्थ—

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस मन्त्रका जप करनेवालेको सर्वव्यापी वासुदेवका ध्यान करना चाहिये। 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रका जप करनेवालेको चतुर्भुज श्रीविष्णु भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये। 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रका जप करनेवालेको त्रिनेत्र भगवान् शंकरका ध्यान करना उचित है। केवल ॐकारका जप करनेवालेको सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन शुद्धब्रह्मका चिन्तन करना उचित है। श्रीरामनामका जप करनेवालेको श्रीदशरथनन्दन भगवान् रामचन्द्रजीके स्वरूपका चिन्तन करना लाभप्रद है।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(कलिसं० १)

इस मन्त्रका जप करनेवालेके द्वारा श्रीराम, कृष्ण, विष्णु या सर्वव्यापी ब्रह्म आदि सभी रूपोंका अपनी इच्छा और रुचिके अनुसार ध्यान किया जा सकता है, क्योंकि यह सब नाम सभी रूपोंके वाचक हो सकते हैं।

इन उदाहरणोंसे यही समझना चाहिये कि साधकको गुरुसे जिस नाम-रूपका उपदेश मिला हो, जिस नाम और जिस रूपमें

श्रद्धा, प्रेम और विश्वासकी अधिकता हो तथा जो अपनी आत्माके अनुकूल प्रतीत होता हो, उसे उसी नाम-रूपके जप-ध्यानसे अधिक लाभ हो सकता है।

परन्तु नामजपके साथ ध्यान जरूर होना चाहिये। वस्तवमें नामके साथ नामीकी स्मृति होना अनिवार्य भी है। मनुष्य जिस-जिस वस्तुके नामका उच्चारण करता है उस-उस वस्तुके स्वरूपका स्मृति उसे एक बार अवश्य होती है और जैसी स्मृति होती है, उसीके अनुसार भला-बुरा परिणाम भी अवश्य होता है। जैसे कोई मनुष्य कामके वशीभूत होकर जब किसी स्त्रीका स्मरण करता है तब उसकी स्मृतिके साथ ही उसके शरीरमें काम जाग्रत् होकर वीर्यपातादि दुर्घटनाको पैदा देता है। इसी प्रकार वीररस और करुण-रसप्रधान वृत्तान्तोंकी स्मृतिसे तदनुसार ही मनुष्यकी वृत्तियाँ और उसके भाव बन जाते हैं। साधु पुरुषको याद करनेसे मनमें श्रेष्ठ भावोंकी जागृति होती है और दुराचारीकी स्मृतिसे बुरे भावोंका आविर्भाव होता है। जब लौकिक स्मरणका ऐसा परिणाम अनिवार्य है तब परमात्माके स्मरणसे परमात्माके भाव और गुणोंका अन्तःकरणमें आविर्भाव हो, इसमें तो सन्देह ही क्या है!

अतएव साधकको भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर निष्काम भावसे नित्य-निरन्तर दिन-रात कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए भी ध्यानसहित श्रीभगवन्नामजपकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

सत्सङ्गसे ही नामजपमें श्रद्धा होती है!

नामकी इतनी महिमा होते हुए भी प्रेम और ध्यानयुक्त

भगवन्नाममें लोग क्यों नहीं प्रवृत्त होते ? इसका उत्तर यह है कि भगवत्-भजनके असली मर्मको वही मनुष्य जान सकता है जिसपर भगवान्‌की पूर्ण दया होती है।

यद्यपि भगवान्‌की दया तो सदा ही सबपर समानभावसे है परन्तु जबतक उसकी अपार दयाको मनुष्य पहचान नहीं लेता तबतक उसे उस दयासे लाभ नहीं होता। जैसे किसीके घरमें गड़ा हुआ धन है, परन्तु जबतक वह उसे जानता नहीं तबतक उसे कोई लाभ नहीं होता, परन्तु वही जब किसी जान-कार पुरुषसे जान लेता है और यदि परिश्रम करके उस धनको निकाल लेता है तो उसे लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान्‌की दयाके प्रभावको जाननेवाले पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यको भगवान्‌की नित्य दयाका पता लगता है, दयाके ज्ञानसे भजनका मर्म समझमें आता है, फिर उसकी भजनमें प्रवृत्ति होती है और भजनके नित्य निरन्तर अभ्याससे उसके समस्त सञ्चित पाप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप पूर्ण लाभ मिलता है।

नाममें पापनाशकी स्वाभाविक शक्ति है

यहाँपर यदि कोई शङ्का करे कि यदि भगवान् भजन करने-वालेके पापोंका नाश कर देते हैं या उसे माफी दे देते हैं तो क्या उनमें विषमताका दोष नहीं आता ? इसका उत्तर यह है कि जैसे अग्निमें जलानेकी और प्रकाश करनेकी शक्ति स्वाभाविक है इसी प्रकार भगवन्नाममें भी पापोंके नष्ट करनेकी स्वाभाविक शक्ति है। इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

श्रद्धा, प्रेम और विश्वासकी अधिकता हो तथा जो अपनी आत्माके अनुकूल प्रतीत होता हो, उसे उसी नाम-रूपके जप-ध्यानसे अधिक लाभ हो सकता है।

परन्तु नामजपके साथ ध्यान जरूर होना चाहिये। वास्तवमें नामके साथ नामीकी स्मृति होना अनिवार्य भी है। मनुष्य जिस-जिस वस्तुके नामका उच्चारण करता है उस-उस वस्तुके स्वरूपकी स्मृति उसे एक बार अवश्य होती है और जैसी स्मृति होती है, उसीके अनुसार भला-बुरा परिणाम भी अवश्य होता है। जैसे कोई मनुष्य कामके वशीभूत होकर जब किसी स्त्रीका स्मरण करता है तब उसकी स्मृतिके साथ ही उसके शरीरमें काम जाग्रत् होकर वीर्यपातादि दुर्घटनाको घटा देता है। इसी प्रकार वीररस और करुण-रसप्रधान वृत्तान्तोंकी स्मृतिसे तदनुसार ही मनुष्यकी वृत्तियाँ और उसके भाव बन जाते हैं। साधु पुरुषको याद करनेसे मनमें श्रेष्ठ भावोंकी जागृति होती है और दुराचारीकी स्मृतिसे बुरे भावोंका आविर्भाव होता है। जब लौकिक स्मरणका ऐसा परिणाम अनिवार्य है तब परमात्माके स्मरणसे परमात्माके भाव और गुणोंका अन्तःकरणमें आविर्भाव हो, इसमें तो सन्देह ही क्या है।

अतएव साधकको भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर निष्काम भावसे नित्य-निरन्तर दिन-रात कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए भी ध्यानसहित श्रीभगवन्नामजपकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

सत्सङ्गसे ही नामजपमें श्रद्धा होती है।

नामकी इतनी महिमा होते हुए भी प्रेम और ध्यानयुक्त

भगवन्नाममें लोग क्यों नहीं प्रवृत्त होते ? इसका उत्तर यह है कि भगवत्-भजनके असली मर्मको वही मनुष्य जान सकता है जिसपर भगवान्‌की पूर्ण दया होती है।

यद्यपि भगवान्‌की दया तो सदा ही सबपर समानभावसे है परन्तु जबतक उसकी अपार दयाको मनुष्य पहचान नहीं लेता तबतक उसे उस दयासे लाभ नहीं होता। जैसे किसीके घरमें गड़ा हुआ धन है, परन्तु जबतक वह उसे जानता नहीं तबतक उसे कोई लाभ नहीं होता, परन्तु वही जब किसी जानकार पुरुषसे जान लेता है और यदि परिश्रम करके उस धनको निकाल लेता है तो उसे लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान्‌की दयाके प्रभावको जाननेवाले पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यको भगवान्‌की नित्य दयाका पता लगता है, दयाके ज्ञानसे भजनका मर्म समझमें आता है, फिर उसकी भजनमें प्रवृत्ति होती है और भजनके नित्य निरन्तर अभ्याससे उसके समस्त सञ्चित पाप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप पूर्ण लाभ मिलता है।

नाममें पापनाशकी स्वाभाविक शक्ति है

यहाँपर यदि कोई शङ्का करे कि यदि भगवान् भजन करनेवालेके पापोंका नाश कर देते हैं या उसे माफी दे देते हैं तो क्या उनमें विषमताका दोष नहीं आता ? इसका उत्तर यह है कि जैसे अग्निमें जलानेकी और प्रकाश करनेकी शक्ति स्वाभाविक है इसी प्रकार भगवन्नाममें भी पापोंके नष्ट करनेकी स्वाभाविक शक्ति है। इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मेरेको प्रेमसे भजते हैं वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैसे शीतसे व्यथित अनेक पुरुषोंमेंसे जो पुरुष अग्निके समीप जाकर अग्निका सेवन करता है उसीके शीतका निवारणकर अग्नि उसकी उस व्यथाको मिटा देती है परन्तु जो अग्निके समीप नहीं जाते उनकी व्यथा नहीं मिटती । इससे अग्निमें कोई विषमताका दोष नहीं आता; क्योंकि वह समीपको अपना ताप देकर उनकी व्यथा निवारण करनेको सर्वदा तैयार है । कोई समीप ही न जाय तो अग्नि क्या करे ? इसी प्रकार जो पुरुष भगवान्‌का भजन करता है उसीके अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान् उसके दुःखोंका सर्वथा नाश करके उसका कल्याण कर देते हैं । इसलिये भगवान्‌में विषमताका कोई दोष नहीं आता ।

नाम-भजनसे ही ज्ञान हो जाता है

(शङ्का) यह बात मान ली गयी कि भगवद्भजनसे पापोंका नाश होता है परन्तु परमपदकी प्राप्ति उससे कैसे हो सकती है ? क्योंकि परमपदकी प्राप्ति तो केवल ज्ञानसे होती है ।

(उत्तर) यह ठीक है । परमपदकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती

है; परन्तु श्रद्धा, प्रेम और विश्वासपूर्वक निष्काम भावसे किये जानेवाले भजनके प्रभावसे भगवान् उसे अपना वह ज्ञान प्रदान करते हैं कि जिससे उसे भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्वज्ञान हो जाता है और उससे उस साधकको परमपदकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

> मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
> कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
>
> (गीता १०। ९—११)

'निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले, मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ।'

अतएव निरन्तर प्रेमपूर्वक निष्काम नामजप और स्वरूप-

चिन्तनसे स्वत: ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञानसे साधकको तुरंत ही परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

नामकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये

कुछ भाई नामजपके महत्त्वको नहीं समझनेके कारण उसकी निन्दा कर बैठते हैं, वे कहा करते हैं कि राम-राम करना और टायँ-टायँ करना एक समान ही है। साथ ही यह भी कहा करते हैं कि नामजपके ढोंगसे आलसी बनकर अपने जीवनको नष्ट करना है। इसी तरहकी और भी अनेक बातें कही जाती हैं।

ऐसे भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि बिना ही जाँच किये इस प्रकारसे नामजपकी निन्दा कर जप करनेवालोंके हृदयमें अश्रद्धा उत्पन्न करनेकी बुरी चेष्टा न किया करें, बल्कि कुछ समयतक नामजप करके देखें कि उससे क्या लाभ होता है। व्यर्थ ही निन्दा या उपेक्षाकर पाप-भाजन नहीं बनना चाहिये।

नामजपमें प्रमाद और आलस्य करना उचित नहीं

बहुत-से भाई नामजप या भजनको अच्छा तो समझते हैं, परन्तु प्रमाद या आलस्यवश भजन नहीं करते। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। इस प्रकार दुर्लभ परन्तु क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके जो भजनमें आलस्य करते हैं उन्हें क्या कहा जाय! जीवनका उद्देश्य भजनमें ही है, यदि अभी प्रमादसे इस अमूल्य सुअवसरको खो दिया तो पीछे सिवा पश्चात्तापके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। कबीरजीने कहा है—

मरोगे मरि जाओगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाओगे, छाड़ि बसन्ता गाम॥
आजकालकी पाँच दिन, जंगल होगा वास।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास॥
आज कहे मै काल भजूँ, काल कहे फिर काल।
आजकालके करत ही, औसर जासी चाल॥
काल भजन्ता आज भज, आज भजन्ता अब।
पलमें परलय होयगी, फेर भजेगा कब॥

अतएव आलस्य और प्रमादका परित्याग करके जिस-किस प्रकारसे भी हो, उठते, बैठते, सोते और सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करते हुए सदा-सर्वदा भजन करनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

'मा' बच्चोंको भुलानेके लिये उनके सामने नाना प्रकारके खिलौने डाल देती है, कुछ खानेके पदार्थ उनके हाथमें दे देती है, जो बच्चे उन पदार्थोंमें रमकर 'मा' के लिये रोना छोड़ देते हैं, 'मा' भी उन्हें छोड़कर अपना दूसरा काम करने लगती है, परन्तु जो बच्चा किसी भी भुलावेमें न भूलकर केवल 'मा-मा' पुकारा करता है, उसे 'मा' अवश्य ही अपनी गोदमें लेनेको बाध्य होती है, ऐसे जिद्दी बच्चेके पास घरके सारे आवश्यक कामोंको छोड़कर भी माको तुरत आना और उसे अपने हृदयसे लगाकर दुलारना पड़ता है, क्योंकि माता इस बातको जानती है कि यह बच्चा मेरे सिवा और किसी विषयमें भी नहीं भूलता है।

चिन्तनसे स्वत: ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञानसे साधकको सत्वर ही परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

नामकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये

कुछ भाई नामजपके महत्त्वको नहीं समझनेके कारण उसकी निन्दा कर बैठते हैं, वे कहा करते हैं कि राम-राम करना और टाँयँ-टाँयँ करना एक समान ही है। साथ ही यह भी कहा करते हैं कि नामजपके ढोंगसे आलसी बनकर अपने जीवनको नष्ट करना है। इसी तरहकी और भी अनेक बातें कही जाती हैं।

ऐसे भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि बिना ही जाँच किये इस प्रकारसे नामजपकी निन्दा कर जप करनेवालोंके हृदयमें अश्रद्धा उत्पन्न करनेकी बुरी चेष्टा न किया करें, बल्कि कुछ समयतक नामजप करके देखें कि उससे क्या लाभ होता है। व्यर्थ ही निन्दा या उपेक्षाकर पाप-भागी नहीं बनना चाहिये।

नामजपमें प्रमाद और आलस्य करना उचित नहीं

बहुत-से भाई नामजप या भजनको अच्छा तो समझते हैं; परन्तु प्रमाद या आलस्यवश भजन नहीं करते। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। इस प्रकार दुर्लभ परन्तु क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके जो भजनमें आलस्य करते हैं उन्हें क्या कहा जाय? जीवनका सदुपयोग भजनमें ही है, यदि अभी प्रमादसे इस अमूल्य सुअवसरको खो दिया तो पीछे सिवा पश्चात्तापके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। कबीरजीने कहा है—

चिन्तनसे स्वतः ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञानसे साधकको सत्वर ही परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

नामकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये

कुछ भाई नामजपके महत्त्वको नहीं समझनेके कारण उसकी निन्दा कर बैठते हैं, वे कहा करते हैं कि राम-राम करना और टर्रे-टर्रे करना एक समान ही है। साथ ही यह भी कहा करते हैं कि नामजपके ढोंगसे आलसी बनकर अपने जीवनको नष्ट करना है। इसी तरहकी और भी अनेक बातें कही जाती हैं।

ऐसे भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि बिना ही जाँच किये इस प्रकारसे नामजपकी निन्दा कर जप करनेवालोंके हृदयमें अश्रद्धा उत्पन्न करनेकी बुरी चेष्टा न किया करें, बल्कि कुछ समयतक नामजप करके देखें कि उससे क्या लाभ होता है। व्यर्थ ही निन्दा या उपेक्षाकर पाप-भाजन नहीं बनना चाहिये।

नामजपमें प्रमाद और आलस्य करना उचित नहीं

बहुत-से भाई नामजप या भजनको अच्छा तो समझते हैं; परन्तु प्रमाद या आलस्यवश भजन नहीं करते। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। इस प्रकार दुर्लभ परन्तु क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके जो भजनमें आलस्य करते हैं उन्हें क्या कहा जाय? जीवनका सदुपयोग भजनमें ही है, यदि अभी प्रमादसे इस अमूल्य सुअवसरको खो दिया तो पीछे सिवा पश्चात्तापके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। कबीरजीने कहा है—

मरोगे मरि जाओगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाओगे, छाड़ि बसन्ता गाम॥
आजकालकी पाँच दिन, जंगल होगा वास।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास॥
आज कहे मैं काल भजूँ, काल कहे फिर काल।
आजकालके करत ही, औसर जासी चाल॥
काल भजन्ता आज भज, आज भजन्ता अब।
पलमें परलय होयगी, फेर भजेगा कब॥

अतएव आलस्य और प्रमादका परित्याग करके जिस-किस प्रकारसे भी हो, उठते, बैठते, सोते और सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करते हुए सदा-सर्वदा भजन करनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

'मा' बच्चोंको भुलानेके लिये उनके सामने नाना प्रकारके खिलौने डाल देती है, कुछ खानेके पदार्थ उनके हाथमें दे देती है, जो बच्चे उन पदार्थोंमें रमकर 'मा' के लिये रोना छोड़ देते हैं, 'मा' भी उन्हें छोड़कर अपना दूसरा काम करने लगती है, परन्तु जो बच्चा किसी भी भुलावेमें न भूलकर केवल 'मा-मा' पुकारा करता है, उसे 'मा' अवश्य ही अपनी गोदमें लेनेको बाध्य होती है, ऐसे जिद्दी बच्चेके पास घरके सारे आवश्यक कामोंको छोड़कर भी माको तुरत आना और उसे अपने हृदयसे लगाकर दुलारना पड़ता है, क्योंकि माता इस बातको जानती है कि यह बच्चा मेरे सिवा और किसी विषयमें भी नहीं भूलता है।

इसी प्रकार भगवान् भी भक्तकी परीक्षाके लिये उसकी इच्छानुसार उसे अनेक प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर भुलाना चाहते हैं। जो उनमें भूल जाता है वह तो इस परीक्षामें अनुत्तीर्ण होता है; परन्तु जो भाग्यवान् भक्त संसारके समस्त पदार्थोंको तुच्छ, क्षणिक और नाशवान् समझकर उन्हें लात मार देता है और प्रेममें मग्न होकर सच्चे मनसे उस सच्चिदानन्दमयी माताके मिलनेके लिये ही लगातार रोया करता है, ऐसे भक्तके लिये सम्पूर्ण कार्मोंको छोड़कर भगवान्‌को स्वयं तुरंत आना पड़ता है। महात्मा कबीरजी कहते हैं—

> केशव केशव कूकिये, न कूकिये असार।
> रात दिवसके कूकते, कमी तो सुनें पुकार॥
> राम नाम रटते रहो, जबलग घटमें प्रान।
> कबहुँ तो दीनदयालके, भनक परेगी कान॥

इसलिये संसारके समस्त विषयोंको विषके तुल्य समझते हुए उनसे मन हटाकर श्रीपरमात्माके पावन नामके जपमें लग जाना ही परम कर्तव्य है। जो परमात्माके नामका जप करता है दयालु परमात्मा उसे शीघ्र ही भव-बन्धनसे मुक्त कर देते हैं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर न्यायकारी हैं भजनवालेके ही पापोंका नाश करके उसे परमगति प्रदान करते हैं तो फिर उन्हें दयालु क्यों कहना चाहिये?

यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। संसारके बड़े-बड़े राजा महाराजा अपने उपासकोंको नाना प्रकारके पदार्थ देकर सन्तुष्ट

करते हैं परन्तु भगवान् ऐसा नहीं करते, उनका तो यह नियम है कि उनको जो जिस भावसे भजता है उसको वे भी उसी भावसे भजते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४।११)

परमात्मा छोटे-बड़ेका कोई खयाल नहीं करते। एक छोटे-से-छोटा व्यक्ति परमात्माको जिस भावसे भजता है, उनके साथ जैसा बर्ताव करता है, वे भी उसको वैसे ही भजते और वैसा ही बर्ताव करते हैं। यदि कोई उनके लिये रोकर व्याकुल होता है तो वे भी उससे मिलनेके लिये उसी प्रकार अकुला उठते हैं। यह उनकी कितनी दयाकी बात है।

अतएव इस अनित्य, क्षणभङ्गुर, नाशवान् संसारके समस्त मिथ्या भोगोंको छोड़कर उस सर्वशक्तिमान् न्यायकारी शुद्ध परम दयालु सच्चे प्रेमी परमात्माके पावन नामका निष्काम प्रेमभावसे ध्यानसहित सदा-सर्वदा जप करते रहना चाहिये।

संसारके समस्त दुःखोंसे मुक्त होकर ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप ही सर्वोपरि युक्तियुक्त साधन है।

इसी प्रकार भगवान् भी भक्तकी परीक्षाके लिये उसकी इच्छानुसार उसे अनेक प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर भुलाना चाहते हैं। जो उनमें भूल जाता है वह तो इस परीक्षामें अनुत्तीर्ण होता है; परन्तु जो भाग्यवान् भक्त संसारके समस्त पदार्थोंको तुच्छ, क्षणिक और नाशवान् समझकर उन्हें लात मार देता है और प्रेममें मग्न होकर सच्चे मनसे उस सच्चिदानन्दमयी माताسے मिलनेके लिये ही लगातार रोया करता है, ऐसे भक्तके लिये सम्पूर्ण कार्योंको छोड़कर भगवान्‌को स्वयं तुरंत आना पड़ता है। महात्मा कबीरजी कहते हैं—

> केशव केशव कूकिये, न कूकिये असार।
> रात दिवसके कूकते, कभी तो सुनें पुकार॥
> राम नाम रटते रहो, जबलग घटमें प्रान।
> कबहुँ तो दीनदयालके, भनक परेगी कान॥

इसलिये संसारके समस्त विषयोंको विषके लड्डू समझते हुए उनसे मन हटाकर श्रीपरमात्माके पावन नामके जपमें लग जाना ही परम कर्तव्य है। जो परमात्माके नामका जप करता है दयालु परमात्मा उसे शीघ्र ही भव-बन्धनसे मुक्त कर देते हैं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर न्यायकारी हैं भजनेवालेके ही पापोंका नाश करके उसे परमगति प्रदान करते हैं तो फिर उन्हें दयालु क्यों कहना चाहिये?

यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। संसारके बड़े-बड़े राजा महाराजा अपने उपासकोंको धन आदि पदार्थ देकर सन्तुष्ट

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(१२ । ३ । ५२)

'सत्ययुगमें निरन्तर विष्णुका ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञद्वारा यजन करनेसे और द्वापरमें पूजा (उपासना) करनेसे जिस परम-गतिकी प्राप्ति होती है वही कलियुगमें केवल नाम-कीर्तनसे मिल जाती है ।'

जैसे अरणीकी लकड़ियोंको मथनेसे अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार सच्चे हृदयकी प्रेमपूरित पुकारकी रगड़से अर्थात् उस भगवान्‌के प्रेममय नामोच्चारणकी गम्भीर ध्वनिके प्रभावसे भगवान् भी प्रकट हो जाते हैं । महर्षि पतञ्जलिने भी अपने योगदर्शनमें कहा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः । (२ । ४४)

'नामोच्चारसे इष्टदेव परमेश्वरके साक्षात् दर्शन होते हैं ।'

जिस तरह सत्य-सङ्कल्पवाला योगी जिस वस्तुके लिये सङ्कल्प करता है वही वस्तु प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है, उसी तरह शुद्ध अन्तःकरणवाला भगवान्‌का सच्चा अनन्य प्रेमी भक्त जिस समय भगवान्‌के प्रेममें मग्न होकर भगवान्‌की जिस प्रेममयी मूर्तिके दर्शन करनेकी इच्छा करता है उस रूपमें ही भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते हैं । गीता अध्याय ११ श्लोक ५४ में भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार

भगवान्‌के दर्शन प्रत्यक्ष हो सकते हैं

बहुत-से सज्जन मनमें शङ्का उत्पन्न कर इस प्रकारके प्रश्न किया करते हैं कि दो प्यारे मित्र जैसे आपसमें मिलते हैं क्या इसी प्रकार इस कलिकालमें भी भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन मिल सकते हैं? यदि सम्भव है तो ऐसा कौन-सा उपाय है कि जिससे हम उस मनोमोहिनी मूर्तिका शीघ्र ही दर्शन कर सकें? साथ ही यह भी जानना चाहते हैं, क्या वर्तमान कालमें ऐसा कोई पुरुष संसारमें है जिसको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान् मिले हों?

वास्तवमें तो इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर वे ही महान् पुरुष दे सकते हैं जिनको भगवान्‌की उस मनोमोहिनी मूर्तिका साक्षात् दर्शन हुआ हो।

यद्यपि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ तथापि परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे केवल अपने मनोविनोदार्थ तीनों प्रश्नोंके सम्बन्धमें क्रमशः कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ।

(१) जिस तरह सत्ययुग आदिमें ध्रुव, प्रह्लादादिको साक्षात् दर्शन होनेके प्रमाण मिलते हैं उसी तरह कलियुगमें भी सूरदास, तुलसीदासादि बहुत-से भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन होनेका इतिहास मिलता है। बल्कि विष्णुपुराणादिमें तो सत्ययुगादिकी अपेक्षा कलियुगमें भगवत्-दर्शन होना बड़ा ही सुगम बताया है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

बैठ जाते हैं या थोड़े-से साधनोंमें ही निराश-से हो जाया करते हैं। द्रव्य-उपार्जनके बराबर भी परिश्रम नहीं करते।

बहुत-से भाई कहा करते हैं कि हमने बहुत चेष्टा की परन्तु प्राणप्यारे परमेश्वरके दर्शन नहीं हुए। उनसे यदि पूछा जाय कि क्या तुमने फाँसीके मामलेसे छूटनेकी तरह भी कभी सांसारिक जन्म-मरण-रूपी फाँसीसे छूटनेकी चेष्टा की? घृणास्पद, निन्दनीय स्त्रीके प्रेमके वशीभूत होकर उसके मिलनेकी चेष्टाके समान भी कभी भगवान्‌से मिलनेकी चेष्टा की? यदि नहीं, तो फिर यह कहना कि भगवान् नहीं मिलते, सर्वथा व्यर्थ है।

जो मनुष्य शर-शय्यापर शयन करते हुए पितामह भीष्मके सदृश भगवान्‌के ध्यानमें मस्त होते हैं, भगवान् भी उनके ध्यानमें उसी तरह मग्न हो जाते हैं। गीता अध्याय ४ श्लोक ११ में भी भगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'हे अर्जुन! जो मुझको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।'

भगवान्‌के निरन्तर नामोच्चारके प्रभावसे जब क्षण-क्षणमें रोमाञ्च होने लगते हैं, तब उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश होकर उसको भगवान्‌के सिवा और कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। विरह-वेदनासे अत्यन्त व्याकुल होनेके कारण नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लग जाती है तथा जब वह त्रैलोक्यके ऐश्वर्यको लात मारकर गोपियोंकी तरह पागल हुआ विचरता है और जलसे बाहर निकाली हुई मछलीके समान भगवान्‌के लिये तड़पने लगता है, उसी समय

(चतुर्भुज) रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

एक प्रेमी मनुष्यको यदि अपने दूसरे प्रेमीसे मिलनेकी उत्कट इच्छा हो जाती है और यह खबर यदि दूसरे प्रेमीको मालूम हो जाती है तो वह स्वयं बिना मिले नहीं रह सकता, फिर भला यह कैसे सम्भव है कि जिसके समान प्रेमके रहस्यको कोई भी नहीं जानता वह प्रेममूर्ति परमेश्वर अपने प्रेमी भक्तसे बिना मिले रह सके ?

अतएव सिद्ध होता है कि वह प्रेममूर्ति परमेश्वर सब काल तथा सब देशमें सब मनुष्योंको भक्तिवश होकर अवश्य ही प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं।

(२) भगवान्‌के मिलनेके बहुत-से उपायोंमेंसे सर्वोत्तम उपाय है 'सच्चा प्रेम'। उसीको शास्त्रकारोंने अव्यभिचारिणी भक्ति, भगवान्‌में अनुरक्ति, प्रेमा भक्ति और विशुद्ध भक्ति आदि नामोंसे कहा है।

जब सत्सङ्ग, भजन, चिन्तन, निर्मलता, वैराग्य, उपरति, उत्कट इच्छा और परमेश्वरविषयक व्याकुलता क्रमसे होती है तब भगवान्‌में सच्चा, विशुद्ध प्रेम होता है।

शोक तो इस बातका है कि बहुत-से भाइयोंको तो भगवान्‌के अस्तित्वमें ही विश्वास नहीं है। कितने भाइयोंको यदि विश्वास है भी, तो वे क्षणभङ्गुर नाशवान् विषयोंके मिथ्या सुखमें लिप्त रहनेके कारण उस प्राणप्यारेके मिलनके प्रभावको और महत्त्वको ही नहीं जानते। यदि कोई कुछ सुन-सुनाकर तथा कुछ विश्वास करके उसके प्रभावको कुछ जान भी लेते हैं तो अल्प चेष्टासे ही सन्तुष्ट होकर

प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय

आनन्दमय भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होनेके लिये सर्वोत्तम उपाय 'सच्चा प्रेम' है। वह प्रेम किस प्रकार होना चाहिये और कैसे प्रेमसे भगवान् प्रकट होकर प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं? इस विषयमें आपकी सेवामें कुछ निवेदन किया जाता है।

अनेक विघ्न उपस्थित होनेपर भी ध्रुवकी तरह भगवान्‌के ध्यानमें अचल रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भक्त प्रह्लादकी तरह राम-नामपर आनन्दपूर्वक सब प्रकारके कष्ट सहन करनेके लिये एवं तीक्ष्ण तलवारकी धारसे मस्तक कटानेके लिये सर्वदा प्रस्तुत रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

श्रीलक्ष्मणकी तरह कामिनी-काञ्चनको त्यागकर भगवान्‌के लिये वन-गमन करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

ऋषिकुमार सुतीक्ष्णकी तरह प्रेमोन्मत्त होकर विचरनेसे भगवान् मिल सकते हैं।

श्रीरामके शुभागमनके समाचारसे सुतीक्ष्णकी कैसी विलक्षण स्थिति होती है इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बड़े ही प्रभावशाली शब्दोंमें किया है। भगवान् शिवजी उमासे कहते हैं—

आनन्दकन्द प्यारे श्यामसुन्दरकी मोहिनी मूर्तिका दर्शन होता है। यही है उस भगवान्‌से मिलनेका सच्चा उपाय।

यदि किसीको भी भगवान्‌के मिलनेकी सच्ची इच्छा हो तो उसे चाहिये कि वह रुक्मिणी, सीता और व्रजबालाओंकी तरह सच्चे प्रेमपूरित हृदयसे भगवान्‌से मिलनेके लिये विलाप करे।

(१) यद्यपि प्रकटमें तो ऐसे पुरुष कलिकालमें नहीं दिखायी देते जिनको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए हों, तथापि सर्वथा न हों यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रह्लाद आदिकी तरह हजारोंमेंसे कोई, कारणविशेषसे ही किसी एककी लोकप्रसिद्धि हो जाया करती है, नहीं तो ऐसे लोग इस बातको विख्यात करनेके लिये अपना कोई प्रयोजन ही नहीं समझते।

यदि यह कहा जाय कि संसार हितके लिये सबको यह बतलाना उचित है, सो ठीक है, परन्तु ऐसे श्रद्धालु श्रोता भी मिलने कठिन हैं तथा बिना पात्रके विश्वास होना भी कठिन है। यदि बिना पात्रके कहना आरम्भ कर दिया जाय तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता और न कोई विश्वास ही करता है।

अब हमें विश्वास करना चाहिये कि ऐसे पुरुष संसारमें अवश्य हैं जिनको उपर्युक्त प्रकारसे दर्शन हुए हैं। परन्तु उनके न मिलनेमें हमारी अश्रद्धा ही हेतु है और न विश्वास करनेकी अपेक्षा विश्वास करना ही सबके लिये लाभदायक है, क्योंकि भगवान्‌से सच्चा प्रेम करनेमें तथा उन चित्रोंकी तरह भगवान्‌की मनोमोहिनी मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन मिलनेमें विश्वास ही मूल कारण है।

के समय प्रेममूर्ति भरतजीकी कैसी विलक्षण दशा थी, इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बहुत अच्छा किया है--

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

होइहैं सुफल आजु मम लोचन ।
देखि बदन पंकज भव मोचन ॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी ।
कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा ।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा ॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई ।
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई ॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई ।
प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई ॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा ।
प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा ॥
मुनि मग माझ अचल होइ बैसा ।
पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए ।
देखि दसा निज जन मन भाए ॥

राम सुसाहेब संत प्रिय सेवक दुख दारिद दवन ।
मुनि सन प्रभु कह आइ उठु उठु द्विज मम प्रान सम ॥

श्रीहनुमान्‌जीकी तरह प्रेममें विह्वल होकर अति श्रद्धासे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं ।

कुमार भरतकी तरह राम-दर्शनके लिये प्रेममें विह्वल होनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं । चौदह सालकी अवधि पूरी होने-

के समय प्रेममूर्ति भरतजीकी कैसी विलक्षण दशा थी, इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बहुत अच्छा किया है—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा ॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी ॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई ॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना ॥

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात ॥

हनुमान्‌के साथ वार्तालाप होनेके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजीसे भरत-मिलाप होनेके समयका वर्णन इस प्रकार है। शिवजी महाराज देवी पार्वतीसे कहते हैं—

राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुअन धनी॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥
बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥
अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥

मान-प्रतिष्ठाको त्याग कर श्रीअक्रूरजीकी तरह भगवान्‌के चरण-कमलोंसे चिह्नित रजमें लोटनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

पदानि　　तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः　प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति॥

देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
सन्देशाद्यो　हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः॥

(श्रीमद्भा० १०।३८।२५—२७)

जिनके चरणोंकी परम पावन रजको सम्पूर्ण लोकपाल जन आदरपूर्वक मस्तकपर चढ़ाते हैं ऐसे पृथ्वीके आभूषणरूप पद,

यव, अङ्कुशादि अपूर्व रेखाओंसे अङ्कित श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंको गोकुलमें प्रवेश करते समय अक्रूरजीने देखा ।

उनको देखते ही आह्लादसे व्याकुलता बढ़ गयी, प्रेमसे शरीरमें रोमाञ्च हो आये, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगे । अहो ! यह प्रभुके चरणोंकी धूलि है ऐसे कहते हुए रथसे उतरकर अक्रूरजी वहाँ लोटने लगे ।

देहधारियोंका यही एक प्रयोजन है कि गुरुके उपदेशानुसार निर्दम्भ, निर्भय और विगतशोक होकर भगवान्‌की मनोमोहिनी मूर्तिका दर्शन और उनके गुणोंका श्रवणादि करके अक्रूरकी भाँति हरिकी भक्ति करें ।

गोपियोंके प्रेमको देखकर ज्ञान और योगके अभिमानको त्यागनेवाले उद्धवकी तरह प्रेममें विह्वल होनेपर भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं ।

एक पलको प्रलयके समान बितानेवाली रुक्मिणीके सदृश श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये हार्दिक विलाप करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं ।

महात्माओंकी आज्ञामें तत्पर हुए राजा मयूरध्वजकी तरह मौका पड़नेपर अपने पुत्रका मस्तक चीरनेमें भी नहीं हिचकनेवाले प्रेमी भक्तको भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं ।

श्रीनरसी मेहताकी तरह लज्जा, मान, बड़ाई और भयको छोड़कर भगवान्‌के गुण गानमें मग्न होकर विचरनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं ।

'बी० ए०' 'एम्० ए०' 'आचार्य' आदि परीक्षाओंकी तरह भक्त प्रह्लादकी तरह नवधा भक्तिकी * सभी परीक्षा देनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भगवान् केवल दर्शन ही नहीं देते परं द्रौपदी, गजेन्द्र, शबरी, विदुरादिकी तरह प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुओंको वे स्वयं प्रकट होकर खा सकते हैं।

> पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
> तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
> (गीता ९ । २६)

पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ। अतएव सबको चाहिये कि परम प्रेम और उत्कण्ठाके साथ भगवद्दर्शनके लिये व्याकुल हों।

---

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(श्रीमद्भा ७ । ५ । २३)

उपासनाका तत्त्व

शास्त्र और महात्माओंके अनुभवसे यह सिद्ध है कि साकार और निराकार दोनों प्रकारके उपासकोंको परमगति प्राप्त हो सकती है। साकारके उपासकको सगुण भगवान्‌के दर्शन भी हो सकते हैं, निराकारके उपासकको उसकी इच्छा न रहनेके कारण नहीं होते। साकार ईश्वरकी उपासना ईश्वरका प्रभाव समझकर की जानेसे सफलता शीघ्र होती है। साकार ईश्वरके प्रभावको समझनेका यही मतलब है कि साधक उस एक ईश्वरको ही सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् समझे। जिस शिव या विष्णुरूपकी वह उपासना करे, उसके लिये उसे यह न समझना चाहिये कि मेरा इष्टदेव ईश्वर केवल इस मूर्तिमें ही है, और कहीं नहीं है। ईश्वरमें इस तरहकी परिमित बुद्धि एक तरहका तामस ज्ञान है। गीता अध्याय १८ श्लोक २२ में इसकी निन्दा की गयी है। इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्तिपूजा नहीं करनी चाहिये अथवा कोई भाई सरलभावसे तत्त्व न समझकर केवल मूर्तिमात्रमें ईश्वर समझकर ही उसकी उपासना न करें। किसी भी भाँति उपासनामें प्रवृत्त होना तो सर्वथा उपासना न करनेकी अपेक्षा उत्तम ही है, परन्तु यह ज्ञान अल्प होनेके कारण इससे की हुई उपासनाका फल बहुत देरसे होता है। अल्पज्ञानकी उपासनामें यदि हानि है तो केवल

परन्तु परमात्मा तो उसका भी कारण होनेसे महाकारण है। प्रकृति जड होनेसे अपने जडकार्यका कारण हो सकती है परन्तु वह चैतन्य परमात्माका कारण नहीं हो सकती। अतएव परमात्मा ही सबका महाकारण है, वही जड-चेतन सबमें सदा पूर्णरूपसे स्थित है। सबके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता, वह नित्य अनादि है।

निराकार ब्रह्मका स्वरूप सत्, विज्ञान, अनन्त, आनन्दघन है। 'सत्' उसे कहते हैं, जिसका कभी अभाव या परिवर्तन न हो, जिसमें कभी कोई विकार न हो और जो सदा एकरस एक-रूप रहे। 'विज्ञान' से बोध, चेतन, शुद्ध ज्ञान समझना चाहिये। 'अनन्त' उसे कहते हैं, जिसकी कोई सीमा न हो, कोई माप-तौल न हो, जिसका कहीं आदि-अन्त न हो, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्-से-महान् हो, समस्त संसार जिसके एक अंशमें स्थित हो। 'आनन्दघन' से केवल आनन्द-ही-आनन्द समझना चाहिये, 'घन' का अर्थ यह है कि उसमें आनन्दके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुको किसी प्रकार भी अवकाश नहीं है, जैसे बर्फमें जल घन है इसी प्रकार परमात्मा आनन्दघन है। बर्फ तो साकार जड कठोर है परन्तु परमात्मा चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, निराकार है। इस प्रकारका निराकार परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है।

परमात्माकी आनन्दरूपताका वर्णन नहीं हो सकता, वह अनिर्वचनीय है। यदि आपको किसी समय किसी कारणसे महान् आनन्दकी प्राप्ति हुई हो तो उसे स्मरण कीजिये। उससे बड़ा

आनन्द वह है जो सच्चे मनसे किये हुए सत्सङ्ग, भजन या ध्यान-द्वारा उत्पन्न होता है, जिसका वर्णन गीताके अध्याय १८ श्लोक ३६ ३७ में है। इस सुखके सामने भोगसुख सूर्यके सामने खद्योतके सदृश भी नहीं है। परन्तु यह सुख भी उस परम आनन्दरूप ब्रह्मका एक अणुमात्र ही है; क्योंकि ब्रह्मानन्दके अतिरिक्त अन्य आनन्दघन नहीं हैं, एक सीमामें हैं, उनमें दूसरोंका अवकाश है।

इसी आनन्दरूप परमात्माका सब विस्तार है। इस परमात्मामें संसार वैसे ही समाया हुआ है, जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब। वास्तवमें है नहीं, समाया हुआ-सा प्रतीत होता है। दर्पण तो जड और कठोर है परन्तु वह परमात्मा परम सुखरूप होनेपर भी चेतन है तथा वह इस प्रकार घनरूपसे व्याप्त है कि उसकी किसीसे तुलना ही नहीं की जा सकती। उसकी घनता किसी पत्थर, शिला, बर्फ आदि-जैसी नहीं है, इनमें तो अन्य पदार्थोंके लिये गुंजाइश भी है परन्तु उसमें किसीके लिये कुछ भी गुंजाइश नहीं है। जैसे इस शरीरमें 'मैं' (आत्मा) इतना सूक्ष्म घन है कि उसके अंदर दूसरेको कभी स्थान नहीं मिल सकता। शरीर, मन, बुद्धि आदिमें किसी दूसरेका प्रवेश हो सकता है; परन्तु उस आत्मामें किसीका प्रवेश किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वह सर्वव्यापी निराकार परमात्मा भी घन है।

उसकी चेतनता भी विलक्षण है। इस शरीरमें जितनी वस्तुएँ हैं वह सब जड हैं, इनको जाननेवाला चेतन है। जो पदार्थ किसीके द्वारा जाना जाता है वह जड है, दृश्य है, वह

आत्माको नहीं जान सकता। हाथ-पैर आत्माको नहीं जानते, पर आत्मा उनको जानता है। वही सबको जानता है, ज्ञान ही उसका स्वरूप है, वह ज्ञान ही परमेश्वर है जो सब जगह है। ऐसी कोई जगह नहीं है जो उससे रहित हो, इसीसे श्रुति उसे कहती है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'

वही ब्रह्म भक्तोंके प्रेमवश उनके उद्धारार्थ साकाररूपसे प्रकट होकर उन्हें दर्शन देते हैं। उनके साकार रूपोंका वर्णन मनुष्यकी बुद्धिके बाहर है, क्योंकि वह अनन्त हैं। भक्त जिस रूपसे उन्हें देखना चाहता है वह उसी रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन देते हैं। भगवान्‌का साकार रूप धारण करना भगवान्‌के अधीन नहीं, पर प्रेमी भक्तोंके अधीन है। अर्जुनने पहले विश्वरूप-दर्शनकी इच्छा प्रकट की, फिर चतुर्भुजकी और तदनन्तर द्विभुजकी। भक्तभावन भगवान् कृष्णने अर्जुनको उसकी इच्छानुसार थोड़ी ही देरमें तीनों रूपोंसे दर्शन दे दिये और उसे निराकारका भाव भी भलीभाँति समझा दिया। इसी प्रकार जो भक्त परमात्माके जिस स्वरूपकी उपासना करता है उसको उसी रूपके दर्शन हो सकते हैं।

अतएव उपासनाके स्वरूप-परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं। भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, नृसिंह, देवी, गणेश आदि किसी भी रूपकी उपासना की जाय, सब उसीकी होती है। भजनमें कुछ भी बदलनेकी जरूरत नहीं है। बदलनेकी जरूरत है, यदि परमात्मामें अल्पबुद्धि हो तो उसकी। भक्तको

चाहिये वह अपने इष्टदेवकी उपासना करता हुआ सदा यह समझता रहे कि मैं जिस परमात्माकी उपासना करता हूँ वही परमेश्वर निराकाररूपसे चराचरमें व्यापक है, सर्वज्ञ है, सब कुछ उसीकी दृष्टिमें हो रहा है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत्, चित्, आनन्दघन मेरा इष्टदेव परमात्मा ही अपनी लीलासे भक्तोंके उद्धारके लिये उनकी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारणकर अनेक लीला करता है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवाले पुरुषके लिये परमात्मा कभी अदृश्य नहीं होते और न वह कभी परमात्मासे अदृश्य होता है।

श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता, क्योंकि वह एकीभावसे मुझमें ही स्थित है।' निराकार-साकारमें कोई अन्तर नहीं है, जो भगवान् निराकार हैं वही साकार बनते हैं।

भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४।६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा और सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' क्यों प्रकट होते हैं? इस प्रश्नका उत्तर भी भगवान् ही देते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करने तथा धर्म-स्थापनके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

इस प्रकार अविनाशी निर्विकार परमात्मा जगत्के उद्धारके लिये भक्तोंके प्रेमवश अपनी इच्छासे आप अवतीर्ण होते हैं। वे प्रेममय हैं, उनकी प्रत्येक क्रिया प्रेम और दयासे ओतप्रोत है। वे जिनका संहार करते हैं उनका भी उद्धार ही करते हैं। उनका संहार भी परम प्रेमका ही उपहार है, परन्तु अज्ञ जगत् उनके दिव्य जन्म-कर्मोंकी लीलाका यथार्थ रहस्य न समझकर नाना प्रकारके सन्देह करता है। भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४।९)

चाहिये वह अपने इष्टदेवकी उपासना करता हुआ सदा यह समझता रहे कि मैं जिस परमात्माकी उपासना करता हूँ वही परमेश्वर निराकाररूपसे चराचरमें व्यापक है, सर्वज्ञ है, सब कुछ उसीकी दृष्टिमें हो रहा है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत्, चित्, आनन्दघन मेरा इष्टदेव परमात्मा ही अपनी लीलासे भक्तोंके उद्धारके लिये उनकी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारणकर अनेक लीला करता है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवाले पुरुषके लिये परमात्मा कभी अदृश्य नहीं होते और न वह कभी परमात्मासे अदृश्य होता है।

श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह एकीभावसे मुझमें ही स्थित है।' निराकार-साकारमें कोई अन्तर नहीं है, जो भगवान् निराकार हैं वही साकार बनते हैं।

भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४। ६)

प्रकारका स्वार्थ या अपना प्रयोजन नहीं है, कोई कामना नहीं है, किसी पापका लेश नहीं है, मलरहित हैं, इसलिये वे शुद्ध हैं। उनके-जैसे कर्म जगत्में कोई नहीं कर सकता। ब्रह्मा, इन्द्रादि भी उनके कर्मोंको देखकर मोहित हो जाते हैं। जगत्के लोगोंकी कल्पनामें भी जो बात नहीं आ सकती, जो बिल्कुल असम्भव है, उसको भी सम्भव कर देते हैं, अघटन घटा देते हैं, जीवन्मुक्त या कारक सबकी अपेक्षा अद्भुत हैं, इसलिये वे अलौकिक हैं। उनका अवतार सर्वथा शुद्ध है। अपनी लीलासे ही आप प्रकट होते हैं। वे प्रेमरूप होकर ही सगुणरूपमें प्रकट होते हैं। प्रेम ही उनकी महिमामयी मूर्ति है, इसलिये प्रेमी पुरुष ही उनको पहचान सकते हैं। इस तत्त्वको समझकर जो प्रेमसे उनकी उपासना करते हैं, वे भाग्यवान् बहुत ही शीघ्र उन प्रेममयके प्रेमपूर्ण वदनारविन्दका दर्शन कर कृतार्थ होते हैं। अतएव शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सब उनके चारु चरणोंमें अर्पण कर दिन-रात उन्हींके चिन्तनमें लगे रहना चाहिये। उनका प्रेमपूर्ण आदेश और आश्वासन स्मरण कीजिये—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२। ८)

'मुझमें मन लगा दो, मुझमें ही बुद्धि लगा दो, ऐसा करनेपर मुझमें ही निवास करोगे अर्थात् मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

'हे अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीर त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह तो मुझे ही प्राप्त होता है ।'

सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्वभूतोंके परम गति और परम आश्रय हैं । वे केवल धर्मकी स्थापना और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं । अतएव उन परमेश्वरके समान सुहृद् प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है, यों समझकर जो पुरुष उनका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित होकर संसारमें बर्तता है वही वास्तवमें उनको तत्त्वसे जानता है । ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुषको इस दुःखरूप संसारमें फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता ।

भगवान्‌के जन्म-कर्म कैसे दिव्य हैं, इस तत्त्वको जो समझ लेता है वही सच्चा भाग्यवान् पुरुष है । उज्ज्वल, प्रकाशमय, विशुद्ध, अलौकिक आदि शब्द दिव्यके पर्यायवाची हैं । भगवान्‌के जन्म-कर्मोंमें ये सभी घटित होते हैं । उनके कर्म संसारमें विस्तृत होकर सबके हृदयोंपर असर करते हैं, कर्मोंकी कीर्ति ब्रह्माण्डभरमें छा जाती है, जो उनका स्मरण-कीर्तन करते हैं, उनका हृदय भी उज्ज्वल बन जाता है । इसलिये वे उज्ज्वल हैं । उनकी लीलाका जितना ही अधिक विस्तार होता है, उतना ही अन्धकारका नाश होता है । जहाँ सदा हरि-लीला-कथा होती है वहाँ ज्ञान-सूर्यका प्रकाश छा जाता है, पाप-तापरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसलिये वे प्रकाशमय हैं । उनके कर्मोंमें किसी

बतलाया है वही हमलोगोंके लिये सच्चे सुखकी प्राप्तिका यथार्थ मार्ग है। ऐसे विचार रखनेवाले बन्धुओंको समझाकर अपने प्राचीन आदर्शकी ओर आकर्षित करनेकी विशेष आवश्यकता है और इसीसे सबका मङ्गल है।

प्रिय बन्धुगण! विचार करनेपर आपको यह विदित हो जायगा कि पाश्चात्त्य सभ्यता वास्तवमें हमारे देश, धर्म, धन, सुख और हमारी जाति तथा आयुका विनाश करनेवाली है, इस सभ्यताके संसर्गसे ही आज हमारा देश अपने चिरकालीन धर्म-पथसे विचलित होकर अधोगतिकी ओर जा रहा है। इसीसे आज हमारी धर्मप्राण जाति अनार्योचित कायरता और भोगपरायणताकी ओर अग्रसर होती हुई दिखायी दे रही है। इस प्रकार जो सभ्यता हमारे सांसारिक सुखोंका भी विनाश कर रही है उससे सच्चे सुखकी आशा करना तो विडम्बनामात्र है।

जातिका नाश होता है अपने वेष-भाषा, खान-पान और आचारके त्याग देनेसे। जो जाति इन चारोंकी रक्षा करती हुई अपने आदर्शसे स्खलित नहीं होती उसके अस्तित्वका नाश होना बड़ा कठिन होता है। अतएव हमें अपने प्राचीन ऋषियों-मुनियोंद्वारा आचरित रहन-सहन, वेष-भूषा और स्वभाव-सभ्यताका ही अनुकरण करना चाहिये। स्वधर्मका त्याग करना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं। भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(३।३५)

सच्चा सुख
और
उसकी प्राप्तिके उपाय
भौतिक सुखसे हानि

इस समय क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित प्राय अधिकांश जनसमुदाय सांसारिक भोग-विलासको ही सच्चा सुख समझकर केवल भौतिक उन्नतिकी चेष्टामें ही प्रवृत्त हो रहा है, इस परम सत्यको लोग भूल गये हैं कि यह विषयेन्द्रिय-संयोग-जनित भौतिक सुख नाशवान्, क्षणिक और परिणाममें सर्वथा दु:खरूप है।

आजकल हमारे अनेक पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त विद्वान् देशबन्धु जो अपनेको बड़ा विचारशील, तर्कनिपुण और बुद्धिमान् समझते हैं, अंग्रेजोंके सहवाससे तथा उनकी विलासप्रियता और जड-इन्द्रिय-परितार्थताको देखकर पाश्चात्य-सभ्यताकी माया-मरीचिकापर मोहित हो रहे हैं और वेद-शास्त्रकथित धर्मके सूक्ष्म तत्त्वको न समझकर प्राचीन आदर्श सभ्यताकी अवहेलना कर रहे हैं। उनके हृदयसे यह विश्वास प्राय उठ गया है कि हमारे प्राचीन त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंकी विचारशीलता, तर्कपटुता और बुद्धिमत्ता हमलोगोंसे बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई थी और उन्होंने हमारे उत्कर्षके लिये जो पथ

सच्चा सुख

विचार करनेपर प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष इस बातको समझ सकता है कि मनुष्य-जन्मकी प्राप्तिसे कोई अत्यन्त ही उत्तम लाभ होना चाहिये। खाना, पीना, सोना, मैथुन करना आदि सासारिक भोगजनित सुख तो पशु-कीटादितक नीच योनियोंमें भी मिल सकते हैं। यदि मनुष्य-जीवनकी आयु भी इसी सुखकी प्राप्तिमें चली गयी तो मनुष्य-जन्म पाकर हमने क्या किया? मनुष्य-जन्मका परम ध्येय तो उस अनुपमेय और सच्चे सुखको प्राप्त करना है, जिसके समान कोई दूसरा सुख है ही नहीं। वह सुख है 'श्रीपरमात्माकी प्राप्ति।'

साधनमें क्यों नहीं लगते ?

इतना होनेपर भी अधिकाश लोग केवल धन, स्त्री और पुत्रादि विषयजन्य सुखको ही परमसुख मानकर उसीसे मोहित रहते हैं। असली सुखके लिये यत्न करनेवाले कर्तव्यपरायण पुरुष तो कोई विरले ही निकलते हैं।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।'

'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है । अपने धर्ममें मरना (भी) कल्याण-कारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ।'

मुसलमानोंके शासनके समय जब हिंदुओंने उनके खान-पान और समाज-सभ्यताकी नकल करना आरम्भ किया, तभीसे हिंदूजाति और हिंदूधर्मका ह्रास होने लगा । देखते-देखते आठ करोड़ हिंदू भाई मुसलमानोंके रूपमें बदल गये । जो लोग गो, ब्राह्मण और देवमन्दिरोंके रक्षक थे, वे ही उलटे उन सबके शत्रु बन गये । यह सब मुसलमानी सभ्यताके और उनके आचार-विचारोंके अनु-करण करनेका ही दुष्परिणाम है ।

इस समय अंग्रेजोंका राज्य है । सब ओर अंग्रेजी शिक्षाका प्रचार हो रहा है । अंग्रेजोंका संसर्ग दिनोंदिन बढ़ रहा है । इसी कारण हमारी जातिमें आज अंग्रेजी वेष-भाषा, खान-पान और आचार-विचारोंका बड़े जोरके साथ विस्तार हो रहा है । इसीके साथ-साथ हिंदूधर्म और हिंदूजातिका ह्रास तथा ईसाई-धर्मकी वृद्धि भी हो रही है । यह दुर्दशा हमारे सामने प्रत्यक्ष है । इसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं । दूसरोंके अनुकरणमें अपने जातीय भावोंको छोड़नेका यही परिणाम हुआ करता है ।

अतएव सबको यह बात निश्चितरूपसे समझ लेनी चाहिये कि पाश्चात्त्य सभ्यता और उसका अनुकरण हमारे लिये किसी प्रकार भी हितकर नहीं है । इससे हमारे धर्ममय भावोंका विनाश होता है और हमें केवल भौतिक उन्नतिके पीछे भटककर सच्चे आनन्दसे वञ्चित रहनेको बाध्य होना पड़ता है ।

सच्चा सुख

विचार करनेपर प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष इस बातको समझ सकता है कि मनुष्य-जन्मकी प्राप्तिसे कोई अत्यन्त ही उत्तम लाभ होना चाहिये। खाना, पीना, सोना, मैथुन करना आदि सांसारिक भोगजनित सुख तो पशु-कीटादितक नीच योनियोंमें भी मिल सकते हैं। यदि मनुष्य-जीवनकी आयु भी इसी सुखकी प्राप्तिमें चली गयी तो मनुष्य-जन्म पाकर हमने क्या किया ? मनुष्य-जन्मका परम ध्येय तो उस अनुपमेय और सच्चे सुखको प्राप्त करना है, जिसके समान कोई दूसरा सुख है ही नहीं। वह सुख है 'श्रीपरमात्माकी प्राप्ति।'

साधनमें क्यों नहीं लगते ?

इतना होनेपर भी अधिकांश लोग केवल धन, स्त्री और पुत्रादि विषयजन्य सुखको ही परमसुख मानकर उसीसे मोहित रहते हैं। असली सुखके लिये यत्न करनेवाले कर्तव्यपरायण पुरुष तो कोई बिरले ही निकलते हैं।

श्रीभगवान्ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।'

भगवान्‌के कथनानुसार आजकल भी जो कुछ थोड़े-बहुत सज्जन इस सच्चे सुखको प्राप्त करना चाहते हैं, उनमेंसे भी विरले ही आखिरी मंजिलतक पहुँचते हैं। अधिकांश साधक तो थोड़ा-सा साधन करके ही रुक जाते हैं। वे अपनेको अधिक उन्नत स्थितिमें नहीं ले जा सकते। मेरी समझसे इसमें निम्न-लिखित कारण हो सकते हैं—

(१) संसारमें इस सिद्धान्तके सुयोग्य प्रचारक कम हैं; क्योंकि इसके प्रचारक त्यागी, विद्वान्, सदाचारी, परिश्रमी और सच्चे महापुरुष यहीं हो सकते हैं।

(२) साधकगण थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य समझकर अधिक साधनकी आवश्यकता ही नहीं समझते।

(३) कुछ साधक थोड़ा-सा साधन करके उकता जाते हैं, इस साधनसे अपनी विशेष उन्नति नहीं समझकर वे परिश्रमविमुख हो जाते हैं।

(४) सच्चे सुखमें लोगोंकी श्रद्धा ही बहुत कम होती है। कारण, विषयसुखोंकी भाँति इसके साधनमें पहले ही सुख नहीं दीखता। इसीसे तत्परताका अभाव रहता है।

(५) कुछ लोग इस सुखको सम्पादन करना अपनी शक्तिसे बाहरकी बात समझते हैं, इसलिये निराश हो रहते हैं।

इसके सिवा और भी कई कारण बतलाये जा सकते हैं, परन्तु इन सबमें सच्चा कारण केवल अज्ञानता और अकर्मण्यता ही है। अतएव मनुष्यको सावधान होकर उत्साहके साथ कर्तव्यपरायण रहना चाहिये।

सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय

श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
(कठ० १।३।१४)

'उठो (साधनके लिये प्रयत्नशील होओ), अज्ञान-निद्रासे जागो एव श्रेष्ठ विद्वान् जिस मार्गको क्षुरकी तेज धारके समान दुर्लङ्घ्य, दुर्गम बताते हैं, उसको महापुरुषोंके पास जाकर समझो।'

अतएव इस भगवत्-साक्षात्काररतारूप परम कल्याण और परम सुखकी प्राप्तिके साधनमें किञ्चित् भी विलम्ब नहीं करना चाहिये। यही मनुष्य-जन्मका परम कर्तव्य है, यही सबसे बड़ा और सच्चा सुख है। इसी सुखकी महिमा बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
(गीता ६।२१)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्-स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है।'

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६।२२)

'और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और भगवत्-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है।'

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(गीता ६।२३)

'और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

यद्यपि इस सच्चे सुखकी प्राप्तिका उपाय कुछ कठिन है, परन्तु असाध्य नहीं है। श्रीपरमात्माकी शरण ग्रहण करनेसे तो कठिन होनेपर भी वह सर्वथा सरल, सुखसाध्य और अत्यन्त सहज हो जाता है। श्रीगीताजीमें भगवान् स्वयं प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(९।३२।३३)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य (और) शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त

होते हैं। फिर क्या कहना है कि पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन (परमगतिको) प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

अतएव साधकको चाहिये कि वह परमात्मापर दृढ़ विश्वास करके उसकी शरण ग्रहणकर अपनी उन्नतिके प्रतिबन्धक कारणोंको निम्नलिखित उपायोंसे दूर करनेकी चेष्टा करे।

(१) साधककी धारणामें उसे संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी महात्मा दीखें, उन्हींके पास जाकर उनके आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लग जाय। उनके वचनोंमें पूर्ण विश्वास रक्खे, उनके समीप जाकर फिर 'किंकर्तव्यविमूढ़' न रहे, अपनी बुद्धिको प्रधानता न दे, उनका बतलाया हुआ साधन यदि ठीक समझमें न आवे तो नम्रतापूर्वक पूछकर अपना समाधान कर ले और साधनमें लगनेपर भी यदि कुछ समयतक प्रत्यक्ष सुखकी प्रतीति न हो तो भी परिणाममें होनेवाले परम हितपर विश्वास करके उनकी आज्ञाका पालन करनेसे कदापि विमुख न हो। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

'और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और भगवत्-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है ।'

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥
(गीता ६ । २३)

'और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये । वह योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है ।'

यद्यपि इस तत्त्वसे सुखकी प्राप्तिका उपाय कुछ कठिन है, परन्तु असाध्य नहीं है । श्रीपरमात्माकी शरण ग्रहण करनेसे तो कठिन होनेपर भी वह सर्वथा सरल, सुखसाध्य और अत्यन्त सहज हो जाता है । श्रीगीताजीमें भगवान् स्वयं प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥
(९ । ३२-३३)

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य (और) शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त

(४) प्रत्येक साधकको अपनी परीक्षा अपने आप करते रहना चाहिये । सूक्ष्म दृष्टिसे विचारकर देखनेपर अपने छिपे हुए दोष भी प्रत्यक्ष दीखने लग जाते हैं । साधकको देखना चाहिये कि मेरा मन अपने अधीन, शुद्ध, एकाग्र और विषयोंसे विरक्त हुआ या नहीं । कारण, जबतक मन और इन्द्रियोंपर पूरा अधिकार नहीं हो जाता तबतक परमात्माकी प्राप्ति बहुत दूर है । भगवान् कहते हैं कि —

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

(गीता ६ । ३६)

'मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है ।'

अतएव साधकको सबसे पहले मनको अपने अधीन, शुद्ध और एकाग्र बनाना चाहिये ।* इसके लिये शास्त्रोंमें प्रधानतः दो उपाय बतलाये गये हैं—

(१) अभ्यास और (२) वैराग्य ।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

(गीता ६ । ३५)

---

* गीताप्रेससे प्रकाशित 'मनको वश करनेके कुछ उपाय' नामक पुस्तकमें मनको रोकनेके बहुत-से उपाय बतलाये हैं ।

(२) साधकको यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि मुझे यह साधन किसी दिन छोड़ देना है। उसको यही समझना चाहिये कि यह साधन ही मेरा परम धन, परम कर्तव्य, परम अमृत, परम सुख और मेरे प्राणोंका परम आधार है। जो लोग यह समझते हैं कि परमात्माका ज्ञान होनेके बाद हमें साधनकी क्या आवश्यकता है, वे भूल करते हैं। जिस साधनद्वारा अन्तःकरणको परम शान्ति प्राप्त हुई है, भला, वह उसे क्योंकर छोड़ सकता है ? परमात्माकी प्राप्ति होनेके पश्चात् उस महापुरुषकी स्थिति देखकर तो दुराचारी मनुष्योंकी भी साधनमें प्रवृत्ति हो जाया करती है, जिन्हें देखकर साधनहीन जन भी साधनमें लग जाते हैं उनकी अपनी तो बात ही कौन-सी है ? इतना होनेपर भी जो पुरुष थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य मान लेते हैं, वे बड़ी भूलमें रहते हैं। इस भूलसे साधनमें बड़ा विघ्न होता है। यही भूल साधकका अधःपतन करनेवाली होती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

(३) साधकको इस बातका दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि कर्तव्यपरायण, भगवत् शरणागत पुरुषके लिये कोई भी कार्य दुःसाध्य नहीं है। वह बड़े-से-बड़ा काम भी सहजहीमें कर सकता है। यह शक्ति वास्तवमें प्रत्येक मनुष्यमें है। अपनी शक्तिका अभाव मानना मानो अपने आपको नीचे गिराना है। उत्साही पुरुषके लिये कष्टसाध्य कार्य भी सुखसाध्य हो जाता है।

(४) प्रत्येक साधकको अपनी परीक्षा अपने आप करते रहना चाहिये। सूक्ष्म दृष्टिसे विचारकर देखनेपर अपने छिपे हुए दोष भी प्रत्यक्ष दीखने लग जाते हैं। साधकको देखना चाहिये कि मेरा मन अपने अधीन, शुद्ध, एकाग्र और विषयोंसे विरक्त हुआ या नहीं। कारण, जबतक मन और इन्द्रियोंपर पूरा अधिकार नहीं हो जाता तबतक परमात्माकी प्राप्ति बहुत दूर है। भगवान् कहते हैं कि—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है।'

अतएव साधकको सबसे पहले मनको अपने अधीन, शुद्ध और एकाग्र बनाना चाहिये।* इसके लिये शास्त्रोंमें प्रधानतः दो उपाय बतलाये गये हैं—

(१) अभ्यास और (२) वैराग्य।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

---

* गीताप्रेससे प्रकाशित 'मनको वश करनेके कुछ उपाय' नामक पुस्तकमें मनको रोकनेके बहुत-से उपाय बतलाये हैं।

'हे महाबाहो! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिये बारम्बार यत्न करनेसे और वैराग्यसे (यह) वशमें होता है।'

इसी प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(योग० १।१२)

'अभ्यास और वैराग्यसे उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध होता है।'

अभ्यास और वैराग्यकी विस्तृत व्याख्या तो यथाक्रम उन ग्रन्थोंमें ही देखनी चाहिये, परन्तु भगवान्‌ने अभ्यासका स्वरूप मुख्यतया इस प्रकार बतलाया है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६।२६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है उस-उससे रोककर (बारम्बार) परमात्मामें ही निरोध करे।'

वैराग्यके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५।२२)

'जो इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी

नि:सन्देह दु:खके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

इस प्रकार अभ्यास-वैराग्यसे मनको शुद्ध, अपने अधीन, एकाग्र और वैराग्यसम्पन्न बनाकर भगवान्‌के स्वरूपमें निरन्तर अचल-स्थिर कर देनेके लिये ध्यानका साधन करना चाहिये ।

जैसे श्रीभगवान्‌ने कहा है—

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

(गीता ६ । २४-२५)

'सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको नि:शेषतासे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे ही अच्छी प्रकार वशमें करके क्रम क्रमसे (अभ्यास करता हुआ) उपरामताको प्राप्त होवे (तथा) धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ।'

अभ्यास और वैराग्यके प्रभावसे मनके शुद्ध, स्वाधीन, एकाग्र और विरक्त हो जानेपर तो उसे परमात्माके चिन्तनमें लगाना परम सुगम हो ही जाता है परन्तु उक्त दोनों उपायोंको पूर्णतया काममे न ला करके भी यदि मनुष्य केवल परमात्माकी शरण ग्रहणकर

उसके नाम-जप और स्वरूप चिन्तनमें तत्पर हो जाय तो इस प्रकारके ध्यानसे ही सब कुछ हो सकता है। साधकका मन शीघ्र ही शुद्ध, एकाग्र और उसके अधीन हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

महर्षि पतञ्जलिने भी शीघ्रातिशीघ्र समाधि करनेका उपाय बतलाते हुए कहा है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

(योग १।२३)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य तो मनके निरोध करनेके उपाय हैं ही, जो साधक इन उपायोंको जितना अधिक काममें लाता है; उतना ही शीघ्र उसका मन निरुद्ध होता है। परन्तु ईश्वरप्रणिधानसे भी मन बहुत ही शीघ्र समाधिस्थ हो सकता है।

इससे यह माना जा सकता है कि जप, तप, व्रत, दान, लोकसेवा, सत्सङ्ग और शास्त्रोंका मनन आदि समस्त साधन इसी ध्यानके लिये ही बतलाये और किये जाते हैं।

अतएव सच्चे सुखकी प्राप्तिका साक्षात्, सरल और सबसे सुगम उपाय परमात्माके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही है। इसीको शास्त्रकारोंने ध्यान, स्मरण और निदिध्यासन आदि नामोंसे कहा है। कर्मयोग और सांख्ययोग आदि सभी साधनोंमें परमात्माका ध्यान प्रधान है।

साधन-कालमें अधिकारी भेदसे ध्यानके साधनोंमें भी अनेक भेद होते हैं। सभी मनुष्योंकी रुचि एक प्रकारके साधनमें नहीं

हुआ करती। एक ही गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेके लिये अनेक मार्ग हुआ करते हैं। इसी प्रकार फलरूपमें एक ही परम वस्तुकी प्राप्ति होनेपर भी साधनके प्रकारोंमें अन्तर रहता है। कोई एकत्वभावसे सच्चिदानन्दघन परमात्माके निराकार रूपका ध्यान करते हैं तो कोई स्वामी-सेवक-भावसे सर्वव्यापी परमेश्वरका चिन्तन करते हैं। कोई भगवान् विश्वरूपका तो कोई चतुर्भुज श्रीविष्णुरूपका, कोई मुरलीमनोहर श्रीकृष्णरूपका तो कोई मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामरूपका और कोई कल्याणमय श्रीशिवरूपका ही ध्यान करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

(गीता ९।१५)

अतएव जिस साधककी परमात्माके जिस रूपमें अधिक प्रीति और श्रद्धा हो वह निरन्तर उसीका चिन्तन किया करे। परिणाम सबका एक ही है, परिणामके सम्बन्धमें किञ्चित् भी संशय रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

साधकोंकी प्रायः दो श्रेणियाँ होती हैं—एक अभेदरूपसे अर्थात् एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवालोंकी और दूसरी स्वामी-सेवक-भावसे भक्ति करनेवालोंकी। इनमेंसे अभेदरूपसे उपासना करनेवालोंके लिये तो केवल एक शुद्ध सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर एकत्व-भावसे स्थित रहना ध्यानका सर्वोत्तम साधन है। परन्तु दूसरे, स्वामी-सेवक-भावसे उपासना करनेवाले भक्तोंके लिये शास्त्रोंमें ध्यानके बहुत प्रकार बतलाये गये हैं।

उसके नाम जप और स्वरूप चिन्तनमें तत्पर हो जाय तो इस प्रकारके ध्यानसे ही सब कुछ हो सकता है। साधकका मन शीघ्र ही शुद्ध, एकाग्र और उसके अधीन हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

महर्षि पतञ्जलिने भी शीघ्रातिशीघ्र समाधि लगनेका उपाय बतलाते हुए कहा है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

(योग० १ । २३)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य तो मनके निरोध करनेके उपाय हैं ही जो साधक इन उपायोंको जितना अधिक काममें लाता है, उतना ही शीघ्र उसका मन निरुद्ध होता है। परन्तु ईश्वरप्रणिधानसे भी मन बहुत ही शीघ्र समाधिस्थ हो सकता है।

इससे यह माना जा सकता है कि जप, तप, व्रत, दान, लोकसेवा सत्सङ्ग और शास्त्रोंका मनन आदि समस्त साधन इसी ध्यानके लिये ही बतलाये और किये जाते हैं।

अतएव सच्चे सुखकी प्राप्तिका साक्षात्, सरल और सबसे सुगम उपाय परमात्माके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही है। इसीको शास्त्रकारोंने ध्यान, स्मरण और निदिध्यासन आदि नामोंसे कहा है। कर्मयोग और सांख्ययोग आदि सभी साधनोंमें परमात्माका ध्यान प्रधान है।

साधन-कालमें अधिकारी भेदसे ध्यानके साधनोंमें भी अनेक भेद होते हैं। सभी मनुष्योंकी रुचि एक प्रकारके साधनमें नहीं

ध्यान करनेकी पद्धति नहीं जाननेके कारण ध्यान ठीक नहीं होता, साधक चाहता तो है परमात्माका ध्यान करना, परन्तु उसके ध्यान होता है जगत्‌का। यह शिकायत प्रायः देखी और सुनी जाती है, इसलिये परमात्मामें मन जोड़नेकी जो विधियाँ हैं, उन्हें जाननेकी बड़ी आवश्यकता है। शास्त्रकारोंने अनेक प्रकारसे ध्यानकी विधियोंके बतलानेकी चेष्टा की है। उनमेंसे कुछका दिग्दर्शन यहाँ संक्षेपमें करवाया जाता है।

यों तो परमात्माका चिन्तन निरन्तर उठते, बैठते, चलते, खाते, पीते, सोते, बोलते और सब तरहके काम करते हुए हर समय ही करना चाहिये; परन्तु साधक खास तौरपर जब ध्यानके निमित्तसे बैठे, उस समय तो गौणरूपसे भी उसे अपने अन्तःकरणमें सांसारिक सङ्कल्पोंको नहीं उठने देना चाहिये तथा एकान्त और शुद्ध देशमें बैठकर ध्यानका साधन आरम्भ कर देना चाहिये। श्रीगीताजीमें कहा है—

> शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
> नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
> तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
> उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
> (६। ११-१२)

'शुद्ध भूमिमें कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं उपर्युपरि जिसके, ऐसे अपने आसनको न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके और उस आसनपर बैठकर तथा मनको एकाग्र

करके चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें किये हुए अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

(गीता ६ । १३)

'काया, शिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण किये हुए दृढ होकर अपनी नासिकाके अग्रभागको देखकर* अन्य दिशाओंको न देखता हुआ परमेश्वरका ध्यान करे।'

ध्यान करनेवाले साधकको यह बात विशेषरूपसे जान रखनी चाहिये कि जबतक अपने शरीरका और संसारका ज्ञान रहे तबतक ध्यानके साथ नाम-जपका अभ्यास अवश्य करता रहे। नाम-जपका सहारा नहीं रहनेपर बहुत समयतक नामीके स्वरूपमें मन नहीं ठहरता। निद्रा, आलस्य और अन्यान्य सांसारिक स्फुरणाएँ विघ्नरूपसे आकर मनको घेर लेती हैं। नामीको याद दिलानेका प्रधान आधार नाम ही है। नाम नामीके रूपको कभी भूलने नहीं देता। नामसे ध्यानमें पूर्ण सहायता मिलती है। अतएव ध्यान करते समय जबतक ध्येयमें सम्पूर्णरूपसे तल्लीनता न हो जाय, तबतक नाम-जप कभी नहीं छोड़ना चाहिये। यह तो ध्यानके सम्बन्धमें साधारण बातें हुईं। अब ध्यानकी कुछ विधियाँ लिखी जाती हैं।

---

* इसमें दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखनेके लिये कहा गया है, परन्तु जिन लोगोंको आँखें बंद करके ध्यान करनेका अभ्यास हो, वे आँखें बंद करके भी कर सकते हैं, इसमें कोई हानि नहीं है।

ध्यान करनेकी पद्धति नहीं जाननेके कारण ध्यान ठीक नहीं होता, साधक चाहता तो है परमात्माका ध्यान करना, परन्तु उसके ध्यान होता है जगत्‌का। यह शिकायत प्राय देखी और सुनी जाती है, इसलिये परमात्मामें मन जोड़नेकी जो विधियाँ हैं, उन्हें जाननेकी बड़ी आवश्यकता है। शास्त्रकारोंने अनेक प्रकारसे ध्यानकी विधियोंके बतलानेकी चेष्टा की है। उनमेंसे कुछका दिग्दर्शन यहाँ संक्षेपमें करवाया जाता है।

यों तो परमात्माका चिन्तन निरन्तर उठते, बैठते, चलते, खाते, पीते, सोते, बोलते और सब तरहके काम करते हुए हर समय ही करना चाहिये; परन्तु साधक खास तौरपर जब ध्यानके निमित्तसे बैठे, उस समय तो गौणरूपसे भी उसे अपने अन्तःकरणमें सांसारिक सङ्कल्पोंको नहीं उठने देना चाहिये तथा एकान्त और शुद्ध देशमें बैठकर ध्यानका साधन आरम्भ कर देना चाहिये। श्रीगीताजीमें कहा है—

> शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
> नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
> तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
> उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
>
> (६। ११-१२)

शुद्ध भूमिमें कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं उपर्युपरि जिसके, ऐसे अपने आसनको न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके और उस आसनपर बैठकर तथा मनको एकाग्र

इस प्रकार अन्त करणमें ब्रह्मके अचिंत्य स्वरूपकी दृढ भावना करके जपके स्थानमें बारबार निम्नलिखित प्रकारसे परमात्माके विशेषणोंकी मन-ही-मन भावना और उनका उच्चारण करता रहे। वास्तवमें ब्रह्म नाम-रूपसे परे है, परन्तु उसके आनन्द-स्वरूपकी स्फूर्तिके लिये इन विशेषणोंकी कल्पना है। अतएव साधक चित्तकी समस्त वृत्तियोंको आनन्दरूप ब्रह्ममें तल्लीन करता हुआ 'पूर्ण आनन्द' 'अपार आनन्द' 'शान्त आनन्द' 'घन आनन्द' 'बोधस्वरूप आनन्द' 'ज्ञानस्वरूप आनन्द' 'परम आनन्द' 'नित्य आनन्द' 'सत् आनन्द' 'चेतन आनन्द' 'आनन्द-ही-आनन्द' 'एक आनन्द-ही-आनन्द' इस प्रकार ब्रह्मके विशेषणोंका चिन्तन करता हुआ इस भावनाको उत्तरोत्तर दृढ करता रहे कि एक 'आनन्द' के सिवा और कुछ भी नहीं है। इसके साथ ही वह अपने मनको बड़ी तेजीसे उस आनन्दमय ब्रह्ममें तन्मय करता हुआ उन सम्पूर्ण विशेषणोंको उस आनन्दमय परमात्मासे अभिन्न समझता रहे। इस प्रकार मनन करते-करते जब मनके समस्त सङ्कल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरूप, आनन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका सङ्कल्प मनमें नहीं रहता है तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्मामें निश्चलताके साथ होती है। इस प्रकारके ध्यानका नित्य नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्व होनेपर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस ससारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहती, जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता

अभेदोपासनाके अनुसार ध्यानकी विधि

एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवाले साधकको चाहिये कि वह उपर्युक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर मनमें रहनेवाले सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका त्याग करके इस प्रकार भावना करे।

(१) एक आनन्दघन ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है। उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, इस भावका ज्ञान भी ब्रह्मको ही है। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं होता। इसीलिये उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते हैं वह सीमारहित, अपार और अनन्त है। मन, बुद्धि, अहंकार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो कुछ भी है वह सभी उस ब्रह्ममें आरोपित और ब्रह्म स्वरूप ही है। वास्तवमें एक पूर्ण ब्रह्म परमात्माके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण संसार स्वप्नके सदृश उस परमात्मामें कल्पित है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

(तैत्ति० २ । १ । १)

'ब्रह्म सत्य, चेतन और अनन्त है, इस श्रुतिके अनुसार वह आनन्दघन, सत्यस्वरूप, बोधस्वरूप परमात्मा है 'बोध' उससे भिन्न कोई उसका गुण या उसकी कोई उपाधि या शक्तिविशेष नहीं है। इसी प्रकार 'सत्' भी उससे कोई भिन्न गुण नहीं है। वह सदासे है और सदा ही रहता है, इसलिये लोक और वेदमें उसे 'सत्' कहते हैं वास्तवमें तो वह परमात्मा सत् और असत् दोनोंसे परे है।

'न सत्तन्नासदुच्यते।'

(गीता १३ । १२)

अभेदोपासनाके ध्यानकी दूसरी युक्ति

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥
(कठ० १।३।१३)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह वाणी आदि सम्पूर्ण इन्द्रियोंका मनमें निरोध करे, मनका बुद्धिमें निरोध करे, बुद्धिका महत्तत्त्वमें अर्थात् समष्टि-बुद्धिमें निरोध करे और उस समष्टि-बुद्धिका निरोध शान्तात्मा परमात्मामें करे ।'

एकान्त स्थानमें बैठकर दसों इन्द्रियोंके विषयोंको उनके द्वारा ग्रहण न करना अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारको रोककर मनके द्वारा केवल परमात्माके स्वरूपका बारबार मनन करते रहना ही 'वाणी आदि इन्द्रियोंका मनमें निरोध' करना है । इसके बाद मनके किये हुए परमात्माके स्वरूपके विषयमें जितने भी विकल्प हैं, उन सबको छोड़कर एक निश्चयपर स्थित होकर चित्तका शान्त हो जाना यानी अन्तःकरणमें किसी भी चञ्चलात्मक वृत्तिका किञ्चित् भी अस्तित्व न रहकर एकमात्र विज्ञानका प्रकाशित हो जाना 'मनका बुद्धिमें निरोध' करना है । ध्यानकी इस प्रकारकी स्थितिमें ध्याता-को अपना और ध्येय वस्तु परमात्माका बोध रहता है, परन्तु इसके बाद जब उस सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके स्वरूपका निश्चय करनेवाली बुद्धि-वृत्तिकी स्वतन्त्र सत्ता भी समष्टिज्ञानमें तन्मय हो जाती है, जब ध्याता, ध्यान और ध्येयका समस्त भेद मिटकर केवल एक ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपका ही

है। फिर साधक, साधना और साध्य सभी अभिन्न, सभी एक आनन्दस्वरूप हो जाते हैं, फिर उसकी वह स्थिति सदाके लिये वैसी बनी रहती है। चलते-फिरते, उठते-बैठते तथा अन्य सम्पूर्ण कार्योंके यथाविधि और यथासमय होते हुए भी उसकी स्थितिमें किञ्चित् भी अन्तर नहीं पड़ता। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है, क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

वास्तवमें वह किसी भी समय संसारको या अपनेको प्रभुसे अलग नहीं देखता। इसीलिये उसका पुनः कभी जन्म नहीं होता। वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है। गीतामें कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५। १७)

'तद्रूप है बुद्धि जिनकी (तथा) तद्रूप है मन जिनका (और) उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं।' यही उपर्युक्त ध्यानका फल है।

उपासना करनेवालेके लिये श्रीगीताजीके इस श्लोकको निरन्तर स्मरण रखना अत्यन्त लाभप्रद है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
(१३ । १५)

'(वह परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर तथा भीतर परिपूर्ण है, चर-अचररूप भी (वही) है, वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय* है तथा अति समीपमें† और दूरमें‡ भी वही स्थित है ।'

अतएव जिनकी अभेदोपासनामें रुचि हो, उन साधकोंको उपर्युक्त प्रकारके साधनमें शीघ्र ही तत्पर होना चाहिये ।

विश्वरूप परमात्माके ध्यानकी विधि

एकान्त स्थानमें आँखें बंद करके बैठनेपर भी यदि इस मायामय ससारकी कल्पना साधकके हृदयसे दूर न हो तो उसे इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये—

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ—इन तीनों लोकोंमें जो कुछ भी देखने, सुनने और मनन करनेमें आता है सो सब साक्षात्

---

* जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित हुआ जल सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता ।

† वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सबका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है ।

‡ श्रद्धारहित अज्ञानी पुरुषोंके लिये न जाननेके कारण बहुत दूर है ।

बोध रह जाता है, इसी अवस्थाको 'बुद्धिका समष्टि-बुद्धिमें निरोध' करना कहते हैं ।

इसके अनन्तर एक और अनिर्वचनीय स्थिति होती है, जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येयका भिन्न संस्काररमात्र भी शेष नहीं रहता । केवल एक शुद्ध, बोधस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह जाता है, उसके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता किसी प्रकारसे भी नहीं रहती । इसीका नाम 'समष्टि-बुद्धिका शान्तात्मामें निरोध' करना है।

इसीको निर्बीज समाधि, शुद्धब्रह्मकी प्राप्ति या कैवल्य-पदकी प्राप्ति कहते हैं । यही अन्तिम स्थिति है । वाणी इस अवस्थाका वर्णन नहीं कर सकती, मन इसका मनन नहीं कर सकता, क्योंकि यह मन, वाणी और बुद्धिके परेका विषय है, यही मोक्ष है ।

इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष कृतकृत्य हो जाता है । उसके लिये फिर कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता ।

श्रीगीताजीमें कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
(३ । १७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही प्रीतिवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट होवे, उसके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है ।'

अभेदोपासनाके अनुसार परमात्माका ध्यान करनेके और भी बहुत-से प्रकार हैं परन्तु लेखका आकार बढ़ जानेके कारण और नहीं लिखे जाते हैं । सबका आशय प्राय एक ही है । एकत्वभावसे

उपासना करनेवालेके लिये श्रीगीताजीके इस श्लोकको निरन्तर स्मरण रखना अत्यन्त लाभप्रद है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
(१३ । १५)

'(वह परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर तथा भीतर परिपूर्ण है, चर-अचररूप भी (वही) है, वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय* है तथा अति समीपमें† और दूरमें‡ भी वही स्थित है ।'

अतएव जिनकी अभेदोपासनामें रुचि हो, उन साधकोंको उपर्युक्त प्रकारके साधनमें शीघ्र ही तत्पर होना चाहिये ।

विश्वरूप परमात्माके ध्यानकी विधि

एकान्त स्थानमें आँखें बद करके बैठनेपर भी यदि इस मायामय ससारकी कल्पना साधकके हृदयसे दूर न हो तो उसे इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये—

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ—इन तीनों लोकोंमें जो कुछ भी देखने, सुनने और मनन करनेमें आता है सो सब साक्षात्

---

* जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित हुआ जल सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता ।

† वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सबका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है ।

‡ श्रद्धारहित अज्ञानी पुरुषोंके लिये न जाननेके कारण बहुत दूर है ।

श्रीपरमात्माका ही स्वरूप है। वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही अपनी मायाशक्तिसे विश्वरूपमें प्रकट हुए हैं। जैसे श्रीगीताजीमें कहा है—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
(१३ । १३)

'वह सब ओरसे हाथ-पैरवाला सब ओरसे नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओरसे श्रोत्रवाला है; क्योंकि वह सब संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'*

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(१० । ४२)

'अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तुझे क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ। इसलिये मुझको ही तत्त्वसे जानना चाहिये।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥
(१० । ३९)

हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है वह भी मैं ही हूँ क्योंकि ऐसा वह चर-अचर कोई भी भूत नहीं है कि जो मुझसे रहित हो इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।'

---

* आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारणरूप होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे सम्पूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त करके स्थित है।

इस प्रकार वारम्बार मनन करके सम्पूर्ण ससारको तत्त्वसे श्रीपरमात्माका स्वरूप समझकर परमात्माके निश्चित रूपमें मनको निश्चल करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनकी चञ्चलताका सहजमें ही नाश हो जाता है। फिर मन जहाँ जाता है वहीं उसे वह परमात्मा दीखता है। एक परमात्माके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं भासता। जैसे जलसे बने हुए अनेक प्रकारके बर्फके खिलौनों-को जो तत्त्वसे जलस्वरूप समझ लेता है उसे फिर उनके जल होनेमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं रहता, उसे सभी खिलौने प्रत्यक्ष जलस्वरूप दीखने लगते हैं। इसी तरह उपर्युक्त प्रकारसे परमात्मा-का ध्यान करनेवाले साधकको भी सम्पूर्ण विश्व परमात्मस्वरूप दीखने लगता है। उसकी भावनामें जगत्‌रूप किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रहता, मन शान्त और संशयरहित हो जाता है। चञ्चल चित्तको परमात्मामें लगानेका यह भी एक सहज उपाय है।

श्रीविष्णुके चतुर्भुज रूपका ध्यान करनेकी विधि

एकान्त स्थानमें पूर्वोक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर आँखें मूँद ले और आनन्दमें मग्न होकर अपने उस परमप्रेमीके मिलनकी तीव्र लालसासे ध्यानका साधन आरम्भ करे।

मन्दिरोंमें भगवान्‌की मूर्तिका दर्शनकर, भगवान्‌के चित्रोंका अवलोकनकर, संत-महात्माओंके द्वारा सुनकर या सौभाग्यवश स्वप्नमें प्रभुके दर्शनकर भगवान्‌के जैसे साकार रूपको बुद्धि मानती हो, यानी भगवान्‌का साकार रूप साधककी समझमें जैसा आया हो, उसीकी भावना करके ध्यान करना चाहिये। साधारणत भगवान्-की मूर्तिके ध्यानकी भावना इस प्रकार की जा सकती है—

(१) भूमिसे करीब सवा हाथकी ऊँचाईपर आकाशमें अपने सामने ही भगवान् विराजमान हैं । भगवान्के अतिशय सुन्दर चरणारविन्द नीलमणिके ढेरके समान चमकते हुए अनन्त सूर्योंके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं । चमकीले नखोंसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियाँ हैं और उनपर स्वर्णके रत्नजड़ित नूपुर शोभित हो रहे हैं । भगवान्के जैसे चरणकमल हैं वैसे ही उनके जानु और जङ्घा आदि अङ्ग भी नीलमणिके ढेरकी भाँति पीताम्बरके अंदरसे चमक रहे हैं । अहो ! अत्यन्त सुन्दर चार लम्बी-लम्बी भुजाएँ शोभा दे रही हैं । ऊपरकी दोनों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र और नीचेकी दोनों भुजाओंमें गदा और पद्म विराजमान हैं । चारों भुजाओंमें केयूर और कड़े आदि एक-से-एक सुन्दर आभूषण सुशोभित हैं । अहो ! अत्यन्त विशाल और परम सुन्दर भगवान्का वक्षःस्थल है, जिसके मध्यमें श्रीलक्ष्मीजीका और भृगुलताका चिह्न अङ्कित हो रहा है । नीलकमल-के समान सुन्दर वर्णवाली भगवान्की ग्रीवा अत्यन्त मनोहर है । और वह रत्नजटित हार, कौस्तुभमणि, वैजयन्ती तथा अनेक प्रकारके मोतियोंकी, स्वर्णकी और भाँति-भाँतिके सुन्दर दिव्य गन्ध पुष्पोंकी मालाओं-से सुशोभित है । सुन्दर चिबुक (ठुड्डी), लाल-लाल होठ और मनोहर नुकीली नासिका है, जिसके अग्रभागमें दिव्य मोती लटक रहा है । भगवान्के दोनों नेत्र कमलपत्रके समान विशाल और नीलकमलके सदृश खिले हुए हैं । कानोंमें रत्नजड़ित सुन्दर मकराकृत कुण्डल और ललाटपर श्रीधारण तिलक तथा शीशपर मनोहर मणिमुक्तामय किरीट (मुकुट) शोभायमान हो रहा है । अहो ! भगवान्का अतुलनीय मनोहर मुखारविन्द पूर्णिमाके चन्द्रकी गोलाई-

को लजाता हुआ मनको हरण कर रहा है। मुखमण्डलके चारों ओर सूर्यके सदृश किरणें देदीप्यमान हैं, जिनके प्रकाशसे भगवान्‌के मुकुटादि सम्पूर्ण आभूषणोंके रत्न सहस्रगुण अधिक चमक रहे हैं। अहो! आज मैं धन्य हूँ! धन्य हूँ! जो मन्द-मन्द हँसते हुए परमानन्दमूर्ति हरि भगवान्‌का ध्यान कर रहा हूँ।

इस प्रकार भावना करते-करते जब भगवान्‌का स्वरूप भली-भाँति स्थित हो जाय, तब प्रेममें विह्वल होकर साधकको भगवान्‌के उस मनमोहन स्वरूपमें चित्तको स्थिर कर देना चाहिये। ध्यानका अभ्यास करते-करते जब साधकको अपना और ससारका एवं ध्यानका भी ज्ञान नहीं रहता, केवल एक मनमोहन भगवान्‌का ही ज्ञान रह जाता है तब साधककी भगवान्‌के स्वरूपमें समाधि हो जाती है। ऐसा होनेपर साधक तत्काल ही भगवान्‌के वास्तविक तत्त्वको जान जाता है और तब भगवान् उसके प्रेमवश हो साक्षात् साकाररूपमें प्रकट होकर उसे अपने दर्शनसे कृतार्थ करनेको बाध्य होते हैं।

श्रीभगवान्‌ने कहा भी है—

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
>
> (गीता ११। ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज स्वरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र भगवान् विष्णुको मैं अवनत-मस्तक होकर प्रणाम करता हूँ ।*

असंख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओंके समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्गणोंके समान जिनका पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वीतलोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जिनमें गम्भीरता है, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं दे सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवलमात्र कल्पना ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे उन अनुपमेय श्रीहरि भगवान्‌को मेरा वारंवार नमस्कार है ।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णु भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, जिनके समस्त अङ्गोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई परम शोभा दे रही हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरि भगवान्‌को

---

* वन्दौं विष्णु विश्वाधार ।

लोकपति, सुरपति, रमापति, सुभग-शान्ताकार ।
कमल-लोचन, कलुष हर, कल्याण-पद-दातार ॥
नील-नीरदवर्ण, नीरज-नाभ, नभ-अनुहार ।
भृगुलता-कौस्तुभ-सुशोभित हृदय मुक्ताहार ॥
शङ्ख-चक्र-गदा-कमलयुत भुज विभूषित चार ।
पीतपट परिधान पावन अङ्ग-अङ्ग उदार ॥
शेष शय्या शयित योगी ध्यान-गम्य, अपार ।
दुःखमय भव-भय-हरण, अशरण-शरण अविकार ॥

(पत्रपुष्प)

इस प्रकार भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद वह भक्त कृतकृत्य हो जाता है। उसके सम्पूर्ण अवगुण नष्ट हो जाते हैं और वह पूर्ण महात्मा बन जाता है। फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

श्रीगीताजीमें कहा है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
(८।१५)

'परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखके स्थानरूप क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

दूसरी विधि

(२) अपने हृदयाकाशमें शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए श्रीविष्णु भगवान्‌का चिन्तन करते-करते निम्नलिखित रूपसे मन ही-मन उनके स्वरूप और गुणोंकी भावना करते हुए उन्हें बारम्बार नमस्कार करना चाहिये।

जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषजीकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका मनोहर नील वर्ण है, अत्यन्त सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म

मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र भगवान् विष्णुको मैं अवनत-मस्तक होकर प्रणाम करता हूँ ।*

असंख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओंके समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्गणोंके समान जिनका पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वीतलोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जिनमें गम्भीरता है, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं दे सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवलमात्र कल्पना ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे उन अनुपमेय श्रीहरि भगवान्‌को मेरा बारंबार नमस्कार है ।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णु भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, जिनके समस्त अङ्गोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई परम शोभा दे रही हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरि भगवान्‌को

---

* वन्दौं विष्णु विश्वाधार !

लोकपति, सुरपति, रमापति, सुभग-शान्ताकार ।
कमल-लोचन, कलुष हर, कल्याण-पद-दातार ॥
नील-नीरदवर्ण, नीरज-नाभ, नम-अनुहार ।
भृगुलता-कौस्तुभ-सुशोभित हृदय मुक्ताहार ॥
शङ्ख-चक्र-गदा-कमलयुत भुज विभूषित चार ।
पीतपट परिधान पावन अङ्ग-अङ्ग उदार ॥
शेष शय्या शयित योगी ध्यान-गम्य, अपार ।
दुःखमय भव-भय-हरण, अशरण-शरण अविकार ॥

(पत्रपुष्प)

मेरा बारंबार नमस्कार है, इस तरह अभ्यास करते-करते जब चित्त शान्त, निर्मल और प्रसन्न हो जाय तब अपने मनको उस शेषशायी भगवान् नारायणदेवके ध्यानमें अचल कर देना चाहिये।

परमात्माके साकार और निराकार स्वरूपका ध्यान करनेके और भी बहुत-से साधन हैं, यहाँ केवल कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। इस विषयका विशेष ज्ञान तो श्रीपरमात्मा और महात्माओंकी शरण ग्रहणकर साधनमें तत्पर होनेसे ही प्राप्त होता है। साकारके ध्यानमें यहाँ केवल श्रीविष्णु भगवान्के दो प्रकार बतलाये गये हैं। साधकगण इसी प्रकार अपनी-अपनी श्रद्धा और प्रीतिके अनुसार श्रीराम, कृष्ण और शिव आदि भगवान्के अन्यान्य स्वरूपोंका भी ध्यान कर सकते हैं। फल सबका एक ही है।

एकान्त देशसे उठनेके बाद व्यवहारकालमें भी चलते-फिरते, उठते-बैठते सब समय अपने इष्टदेवके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन उसी प्रकार करते रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जीवनके अमूल्य समयका एक क्षण भी श्रीभगवान्के स्मरणसे रहित नहीं जाना चाहिये। जीवनमें सदा सर्वदा जैसा अभ्यास होता है, अन्तमें भी उसीकी स्मृति रहती है और अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार ही उसकी गति होती है। इसीसे भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

'इसलिये (हे अर्जुन ! तू) सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ (तू) निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

इस प्रकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म भगवान्‌के ध्यानसे साधकका हृदय पवित्र और निर्मल होता चला जाता है। सम्पूर्ण चिन्ताओंका विनाश होकर अन्तःकरणमें एक विलक्षण शान्तिकी स्थापना होती है। चित्त एकाग्र और अपने अधीन हो जाता है। साधनकी वृद्धिसे ज्यों-ज्यों अन्तःकरणकी निर्मलता और एकाग्रता बढ़ती है त्यों-ही-त्यों सच्चे आनन्दकी भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। सच्चे सुखका जब साधकको जरा-सा भी अनुभव मिल जाता है तब उसे उस सुखके सामने त्रिलोकीके राज्यका सुख भी अत्यन्त तुच्छ और नगण्य प्रतीत होने लगता है। इस स्थितिमें साधारण भोगजनित मिथ्या सुखोंकी तो वह बात ही नहीं पूछता। बल्कि भोगविलास तो उस साधकको नाशवान्, क्षणिक और प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकारके साधनसे साधककी वृत्तियाँ बहुत ही शीघ्र संसारसे उपराम होकर भगवान्‌के स्वरूपमें अटल और स्थिर हो जाती हैं। साधक उस सच्चे और अपार आनन्दको सदाके लिये प्राप्त होकर तृप्त हो जाता है। उसके दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यही मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है।

प्रिय पाठकगण ! हमें इस बातका दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म

सर्वशक्तिमान् आनन्दकन्द भगवान्‌का साक्षात् करना ही है। यह इस लोक और परलोकमें सबसे महान्, नित्य और सत्य सुख है। इसको छोड़कर अन्यान्य जितने भी सांसारिक सुख प्रतीत होते हैं वे वास्तवमें सुख नहीं हैं। केवल मोहसे उनमें सुखकी मिथ्या प्रतीति होती है, वास्तवमें वे सब दुःख ही हैं। योगदर्शनमें कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

(२। १५)

'संसारके समस्त विषयजन्य सुख परिणाम, ताप, संस्कार और सांसारिक दुःखोंसे मिले हुए होने तथा सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंकी वृत्तियोंके परस्पर विरोधी होनेके कारण विवेकी पुरुषोंके लिये दुःखमय ही हैं।'

अतएव इन क्षणिक, नाशवान् और कृत्रिम सुखोंको सर्वथा परित्याग कर हमें अत्यन्त शीघ्र तत्पर होकर उस सच्चे सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें उत्साह और दृढ़तापूर्वक लग जाना चाहिये।

घर-घरमें भगवान्की पूजा

'श्रीभगवान्ने साकाररूपसे साक्षात् प्रकट होकर कभी मुझे दर्शन दिये हैं' इस बातके कहनेमें असमर्थ होनेपर भी मैं बड़े जोरके साथ यह विश्वास दिला सकता हूँ कि यदि कोई भगवत्-परायण होकर निष्काम प्रेमभावसे भगवान्की भक्ति करे तो उसे साक्षात् दर्शन देनेके लिये भगवान् निश्चय बाध्य हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है कि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार साकाररूपसे मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान्का प्रत्यक्ष दर्शन अनन्य भक्तिसे हो सकता है। अनन्य भक्तिके लिये अभ्यासकी आवश्यकता

है । यदि सब समय भगवान्‌के नामका जप और हृदयमें उनका स्मरण करते हुए संसारके समस्त व्यवहार उसीके अर्थ किये जायँ तो परमात्मामें अनन्य भक्ति हो जाती है । अनन्य भक्तियुक्त पुरुष स्वयं पवित्र होता है, इसमें तो कहना ही क्या है परन्तु वह अपने भक्तिके भावोंसे जगत्‌को पवित्र कर सकता है । यदि घरमें एक भी पुरुषको अनन्य भक्तिसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाय तो उसका समस्त कुल पवित्र समझा जाता है । कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिंल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥
(स्कन्द माहेश्वर कौमार ५५ । १४)

'जिसका चित्त उस अपार विज्ञानानन्दघन समुद्ररूप परब्रह्म परमात्मामें लीन हो गया है उससे कुल पवित्र, माता कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती होती है ।'

भगवान् नारद कहते हैं—

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ।
(नारदभक्तिसूत्र ६८-६९)

'ऐसे भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं । वे तीर्थोंको सुतीर्थ और कर्मोंको सुकर्म तथा शास्त्रोंको सत्‌शास्त्र बनाते हैं, उनके भक्तिके आवेशसे वसुमण्डल

शुद्ध होता है, जिससे सम्बन्ध रखनेवाले सब कुछ पवित्र हो जाते हैं और पृथ्वीपर ऐसे पुरुषोंके निवाससे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। वे जिस तीर्थमें रहते हैं वही सुतीर्थ, वे जिन कर्मोंको करते हैं वे ही सत्कर्म और वे जिन शास्त्रोंका उपदेश करते हैं वे ही सत्‌शास्त्र बन जाते हैं।'

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ।

(नारदभक्तिसूत्र ७१)

ऐसे भक्तोंको प्रकट हुए देखकर उनके पितृगण अपने उद्धारकी आशासे आह्लादित होते हैं, देवतागण उनके दर्शन कर नाचने लगते हैं, माता पृथ्वी अपनेको सनाथा समझने लगती है। पद्मपुराणमें भी ऐसा ही वचन है—

आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः ।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति ॥

पितृ-पितामहगण अपने वंशमें भगवद्भक्त प्रकट हुआ, वह हमारा उद्धार कर देगा ऐसा जानकर प्रसन्न होकर नाचने लगते हैं। और भी अनेक प्रमाण हैं। वास्तवमें ऐसे पुरुषका हृदय साक्षात् तीर्थ और उसका घर तीर्थरूप बन जाता है। अतएव सब भाइयोंको चाहिये कि वे परमात्माकी अनन्य भक्तिका साधन करें। इस साधनमें भगवान्‌के प्रति मन लगाना पड़ता है तथा अपना समय भगवत्-सेवामें लगानेका अभ्यास करना पड़ता है। इसके लिये यदि प्रत्येक घरमें एक-एक भगवान्‌की मूर्ति या चित्र रहे—मूर्ति या चित्र वही हो जो अपने मनको रुचता हो और

नित्य नियमपूर्वक उसकी पूजा की जाय तो समय और मन दोनोंको ही परमात्मामें लगानेका अभ्यास अनायास हो सकता है।

भगवान्‌के अनेक मन्दिर हैं, मन्दिरोंमें जाना बड़ा उत्तम है, परन्तु एक तो सभी स्थानोंमें मन्दिर मिलते नहीं। दूसरे सभी जाकर अपनी इच्छाके अनुसार अपने हाथों सेवा-पूजा नहीं कर सकते। तीसरे सब मन्दिरोंकी व्यवस्था आजकल प्रायः ठीक नहीं रही। चौथे घरके सब स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध मन्दिरोंमें नियमित रूपसे जा भी नहीं सकते। परन्तु घरमें किसी धातुकी, पाषाणकी भगवान्‌की कोई मूर्ति या चित्र सभी रख सकते हैं और उसकी पूजा अपने-अपने मतके अनुसार या श्रीप्रेमभक्तिप्रकाशमें बतलायी हुई विधिके अनुसार स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं। घरमें नित्य भगवान्‌की पूजा होनेसे उसके लिये पूजाकी सामग्री जुटाने, पुष्पकी माला गूँथने आदिमें बहुत-सा समय एक तरहसे भगवत्-चिन्तनमें लग जाता है। बालकोंको भी इसमें बड़ा आनन्द मिलता है, वे भी इसको सीख जाते हैं। बालकपनसे ही उनके हृदयमें भगवत्सम्बन्धी संस्कार जमने लगते हैं। व्यर्थके खेल-कूदकी बात भूलकर उनका चित्त इसी सत्कार्यमें प्रमुदित होने लगता है। छोटी उम्रके संस्कार आगे चलकर बड़ा काम देते हैं। भक्तिमती मीराबाई आदिमें इस बालकपनके मूर्तिपूजाके संस्कारसे ही बड़ी उम्रमें भक्तिका विकास हुआ था। जिन लोगोंने अपने घरोंमें इस कार्यका आरम्भ कर दिया है उनकी भगवान्‌में श्रद्धा, भक्ति और प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

अतएव मैं सब भाइयोंसे, वेद, शास्त्र और पुराणादि न माननेवाले भाइयोंसे भी विनीत-भावसे यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि वे उचित समझें तो अपने-अपने घरोंमें इस कामको तुरत आरम्भ कर दें। भगवान्की पूजाके साथ ही घरके सब पुरुष, स्त्रियाँ और बालक मिलकर भगवान्का नाम लें। भगवान्की पूजा चाहे एक ही व्यक्ति करे पर पूजाका अधिकार सबको हो। स्वामी न हो तो स्त्री पूजा कर ले, स्त्री न कर सके तो पुरुष कर ले। साराश यह है कि भगवत्-पूजनमें नित्य कुछ समय अवश्य लगता रहे। इससे घरभरमें श्रद्धा-भक्तिका विकास हो सकता है। जो लोग कर सकें वे बाह्य पूजाके साथ ही अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार या 'श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश'* के अनुसार भगवान्की मानसिक पूजा भी करें, क्योंकि आन्तरिक पूजाका महत्त्व और भी अधिक है। एक बार मेरी इस प्रार्थनापर ध्यान देकर इस पूजन-भक्तिका आरम्भकर इसका फल तो देखें। इससे अधिक विश्वास दिलानेका मेरे पास और कोई साधन नहीं है।

* 'श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश' नामक लेख इसीमें अन्यत्र प्रकाशित है, इसकी अलग पुस्तक भी गीताप्रेस, गोरखपुरसे मिल सकती है।

वैराग्य

वैराग्यका महत्त्व

कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वैराग्य-साधनकी परम आवश्यकता है। वैराग्य हुए बिना आत्माका उद्धार कभी नहीं हो सकता। सच्चे वैराग्यसे सांसारिक भोग-पदार्थोंके प्रति उपरामता उत्पन्न होती है। उपरामतासे परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ध्यान होता है। ध्यानसे परमात्माके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान होता है और ज्ञानसे उद्धार होता है। जो लोग ज्ञान-सम्पादनपूर्वक मुक्ति प्राप्त करनेमें वैराग्य और उपरामताकी कोई आवश्यकता नहीं समझते, उनकी मुक्ति वास्तवमें मुक्ति न होकर केवल भ्रम ही होता है। वैराग्य-उपरामता-रहित ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं, वह केवल वाचिक और शास्त्रीय ज्ञान है, जिसका फल मुक्ति नहीं प्रत्युत और भी कठिन बन्धन है। इसीलिये श्रुति कहती है—

> अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
> ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬ रताः ॥
>
> (ईश० ९)

'जो अविद्याकी उपासना करते हैं वे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्यामें रत हैं वे उससे भी अधिक अन्धकारमें

प्रवेश करते हैं।' ऐसा वाचिक ज्ञानी निर्भय होकर विषय-भोगोंमें प्रवृत्त हो जाता है, वह पापको भी पाप नहीं समझता, इसीसे वह विषयरूपी दलदलमें फँसकर पतित हो जाता है। ऐसे ही लोगोंके लिये यह उक्ति प्रसिद्ध है—

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
तुलसी ऐसी आतमा, सहज नरकमहँ जाय॥

वास्तवमें ज्ञानके नामपर महान् अज्ञान ग्रहण कर लिया जाता है। अतएव यदि यथार्थ कल्याणकी इच्छा हो तो साधकको सच्चा दृढ़ वैराग्य उपार्जन करना चाहिये। किसी स्वाँगविशेषका नाम वैराग्य नहीं है। किसी कारणवश या मूढ़तासे स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादिका त्याग कर देना, कपडे रँग लेना, सिर मुडवा लेना, जटा बढ़ाना या अन्य बाह्य चिह्नोंका धारण करना वैराग्य नहीं कहलाता। मनसे विषयोंमें रमण करते रहना और ऊपरसे स्वाँग बना लेना तो मिथ्याचार—दम्भ है। भगवान् कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३। ६)

'जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

सम्प्रति दम्भका बहुत विस्तार हो रहा है, कोई लोगोंको ठगनेके लिये दिखलौआ मौन धारण करता है, कोई आसन लगाकर बैठता

है, कोई विभूति रमाता है, कोई केश बढ़ाता है, कोई धूनी तपता है— '*उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः*।'

इनमेंसे कोई-सा भी वैराग्य नहीं है। मेरे इस कथनका यह अभिप्राय नहीं कि मैं स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, शिखा-सूत्रादि तथा कर्मोंके स्वरूपसे त्याग करनेको बुरा समझता हूँ। न यही समझना चाहिये कि मौन धारण करना आसन लगाना, विभूति रमाना, केश बढ़ाना या मुड़वाना आदि कार्य अशास्त्रीय और निन्दनीय हैं। न मेरा यही कथन है कि घर-बार त्यागकर इन चिह्नोंके धारण करनेवाले सभी लोग पाखण्डी हैं। उपर्युक्त कथन किसीकी निन्दा या किसीपर भी घृणा करनेके लिये नहीं समझना चाहिये। मेरा अभिप्राय यहाँ उन लोगोंसे है जो वैराग्यके नामपर पूजा पाने और लोगोंपर अनधिकार रोब जमाकर उन्हें ठगनेके लिये नाना भाँतिके स्वाँग सजते हैं। जो साधक संयमके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, साधन बढ़नेके लिये ऐसा करते हैं उनकी कोई निन्दा नहीं है। भगवान्‌ने भी मिथ्याचारी उन्हींको बतलाया है जो बाहरसे संयमका स्वाँग सजकर मन-ही-मन विषयका मनन करते रहते हैं। जो पुरुष चित्तकी वृत्तियोंको भगवच्चिन्तनमें नियुक्तकर सच्ची वैराग्य-वृत्तिसे बाह्याभ्यन्तर त्याग करते हैं उनकी तो सभी शास्त्रोंने प्रशंसा की है।

वैराग्य बहुत ही रहस्यका विषय है, इसका वास्तविक तत्त्व विरले महानुभाव ही जानते हैं। वैराग्यकी पराकाष्ठा उन्हीं पुरुषोंमें पायी जाती है जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं—जिन्होंने परमात्मरसमें डूबकर विषयरससे अपनेको सर्वथा मुक्त कर लिया है।

भगवान् कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
(गीता २ । ५९)

'इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको न ग्रहण करनेवाले पुरुषके केवल विषय निवृत्त हो जाते हैं, रस (राग) नहीं निवृत्त होता, परंतु जीवन्मुक्त पुरुषका तो राग भी परमात्माको साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है ।'

अब हमें वैराग्यके स्वरूप, उसकी प्राप्तिके उपाय, वैराग्यप्राप्त पुरुषोंके लक्षण और फलके विषयमें कुछ विचार करना चाहिये । साधनकालमें वैराग्यकी दो श्रेणियाँ हैं । जिनको गीतामें वैराग्य और दृढ़वैराग्य, योगदर्शनमें वैराग्य और परवैराग्य एवं वेदान्तमें वैराग्य और उपरतिके नामसे कहा है । यद्यपि उपर्युक्त तीनोंमें ही परस्पर शब्द और ध्येयमें कुछ-कुछ भेद है परन्तु बहुत अंशमें यह मिलते जुलते शब्द ही हैं । यहाँ लक्ष्यके लिये ही तीनोंका उल्लेख किया गया है ।

वैराग्यका स्वरूप

योगदर्शनमें यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकारभेदसे वैराग्यकी चार संज्ञाएँ टीकाकारोंने बतलायी हैं, उसकी विस्तृत व्याख्या भी की है । वह व्याख्या सर्वथा युक्तियुक्त और माननीय है । तथापि यहाँ संक्षेपसे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार वैराग्यके कुछ रूप बतलानेकी चेष्टा की जाती है, जिससे सरलतापूर्वक सभी लोग इस विषयको समझ सकें ।

भयसे होनेवाला वैराग्य—संसारके भोग भोगनेसे परिणाममें नरककी प्राप्ति होगी, क्योंकि भोगमें संग्रहकी आवश्यकता है, संग्रहके लिये आरम्भ आवश्यक है, आरम्भमें पाप होता है, पापका फल नरक या दुःख है। इस तरह भोगके साधनोंमें पाप और पापका परिणाम दुःख समझकर उसके भयसे विषयोंसे अलग होना भयसे उत्पन्न वैराग्य है।

विचारसे होनेवाला वैराग्य—जिन पदार्थोंको भोग्य मानकर उनके सुखसे आनन्दकी भावना की जाती है, जिनकी प्राप्तिमें सुखकी प्रतीति होती है, वे वास्तवमें न भोग हैं न सुखके साधन हैं, न उनमें सुख है। दुःखपूर्ण पदार्थोंमें—दुःखमें ही अविचारसे सुखकी कल्पना कर ली गयी है। इसीसे वह सुखरूप भासते हैं, वास्तवमें तो दुःख या दुःखके ही कारण हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निस्सन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।' *अनित्य न प्रतीत हो तो इनको क्षणभङ्गुर समझकर सहन करना चाहिये।* भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
(गीता २। १४)

'हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके सयोग तो क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं इसलिये हे भारत ! उनको तू सहन कर ।' अगले श्लोकमें इस सहनशीलताका यह फल भी बतलाया है कि—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

(गीता २ । १५)

'दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको यह इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते वह मोक्षके लिये योग्य होता है ।' आगे चलकर भगवान्‌ने यह स्पष्ट कह दिया है कि जो पदार्थ विचारसे असत् ठहरता है वह वास्तवमें है ही नहीं । यही तत्त्वदर्शियोंका निर्णीत सिद्धान्त है ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गीता २ । १६)

'हे अर्जुन ! असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ।'

इस प्रकारके विवेकद्वारा उत्पन्न वैराग्य 'विचारसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य' है ।

साधनसे होनेवाला वैराग्य—जब मनुष्य साधन करते-करते प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌के तत्त्वका अनुभव करने लगता है तब उसके मनमें भोगोंके प्रति स्वतः ही वैराग्य उत्पन्न होता है ।

उस समय उसे संसारके समस्त भोग्य-पदार्थ प्रत्यक्ष दु:खरूप प्रतीत होने लगते हैं । सब विषय भगवत्प्राप्तिमें स्पष्ट बाधक दीखते हैं ।

जो स्त्री-पुत्रादि अज्ञानीकी दृष्टिमें रमणीय, सुखप्रद प्रतीत होते हैं, वही उसकी दृष्टिमें घृणित और दु:खप्रद प्रतीत होने लगते हैं ।* धन-मकान, रूप-यौवन, गाड़ी-मोटर, पद-गौरव, शान-शौकीनी, विलासिता-सजावट आदि सभीमें उसकी विरक्त बुद्धि हो जाती है और उनका सङ्ग उसे साक्षात् कारागारसे भी अधिक बन्धनकारक, दु:खदायी तथा घृणास्पद बोध होने लगता है । मान-बड़ाई, पूजा प्रतिष्ठा, सत्कार-सम्मान आदिसे वह इतना डरता है जितना साधारण मनुष्य सिंह-व्याघ्र, भूत-प्रेत और यमराजसे डरता है । जहाँ उसे सत्कार, पूजा या सम्मान मिलनेकी किञ्चित् भी सम्भावना होती है, वहाँ जानेमें उसे बड़ा भय मालूम होता है । अतः ऐसे स्थानोंको वह दूरसे ही त्याग देता है । जिन प्रशंसा प्रतिष्ठा, मान-सम्मानकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्य फूले नहीं समाते, उन्हींमें उसको लज्जा, सङ्कोच और दु:ख होता है, वह उनमें अपना अध:पतन समझता है । हमलोग जिस प्रकार अपवित्र और घृणित पदार्थोंको देखनेमें हिचकते हैं उसी प्रकार वह मान-बड़ाईसे घृणा करता है । किसीको भी प्रसन्न करने या किसीके भी दबावसे वह मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता । उसे वे प्रत्यक्ष नरककुण्ड

* इससे कोई यह न समझे कि स्त्री-पुत्रादिसे व्यवहारमें घृणा करनी चाहिये । परन्तु साधकको उनसे यथायोग्य प्रेमका बर्ताव करते हुए मनमें वैराग्यकी भावना रखनी चाहिये ।

प्रतीत होते हैं। जो लोग उसे मान-बड़ाई देते हैं, उनके सम्बन्धमें वह यही समझता है कि यह मेरे भोले भाई मेरी हित-कामनासे विपरीत आचरण कर रहे हैं। '*भोले साजन शत्रु बराबर*' वाली उक्ति चरितार्थ करते हैं। इसलिये वह उनकी क्षणिक प्रसन्नताके लिये उनका आग्रह भी स्वीकार नहीं करता। वह जानता है कि इसमें इनका तो कोई लाभ नहीं है और मेरा अधःपतन है। पक्षान्तरमें स्वीकार न करनेमें न दोष है, न हिंसा है और इस कार्यके लिये इन लोगोंके इस आग्रहसे बाध्य होना धर्मसम्मत भी नहीं है। धर्म तो उसे कहते हैं जो इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी हो। जो लोक-परलोक दोनोंमें अहितकर है वह कल्याण नहीं, अकल्याण ही है। पुरस्कार नहीं, महान् विपद् ही है। माता-पिता मोहवश बालकके क्षणिक सुखके लिये उसे कुपथ्य सेवन कराकर अन्तमें बालकके साथ ही स्वयं भी दुखी होते हैं। इसी प्रकार यह भोले भाई भी तत्त्व न समझनेके कारण मुझे इस पाप-पथमें ढकेलना चाहते हैं। समझदार बालक माता-पिताके दुराग्रहको नहीं मानता तो वह दोषी नहीं होता। परिणाम देखकर या विचारकर माता-पिता भी नाराज नहीं होते। इस प्रकार विचार करनेपर ये भाई भी नाराज नहीं होंगे। यों समझकर वह किसीके द्वारा भी प्रदान की हुई मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता। वह समझता है कि इसके स्वीकारसे मैं अनाथकी भाँति मारा जाऊँगा। इतना त्याग मुझमें नहीं है कि दूसरोंकी जरा-सी खुशीके लिये मैं अपना सर्वनाश कर डालूँ। त्याग-बुद्धि हो, तो भी विवेक ऐसे त्यागको बुद्धिमानी या उत्तम नहीं बतलाता, जो सरल-चित्त भाई अज्ञानसे साधकोंको इस प्रकार मान-

बड़ाई स्वीकार करनेके लिये बाध्य कर उन्हें महान् अन्धकार और दुःखके गड्ढेमें ढकेलते हैं, परमात्मा उन्हें सद्बुद्धि प्रदान करें, जिससे वे साधकोंको इस तरह विपत्तिके भँवरमें न डालें।

साधनद्वारा इस प्रकारकी विवेकयुक्त भावनाओंसे भोगोंके प्रति जो वैराग्य होता है वह साधनद्वारा होनेवाला वैराग्य है। इस तरहके वैरागी पुरुषको संसारके स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, धन, ऐश्वर्य आदि उसी प्रकार कान्तिहीन और नीरस प्रतीत होते हैं, जैसे प्रकाशमय सूर्यदेवके उदय होनेपर चन्द्रमा प्रतीत हुआ करता है।

परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे होनेवाला वैराग्य—जब साधकको परमात्माके तत्त्वकी उपलब्धि हो जाती है तब तो संसारके सम्पूर्ण पदार्थ उसे स्वतः ही रसहीन और मायामात्र प्रतीत होने लगते हैं। फिर उसे भगवत्तत्त्वके अतिरिक्त अन्य किसीमें कुछ भी सार नहीं प्रतीत होता। जैसे मृगतृष्णाके जलको मरीचिका जान लेनेपर उसमें जल नहीं दिखायी देता, जैसे नींदसे जगनेपर स्वप्नको स्वप्न समझ लेनेपर स्वप्नके संसारका चिन्तन करनेपर भी उसमें सत्ता नहीं मालूम होती उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषको जगत्‌के पदार्थोंमें सार और सत्ताकी प्रतीति नहीं होती। जैसे चतुर बाजीगरद्वारा निर्मित रम्य बगीचेमें अन्य सब मोहित होते हैं; परन्तु उसका तत्त्व जाननेवाला जमूरा उसे मायामय और निस्सार समझकर मोहित नहीं होता, (हाँ, अपने मायापति मालिककी लीला देख-देखकर आह्लादित अवश्य होता है) इसी प्रकार इस श्रेणीका वैरागी पुरुष विषय-भोगोंमें मोहित नहीं होता।

इस प्रकारके वैराग्यवान् पुरुषकी संसारके किसी भोग-पदार्थमें आस्था ही नहीं होती, तब उसमें रमणीयता और सुखकी भ्रान्ति तो हो ही कैसे सकती है ? ऐसा ही पुरुष परमात्माके परमपदका अधिकारी होता है । इसीको परवैराग्य या दृढ वैराग्य कहते हैं ।

वैराग्य-प्राप्तिके उपाय

उपर्युक्त विवेचनपर विचारकर आरम्भमें साधकोंको चाहिये कि ये ससारके विषयोंको परिणाममें हानि करनेवाले मानकर भयसे या दुःख-रूप समझकर घृणासे ही उनका त्याग करें । बारंबार वैराग्यकी भावनासे त्यागके महत्त्वका मनन करनेसे, जगत्‌की यथार्थ स्थितिपर विचार करनेसे, मृत पुरुषों, सूने महलों, टूटे मकानों और खँडहरों को देखने-सुननेसे, प्राचीन नरपतियोंकी अन्तिम गतिपर ध्यान देनेसे और विरक्त विचारशील पुरुषोंका सङ्ग करनेसे ऐसी दलीलें हृदयमें स्वयमेव उठने लगती हैं, जिनसे विषयोंके प्रति विराग उत्पन्न होता है । पुत्र-परिवार, धन-मकान, मान-बड़ाई, कीर्ति-कान्ति आदि समस्त पदार्थोंमें निरन्तर दुःख और दोष देख-देखकर उनसे मन हटाना चाहिये । भगवान्‌ने कहा है—

> इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
> जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
> असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
>
> (गीता १३ । ८-९)

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग

आदिमें दुःख-दोषोंका बारंबार विचार करना तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्ति और ममताका अभाव करना चाहिये।

विचार करनेपर ऐसी और भी अनेक दलीलें मिलेंगी जिनसे संसारके समस्त पदार्थ दुःखरूप प्रतीत होने लगेंगे।

योगदर्शनका सूत्र है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

(साधनपाद १५)

परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख तथा दुःखोंसे मिश्रित होने और गुण-वृत्ति-विरोध होनेसे भी विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें समस्त विषयसुख दुःखरूप ही हैं। अब यहाँ इसका कुछ खुलासा कर दिया जाता है—

परिणामदुःखता—जो सुख आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखरूप हो वह सुख परिणामदुःखता कहलाता है। जैसे रोगीके लिये आरम्भमें जीभको स्वाद लगनेवाला कुपथ्य। वैद्यके मना करनेपर भी इन्द्रियासक्त रोगी आपात-सुखकर पदार्थको स्वादवश खाकर अन्तमें दुःख उठाता, रोता, चिल्लाता है, इसी प्रकार विषयसुख आरम्भमें रमणीय और सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखकर है। भगवान् कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है परन्तु परिणाममें वह (बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे) विषके सदृश है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

दादकी खाज खुजलाते समय बहुत ही सुखद मालूम होती है। परन्तु परिणाममें जलन होनेपर वही महान् दुःखद हो जाती है। यही विषय-सुखोंका परिणाम है। इस लोक और परलोकके सभी विषय-सुख परिणामदुःखताको लिये हुए हैं। बड़े पुण्यसञ्चयसे लोगोंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है परन्तु '*ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*।' (गीता ९ । २१) वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इसलिये गोसाईंजी महाराजने कहा है—

एहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

तापदुःखता—पुत्र, स्त्री, स्वामी, धन, मकान आदि सभी पदार्थ हर समय ताप देते—जलाते रहते हैं। कोई विषय ऐसा नहीं है जो विचार करनेपर जलानेवाला प्रतीत न हो। इसके सिवा जब मनुष्य अपनेसे दूसरोंको किसी भी विषयमें अधिक बढ़ा हुआ देखता है तब अपने अल्प सुखके कारण उसके हृदयमें बड़ी जलन होती है। विषयोंकी प्राप्ति, उनके संरक्षण और नाशमें भी सदा जलन बनी ही रहती है। कहा है—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
(श्रीमद्भा० ११ । २३ । १७)

धन कमानेमें कई तरहके सन्ताप, उपार्जन हो जानेपर उसकी रक्षामें सन्ताप, कहीं किसीमें डूब न जाय, इस चिन्तामें सदा ही जलना पड़ता है, नाश हो जाय तो जलन, खर्च हो जाय तो जलन, छोड़कर मरनेमें जलन, मतलब यह कि आदिसे अन्ततक केवल सन्ताप ही रहता है । इसलिये इसको धिक्कार दिया गया । यही हाल पुत्र, मान-बड़ाई आदिका है । सभीमें प्राप्तिकी इच्छासे लेकर वियोगतक सन्ताप बना रहता है । ऐसा कोई विषय-सुख नहीं जो सन्ताप देनेवाला न हो ।

संस्कारदुःखता—आज स्त्री-स्वामी, पुत्र-परिवार, धन-मानादि जो विषय प्राप्त हैं उनके संस्कार हृदयमें अङ्कित हो चुके हैं इसलिये उनके समाप्त होनेपर संस्कारोंके कारण उन वस्तुओंका अभाव महान् दुःखदायी होता है । मैं कैसा था, मेरा पुत्र सुन्दर, सुशील और आज्ञाकारी था, मेरी स्त्री कितनी सुशीला थी, मेरे पतिसे मुझे कितना सुख मिलता था, मेरी बड़ाई जगत्‌भरमें छा रही थी, मेरे पास लाखों रुपये थे । *परन्तु आज मैं क्या-से-क्या हो गया ।* मैं सब तरहसे दीन-हीन हो गया, यद्यपि उसीके समान जगत्‌में *लाखों-करोड़ों मनुष्य आरम्भसे ही इन विषयोंसे रहित हैं परन्तु* वे ऐसे दुःखी नहीं हैं । जिसके विषय-भोगोंकी बाहुल्यताके समय सुखोंके संस्कार होते हैं *उसे ही उनके अभावकी प्रतीति होती है ।* अभावकी प्रतीतिमें दुःख भरा हुआ है, यही संस्कारदुःखता है ।

इसके सिवा यह बात भी सर्वथा ध्यानमें रखनी चाहिये कि संसारके सभी विषय-सुख सभी अवस्थामें दुःखसे मिश्रित हैं ।

गुण-वृत्तियोंके विरोधजन्यदु ख—एक मनुष्यको कुछ झूठ बोलने या छल-कपट, विश्वासघात करनेसे दस हजार रुपये मिलनेकी सम्भावना प्रतीत होती है। उस समय उसकी सात्त्विक वृत्ति कहती है—'पाप करके रुपये नहीं चाहिये, भीख माँगना या मर जाना अच्छा है, परन्तु पाप करना उचित नहीं।' उधर लोभमूलक राजसी वृत्ति कहती है 'क्या हर्ज है? एक बार तनिक सी झूठ बोलनेमें आपत्ति ही कौन-सी है? जरा-से छल-कपट या विश्वासघातसे क्या होगा? एक बार ऐसा करके रुपये कमाकर दारिद्र्य मिटा लें, भविष्यमें ऐसा नहीं करेंगे।'

यों सात्त्विकी और राजसी वृत्तिमें महान् युद्ध मच जाता है, इस झगड़ेमें चित्त अत्यन्त व्याकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है। विषाद और उद्विग्नताका पार नहीं रहता।

इसी तरह राजसी, तामसी वृत्तियोंका झगड़ा होता है। एक मनुष्य शतरंज या ताश खेल रहा है। उधर उसके समयपर न पहुँचनेसे घरका आवश्यक काम बिगड़ता है। कर्ममें प्रवृत्ति करानेवाली राजसी वृत्ति कहती है—'उठो, चलो हर्ज हो रहा है, घरका काम करो।' इधर प्रमादरूपा तामसी वृत्ति पुनः-पुनः उसे खेलकी ओर खींचती है, वह बेचारा इस दुविधामें पड़कर महान् दुखी हो जाता है।

उदाहरणके लिये दो दृष्टान्त ही पर्याप्त हैं।

इस प्रकार विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि संसारके सभी सुख दु.खरूप हैं। अतएव इनसे मन हटानेकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त भयसे और विचारसे होनेवाले दोनों प्रकारके वैराग्योंको प्राप्त करनेके यही उपाय हैं, यह उपाय पूर्वापेक्षा उत्तम श्रेणीके वैराग्य-सम्पादनमें भी अवश्य ही सहायक होते हैं। परन्तु अगले दोनों वैराग्योंकी प्राप्तिमें निम्नलिखित साधन विशेष सहायक होते हैं।

परमात्माके नाम-जप और उनके स्वरूपका निरन्तर स्मरण करते रहनेसे हृदयका मल ज्यों-ज्यों दूर होता है, त्यों-त्यों उसमें उज्ज्वलता आती है। ऐसे उज्ज्वल और शुद्ध अन्तःकरणमें वैराग्यकी लहरें उठती हैं, जिनसे विषयानुराग मनसे स्वयमेव ही हट जाता है। इस अवस्थामें विशेष विचारकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे मैले दर्पणको रूईसे घिसनेपर ज्यों-ज्यों उसका मैल दूर होता है त्यों-ही-त्यों वह चमकने लगता है और उसमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलायी पड़ता है, इसी प्रकार परमात्माके भजन-ध्यानरूपी रूईकी चाह रगड़से अन्तःकरणरूपी दर्पणका मल दूर होनेपर वह चमकने लगता है और उसमें सुखस्वरूप आत्माका प्रतिबिम्ब दीखने लगता है। ऐसी स्थितिमें जरा-सा भी बाकी रहा हुआ विषय-मलका दाग साधकके हृदयमें शूल-सा खटकता है अतएव वह उत्तरोत्तर अधिक उत्साहके साथ उस दागको मिटानेके लिये भजन-ध्यानमें तत्पर होकर अन्तमें उसे सर्वथा मिटाकर ही छोड़ता है। ज्यों-ज्यों भजन-ध्यानसे अन्तःकरणरूपी दर्पणकी सफाई होती है, त्यों-त्यों साधककी आशा और उसका उत्साह बढ़ता रहता है, भजन-ध्यानरूपी साधन-तत्त्व म

समझनेवाले मनुष्यको ही भाररूप प्रतीत होता है । जिसको इसके तत्त्वका ज्ञान होने लगा है वह तो उत्तरोत्तर आनन्दकी उपलब्धि करता हुआ पूर्णानन्दकी प्राप्तिके लिये भजन-ध्यान बढ़ाता ही रहता है । उसकी दृष्टिमें विषयोंमें दीखनेवाले विषय-सुखकी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती । इससे उसे दृढ़ वैराग्यकी बहुत शीघ्र प्राप्ति हो जाती है । भगवान्‌ने इस दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्रद्वारा ही अहंता, ममता और वासनारूप अतिदृढ मूलवाले संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको काटनेके लिये कहा है ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

(गीता १५ । ३)

संसारके चित्रको सर्वथा भुला देना ही इस अश्वत्थ-वृक्षका छेदन करना है । दृढ़ वैराग्यसे यह काम सहज ही हो सकता है ।

भगवान् कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

(गीता १५ । ४)

इसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये, (उस परमात्माके विज्ञान आनन्दघन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' का बारबार चिन्तन करना ही उसे ढूँढ़ना है) जिसमें गये हुए पुरुष फिर वापस संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ (उस परमपदके

स्वरूपको पकड़ लेना—उसमें स्थित हो जाना ही उसकी शरण होना है) इस प्रकार शरण होनेपर—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
(गीता १५ । ५)

'नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिन्होंने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी तरह नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।'

वैराग्यका फल

बस, इस प्रकार एक परमात्माका ज्ञान रह जाना ही अटल समाधि या जीवन्मुक्त-अवस्था है, उसीके यह लक्षण हैं। तदनन्तर ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष भगवान्‌के भक्त संसारमें किस प्रकार विचरते हैं, उनकी कैसी स्थिति होती है, इसका विवेचन गीताके अध्याय १२ के श्लोक १३ से १९ तक निम्नलिखित रूपमें है, भगवान् उसके लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

'इस प्रकार शान्तिको प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेष-भावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपना अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है । जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ, निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए, मुझमें दृढ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है । जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता एवं जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मुझे प्रिय है । जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतर शुद्ध, चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपातसे

रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सब आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी, शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी मेरा भक्त मुझे प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है। जो पुरुष शत्रु-मित्र, मान अपमान, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिरबुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

अतएव इस असार संसारसे मन हटाकर इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्यवान् होकर सबको परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

गीतासम्बन्धी प्रश्नोत्तर

एक सज्जनके प्रश्न हैं—

प्रश्न—गीता वेदोंको मानती है कि नहीं ? यदि मानती है तो किस दृष्टिसे ? अध्याय २ श्लोक ४२, ४५, ४६, ५३ में वेदोंको क्यों नीची दृष्टिसे कथन किया है ?

उत्तर—गीता वेदोंको मानती है और उनको बहुत ऊँची दृष्टिसे देखती है। दूसरे अध्यायके इन श्लोकोंमें वेदोंकी निन्दा नहीं की गयी है, केवल भोग ऐश्वर्य या स्वर्गादिरूप क्षणभङ्गुर और विनाशी फल देनेवाले सकाम कर्मोंसे अलग रहकर आत्मपरायण होनेके लिये कहा गया है। भोगोंमें मनुष्यकी स्वाभाविक ही प्रवृत्ति रहती है। इसपर यदि 'अमुक कर्मसे बहुत धन मिलेगा।' 'अमुक कर्मसे मनचाहे स्त्री-पुत्रादि मिलेंगे।' 'अमुकसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होगी।' आदि सुहावने वचन सुननेको मिल जायँ तब तो मनका अपहरण हो जाना अनिवार्य हो जाता है। भोगलालसा बढ़कर बुद्धिको डाँवाँडोल कर देती है। बहुशाखावाली बुद्धिसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती और इसके हुए बिना दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा नहीं मिलता। इसीसे आगे चलकर नवें अध्यायमें फिर कहा गया है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
(९ , २१)

'तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापोंसे पवित्र हुए जो पुरुष मुझे यज्ञोंद्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे अपने पुण्योंके फलरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं और उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार (स्वर्गके साधनरूप) तीनों (ऋक्, यजु, साम) वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए भोगकामनावाले पुरुष बारंबार आवागमनको प्राप्त होते हैं ।'

तात्पर्य यह कि सकाम कर्ममें लगे हुए पुरुषोंको बारबार संसारमें आना-जाना पड़ता है, उन्हें जन्मरूप कर्मफल ही मिलता है । जन्म-मृत्युके चक्रसे उनका पिण्ड नहीं छूटता । इस विवेचनसे यह समझना है कि यहाँ वास्तवमें वेदकी निन्दा नहीं है । सकाम कर्म, परम श्रेयकी प्राप्ति नहीं करानेवाले होनेके कारण उन्हें निष्काम कर्म और निष्काम उपासनाकी अपेक्षा नीची श्रेणीका बतलाया है । उनको बुरा नहीं बताया, यह कहीं नहीं कहा कि वैदिक सकामकर्मी पुरुष *मोहजालसमावृताः* आसुरी सम्पत्तिवाले पुरुषोंकी तरह *'पतन्ति नरकेऽशुचौ'* अपवित्र नरकमें पड़ते हैं या *'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥'* [१६ । २०] हे कौन्तेय ! वे मूढ़ पुरुष

जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए मुझे न पाकर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं। बल्कि यह कहा है कि वे पूतपाप (देव-ऋणरूप पापोंसे मुक्त होकर) स्वर्गकी इच्छासे यज्ञद्वारा भगवत्-पूजा करनेवाले होनेके कारण स्वर्गके दिव्य और विशाल भोगोंको भोगते हैं।

पक्षान्तरमें वेदका महत्त्व प्रकट करनेवाले अनेक वचन गीतामें मिलते हैं—'*कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्*' [३ । १५] 'कर्मको वेदसे और वेदको अक्षर परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान।' '*ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥*' [१७ । २३] 'ॐ, तत्, सत्—ये ब्रह्मके त्रिविध नाम कहे हैं। सृष्टिके आदिमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि उसीसे ही रचे गये हैं।' इन वचनोंसे वेदकी उत्पत्ति परमात्मासे हुई बतलायी गयी है। '*एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥*' [४ । ३२] 'ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तार किये गये हैं, उन सबको शरीर, मन और इन्द्रियोंकी क्रियाद्वारा ही उत्पन्न होनेवाले जान। इस प्रकार तत्त्वसे जानकर निष्काम कर्मयोगद्वारा संसार बन्धनसे मुक्त हो जायगा।' यहाँ वैदिक कर्मोंका तत्त्व समझकर उनके निष्काम आचरणसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति बतलायी है। '*यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति।*' [८ । ११] 'वेदको जाननेवाले जिस परमात्माको अक्षर (ओंकार नामसे) कहते हैं। इसमें वेदकी प्रशंसा स्पष्ट है। ठीक यही वाक्य कठोपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रमें है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(१।२।१५)

'पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।' पवित्र ओंकार और ऋक्, साम तथा यजुर्वेद मैं ही हूँ।' [९।१७] इन वचनोंसे गीताकार भगवान्‌ने वेदको अपना स्वरूप माना है। 'छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।' [१३।४] 'विविध वेदमन्त्रोंसे (क्षेत्रक्षेत्रज्ञका तत्त्व) विभागपूर्वक' कहकर अपने वचनोंकी पुष्टिमें वेदका प्रमाण दिया है 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।' [१५।१५] 'समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ और वेदान्तका कर्ता तथा वेदवित् भी मैं ही हूँ।' इन वचनोंसे भगवान्‌ने अपनेको वेदसे वेद्य और वेदका ज्ञाता बतलाकर वेदकी महान् प्रतिष्ठा स्पष्ट स्वीकार की है। इसके सिवा और भी कई स्थल ऐसे हैं जहाँ वेदोंकी प्रशंसा की गयी है।

इससे यह पता लग जाता है कि गीता वेदको नीचा नहीं मानती। गीताने केवल सकाम कर्मको ही निष्कामकी अपेक्षा नीचा बतलाया है। वास्तवमें इस लोक और परलोकके भोगपदार्थ तो मोक्षसे सदा ही नीचे हैं। स्वयं वेद भी इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायमें इसका विवेचन है। कठोपनिषद्‌के यम-नचिकेता-संवादमें प्रेय-श्रेयका विवेचन करते हुए यमराजने भोग-ऐश्वर्यादि प्रेयकी निन्दा और मोक्ष-श्रेयकी बड़ी प्रशंसा की है एवं भोग-ऐश्वर्यमें अनासक्त होनेके कारण नचिकेताकी बहुत बड़ाई की है। (कठ० उ० २।१, २, ३) इसी प्रकारकी बात

गीतामें है। निष्काम कर्म, निष्काम उपासना और आत्मतत्त्वकी जगह-जगह प्रशंसा करके गीताने प्रकारान्तरसे वेदका ही समर्थन किया है।

प्र०—गीता वर्णाश्रम-धर्मको मानती है या नहीं? यदि मानती है तो किस प्रकारसे? यदि नहीं मानती है तो वर्णाश्रम-धर्मको क्यों चाहती है? अगर मानती है तो १८ वें अध्यायके ६६ वें श्लोकमें कथित 'सब धर्म छोड़कर' का क्या अर्थ है?

उ०—गीता वर्णाश्रमको मानती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण अपने-अपने स्वाभाविक वर्ण-धर्मका स्वार्थ-रहित निष्काम भावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ आचरण करें तो उनकी मुक्ति होना गीताको सर्वथा मान्य है। गीता अध्याय १८ श्लोक ४१ से ४४ तक चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्म बतलाकर ४५-४६ में उन्हीं स्वाभाविक कर्मोंसे उनके लिये परम सिद्धिकी प्राप्ति होना बतलाया है और ४७-४८ में वर्ण-धर्मके पालनपर विशेष जोर दिया है।

गीता जन्म-कर्म दोनोंसे वर्ण मानती है। '*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*' [४ । १३] 'गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं।' इन वचनोंसे उनका पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप गुण-कर्मके अनुसार रचा जाना सिद्ध होता है, न कि पीछेसे मानना। इसीलिये गीता वर्णधर्मको 'स्वभावज' और 'सहज' (जन्मके साथ ही उत्पन्न होनेवाला) कर्म कहती है। परमेश्वरकी शरण होकर कोई भी अपने स्वाभाविक कर्म-द्वारा निष्कामभावसे उसकी उपासना करके मुक्त हो सकता है। वर्णोंके अनुसार कर्मोंमें भेद मानती हुई भी मुक्तिके सम्बन्धमें गीता सबका सामान्य अधिकार बतलाती है। गीताकी घोषणा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८ । ४६)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥
(९ । ३२ ३३)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सब जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है ।' 'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं फिर पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षि भक्तोंका तो कहना ही क्या है ' अतएव तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।'

गीता अध्याय १८ । ६६ में *'सर्वधर्मान्परित्यज्य'* का अर्थ सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है, क्योंकि पहले अध्याय १६ । २३ २४ में शास्त्रविधिके त्यागसे सिद्धि, सुख और परमगतिका न होना बतलाकर शास्त्रविधिसे नियत किये हुए धर्म-का पालन करना कर्तव्य बतलाया है । *अध्याय १८ । ४७-४८* में भी स्वधर्म-पालनपर बड़ा जोर दिया है । वहाँ ऐसा प्रतिपादन करके यहाँ सब धर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी आज्ञा देना सम्भव नहीं । यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि अपने वचनों-

के विरुद्ध यहाँ भगवान्‌ने स्वरूपसे धर्म छोड़नेकी आज्ञा ही दी है तो फिर अध्याय १८। ७३ में *'करिष्ये वचनं तव'* 'आपके आज्ञानुसार करूँगा।' कहकर अर्जुनका युद्धरूप वर्णधर्मका आचरण करना उससे विरुद्ध पड़ता है। भगवान्‌ने सब धर्मोंके त्यागकी आज्ञा दी। अर्जुनने उसे स्वीकार भी कर लिया, फिर उसके विरुद्ध अर्जुन युद्ध क्यों करता? इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने सब धर्मोंके त्यागकी आज्ञा नहीं दी। यहाँ *'सर्वधर्मान् परित्यज्य'* से उनका यही मतलब है कि मनुष्यको सब धर्मोंका 'आश्रय' छोड़कर केवल एक परमात्माका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। धर्मको स्वरूपसे त्यागनेकी बात नहीं है। बात है केवल आश्रय (शरण) के त्यागकी। यह तो वर्ण-धर्मकी बात हुई। वर्णकी भाँति आश्रम-धर्मका गीतामें स्पष्ट और विस्तृत वर्णन नहीं है। गौणरूपसे आश्रम धर्मको गीताने स्वीकार किया है *'ब्रह्मचर्यं चरन्ति' 'यतयो वीतरागाः' [८। ११] 'तपस्विभ्यः' [६। ४६]* 'ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं।' 'आसक्तिरहित सन्यासी' 'तपस्वियोंसे' आदि शब्दोंसे ब्रह्मचर्य, संन्यास और वानप्रस्थका निर्देश किया गया है। गृहस्थका वर्णन तो स्पष्ट ही है।

प्र०—गीता कर्मको मानती है या ज्ञानको या दोनोंको? यदि केवल कर्मको मानती है तो ज्ञान निष्फल है, यदि ज्ञानको मानती है तो कर्म निष्फल है, यदि ज्ञानको बताती है तो कर्मको क्यों चाहती है?

उ०—गीता अधिकारी-भेदसे ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों निष्ठाओंको मुक्तिके दो स्वतन्त्र साधन मानती है। दोनों ही निष्ठाओंका फल एक भगवत्प्राप्ति होनेपर भी दोनोंके साधकोंकी कार्यपद्धति,

उनके भाव और पथ सर्वथा भिन्न-भिन्न होते हैं। दोनों निष्ठाओंका साधन एक ही कालमें एक पुरुषद्वारा नहीं बन सकता।

निष्काम कर्मयोगी साधनकालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वरपरायण हो, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे ही समस्त कर्म करता है और ज्ञानयोगी मायाके गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं यों समझकर देहेन्द्रियोंसे होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तृत्वाहङ्कार न रखकर केवल सर्वव्यापी परमात्माके स्वरूपमें ऐक्यभावसे स्थित रहता है।

दोनोंमेंसे किसी भी निष्ठाके अनुसार स्वरूपसे कर्म त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। उपासनाकी आवश्यकता दोनोंमें है। इस विषयका विस्तृत विवेचन 'गीतोक्त संन्यास' और 'गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप' शीर्षक लेखोंमें किया गया है*।

प्र०—गीता मूर्तिपूजाको मानती है कि नहीं ? यदि नहीं मानती है तो अध्याय ९ के २६ वें श्लोकका क्या अर्थ है ? यदि मानती है तो निराकार या साकार ?

उ०—गीता मूर्तिपूजाको मानती है, अध्याय ९। २६ और ९। ३४ के श्लोकसे यह प्रमाणित है। अब रही स्वरूपकी बात, सो गीताको भगवान्‌के साकार निराकार दोनों ही स्वरूप मान्य हैं। उदाहरणार्थ कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

---

* 'गीतोक्त सांख्ययोग' और 'निष्काम कर्मयोग' लेख इसीमें अन्यत्र प्रकाशित हैं और वह पुस्तकाकार भी छप गये हैं, गीताप्रेससे पुस्तक मिल सकती है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(४ । ६–९)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(९ । ११, २६, ३४)

भगवान् कहते हैं—'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ । हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ । साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म-स्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ । हे अर्जुन ! मेरा वह

जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक हैं इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता है किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ।'

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुएको साधारण मनुष्य मानते हैं । पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं (सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित) खाता हूँ । (तू) मुझमें ही मनवाला हो, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा करनेवाला हो, मुझ वासुदेवको ही प्रणाम कर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मुझमें एकीभाव करके मुझको ही प्राप्त होगा ।'

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥
(१ । ११११। ११ । १७, ४६)

अर्जुन कहते हैं--

'आप परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष, देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं, वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवलऋषि, महर्षि व्यास और स्वय आप भी मेरे प्रति कहते हैं।' आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब तरफसे प्रकाशमान तेजका पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, देखनेमें अति गहन और अप्रमेयस्वरूप सब ओरसे देखता हूँ।' 'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथोंमें लिये हुए देखना चाहता हूँ। अतएव हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो आप उस चतुर्भुजरूपसे युक्त होइये अर्थात् चतुर्भुजरूप दिखलाइये।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२।२)

भगवान् कहते हैं---'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् मैं उन्हें अति श्रेष्ठ मानता हूँ।'

राजा धृतराष्ट्रसे संजय कहते हैं—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥

(१८।७७)

'हे राजन्! श्रीहरिके उस अति अद्भुत रूपको पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारंबार हर्षित होता हूँ।'

उपर्युक्त श्लोक साकार स्वरूपके प्रतिपादक हैं। नीचे निराकारके प्रतिपादक श्लोक हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(६। ३१)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७। १९)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
(८। २१)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
(९। ४-५)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(१२ । ३-४)

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥
(१३ । १५, २७, ३०)

भगवान् कहते हैं—

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है वह योगी सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी मुझमें ही वर्तता है। क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। (जो) बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है इस प्रकार मुझको भजता है वह महात्मा अति दुर्लभ है। (जो) अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा गया है उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते हैं वह मेरा परम धाम है। मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् (जलसे बर्फके सदृश) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार स्थित हैं (इसलिये वास्तवमें)

मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और (वे) सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं। (किन्तु) मेरी योगमाया और प्रभावको देख (कि) भूतोंका धारण पोषण करनेवाला और भूतोंका उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा (वास्तवमें) भूतोंमें स्थित नहीं है। जो पुरुष इन्द्रिय-समुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीय-स्वरूप, सदा एकरस रहनेवाले, नित्य अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए उपासते हैं वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं। (परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी (वही) है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और अति दूरमें भी वही स्थित है। जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें नाशरहित परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है वही देखता है। जिस कालमें भूतोंके न्यारे-न्यारे भावको एक परमात्माके सङ्कल्पके आधार स्थित देखता है तथा उस परमात्माके सङ्कल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है उस कालमें (वह) सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

प्र०—गीतामें लिखा है कि बिना शिष्य बनाये ज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये तो क्या अर्जुन शिष्य थे ? क्या अर्जुनको उपदेश देनेसे ज्ञान हुआ ? क्या वे परमपदको प्राप्त हुए ?

उ०—गीतामें ऐसा कहीं नहीं कहा गया कि बिना शिष्य बनाये ज्ञानका उपदेश नहीं करना चाहिये। तथापि अर्जुन तो

अपनेको भगवान्का शिष्य मानता भी था '*शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।*' [२ । ७] 'आपका शिष्य हूँ, आपके शरण हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये' कहकर अर्जुनने शिष्यत्व स्वीकार किया है और भगवान्ने इसका विरोध न कर तथा जगह-जगह अर्जुनको अपना इष्ट, प्रिय और भक्त मानकर प्रकारान्तरसे उसका शिष्य होना स्वीकार किया है । अर्जुनको परमपदकी प्राप्ति हुई थी, इसका उल्लेख महाभारत स्वर्गारोहणपर्वके चतुर्थ अध्यायमें है ।

प्र०—गीताको भगवान् कृष्णने अपने मुखारविन्दसे वर्णन किया है या (उसके) रचयिता कोई और पुरुष थे ?

उ०—गीता भगवान्के ही श्रीमुखका वचनामृत है । गीतामें जितने वचन 'श्रीभगवानुवाच' के नामसे हैं उनमें कुछ तो जो श्रुतियोंके प्राय ज्यों-के-त्यों वचन हैं, अर्जुनको श्लोकरूपमें ही कहे गये थे और अवशेष संवाद बोल-चालकी भाषामें हुआ था जिसको भगवान् श्रीव्यासदेवने श्लोकोंका रूप दे दिया ।

गीतोक्त
सन्यास या सांख्ययोग

एक सज्जनका प्रश्न है कि—

"गीतामें वर्णन किये हुए संन्यासका स्वरूप क्या है ?"

गीताका मर्म बतलाना बड़ा कठिन कार्य है । गीता ऐसा गहन ग्रन्थ है कि इसपर अबतक अनेक बड़े-बड़े विद्वान् साधु-महात्माओंने अपनी बुद्धिका उपयोग किया है और अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं, इतना होते हुए भी इस गीताशास्त्रके अंदर गोता लगानेवालोंको इसमें नये-नये अमूल्य रत्न मिलते ही चले जा रहे हैं, ऐसे शास्त्रका रहस्य क्या बतलाया जाय ? यद्यपि गीताशास्त्रपर विवेचन करना मेरी बुद्धिसे बाहरकी बात है तथापि मैं अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार अपने मनमें समझे हुए साधारण भावोंको आपलोगोंकी सेवामें उपस्थित करता हूँ । मेरा उद्देश्य किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, मत या किसी टीकाकारपर कुछ भी आक्षेप करना नहीं है । केवल मनके भावोंको बतला देनामात्र ही मेरा उद्देश्य है ।

गीतोक्त संन्यासके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है—

(१) एक पक्ष कहता है कि गीतामें संन्यास और कर्मयोग नामक दो निष्ठाओंका वर्णन है जिनमें केवल संन्यास ही मुक्तिका प्रधान और प्रत्यक्ष हेतु है और वह संन्यास सम्यक् ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना है, अर्थात् शास्त्रोक्त संन्यासाश्रमका ग्रहण करना है।

(२) दूसरा पक्ष कहता है कि यद्यपि शास्त्रोक्त संन्यासाश्रम अर्थात् ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंके स्वरूपसे त्यागसे भी भगवत्-प्राप्ति हो सकती है परन्तु गीतामें इसका प्रतिपादन नहीं है, यदि कहीं है तो वह अत्यन्त गौणरूपसे है। गीता तो केवल एकमात्र निष्काम कर्मयोगका ही प्रतिपादन करती है एवं गीतामें आये हुए संन्यास शब्दका समावेश भी प्रायः निष्काम कर्मयोगमें ही है।

(३) एक तीसरा पक्ष है जो कर्मोंके स्वरूपसे त्याग किये जानेवाले शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रमको मानता हुआ भी गीतामें कथित सांख्य और कर्मयोग नामक दोनों भिन्न-भिन्न निष्ठाओंको भगवत्-प्राप्तिके दो सर्वथा स्वतन्त्र साधन समझता है और सांख्य या संन्यास शब्दसे संन्यास-आश्रम नहीं समझता। परन्तु सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहनेको ही संन्यास कहता है।

गौणरूपसे और भी कितने ही पक्ष हैं; परन्तु उन सबका समावेश प्रायः उपर्युक्त तीन पक्षोंके अन्तर्गत हो जाता है। अब इस बातपर विचार करना है कि इनमेंसे कौन-सा पक्ष अधिक युक्तियुक्त और हृदयग्राही है। इसपर क्रमशः विचार किया जाता है—

(१) पहले पक्षके सिद्धान्तानुसार यदि संन्यासको ही मुक्तिका एकमात्र हेतु मान लेते हैं तो गीतामें जहाँपर भगवान्‌ने कहा है—

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।'

(५।५)

'जो स्थान ज्ञानयोगियोंद्वारा प्राप्त किया जाता है वही निष्काम

कर्मयोगियोंद्वारा भी प्राप्त किया जाता है' इन वाक्योंका कोई मूल्य नहीं रहता । यहाँ भगवान्‌ने स्पष्टरूपसे सांख्ययोगके समान ही निष्काम कर्मयोगको भी स्वतन्त्र साधन स्वीकार किया है ।

इसके सिवा इसी अध्यायके द्वितीय श्लोकमें संन्यास और कर्मयोग दोनोंको परम कल्याण करनेवाला कहा है और कर्मयोगको संन्यासकी अपेक्षा उत्तम बतलाया है, इस अवस्थामें यह कैसे माना जा सकता है कि निष्काम कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है ? अवश्य ही दोनों साधनोंके स्वरूपमें बड़ा भारी अन्तर है और दोनोंके अधिकारी भी दो प्रकारके साधक होते हैं एक साथ दोनों साधनोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता । भिन्न-भिन्न समयपर दोनों साधनोंका प्रयोग एक साधक भी कर सकता है, इससे यह तो सिद्ध हो गया कि दोनों ही साधन मोक्षके भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, अब विचारना यह है कि यहाँ संन्यास शब्दसे शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रम विवक्षित है या और कुछ ? अर्जुनके इस प्रश्नसे कि—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥
(गीता ५ । १)

हे कृष्ण ! आप कर्मोंके संन्यासकी और कर्मयोगकी भी प्रशंसा करते हैं इसलिये इन दोनोंमें जो एक निश्चित कल्याणकारक साधन हो उसको मुझे बतलाइये । यदि यह मान लिया जाय कि गीतामें संन्यास शब्दसे शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रम या नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग विवक्षित है तो यह बात युक्तियुक्त नहीं जँचती; क्योंकि इसके पहले भगवान्‌ने ऐसे किसी आश्रमविशेषकी या कर्मोंके स्वरूपसे त्याग करने-

की कहीं प्रशंसा नहीं की है जिसके आधारपर अर्जुनके प्रश्नका यह अभिप्राय माना जा सके। भगवान्ने तो इससे पहले स्थान-स्थानपर ज्ञानकी और वैराग्यादि सात्त्विक भावोंकी एवं शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तृत्व-अभिमानके त्यागकी ही प्रशंसा की है; इतना ही नहीं, इसके साथ-ही-साथ ज्ञानीके शरीर-द्वारा नियतकर्म किये जानेकी भी आवश्यकता दिखलायी है। (अध्याय ३। २०–२३, २५–२७, २९, ३३, अध्याय ४। १५)

सम्यक् ज्ञानपूर्वक सन्यास-आश्रमसे सुगमताके साथ मुक्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु मेरी समझमें उस मुक्तिमें सन्यास आश्रम हेतु नहीं, उसमें हेतु है सम्यक् ज्ञान, जो सभी वर्ण और आश्रमोंमें उपलब्ध हो सकता है। (गीता ६। १-२)

इसके सिवा यह भी गीतामें निर्विवाद सिद्ध है कि सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा स्वरूपसे त्याग कभी हो भी नहीं सकता।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(३। ५)

यदि कोई कुछ त्याग भी करे तो गीताने उसे तामसी त्याग माना है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
(१८। ७)

और केवल उस स्वरूपसे बाहरी कर्मोंके त्यागसे सिद्धिकी प्राप्ति भी नहीं बतलायी।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
(३।४)

बल्कि आगे चलकर वाणी और इन्द्रियोंसे भी हठपूर्वक कर्म न कर मनसे विषयचिन्तनकी निन्दा की है और उसे मिथ्याचार बतलाया है। (अ० ३।६) इसीके अगले श्लोकमें वशमें की हुई इन्द्रियोंसे अनासक्त होकर कर्मयोगके आचरण करनेवालेको श्रेष्ठ बतलाया है। (अ० ३।७)

ऐसी अवस्थामें बाहरी कर्मोंके स्वरूपसे त्यागको ही संन्यास मान लेनेपर उसमें मुक्तिकी सम्भावना नहीं रहती और यदि मुक्ति नहीं होती तो भगवान्‌ने जो पाँचवें अध्यायमें कहा है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
(५।२)

'कर्मोंका संन्यास और निष्काम कर्मयोग—यह दोनों ही परम कल्याणप्रद हैं' इस सिद्धान्तमें बाधा आती है। क्योंकि केवल बाहरी कर्मोंका स्वरूपसे त्यागी तो उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार तामस त्यागी कहा गया है।

यहाँका यह 'निःश्रेयस' और तीसरे अध्यायके चतुर्थ श्लोकका 'सिद्धिम्' शब्द दोनों ही कल्याणवाची हैं। यदि उस सिद्धिको मुक्तिका वाचक न मानकर नीची अवस्थाका मानते हैं तो केवल कर्मत्यागसे कल्याण न होनेका पक्ष और भी पुष्ट होता है, जब नीची श्रेणीकी सिद्धि ही कर्मत्यागसे नहीं मिलती, तब मोक्षरूप परम सिद्धि तो कैसे मिल सकती है! इन सब बातोंका विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि गीतामें संन्यास शब्द ज्ञानयोगका

वाचक है और इसका सम्बन्ध अन्तःकरणके भावोंसे ही है किसी बाहरी अवस्थाविशेषसे नहीं। न किसी वर्ण या आश्रमसे ही इसका सम्बन्ध सिद्ध होता है, यह तो भगवत्-प्राप्तिका एक परम साधन है, जो सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें काममें लाया जा सकता है।

लोगोंकी यह मान्यता है कि सांख्यनिष्ठाका अधिकार केवल सन्यास-आश्रममें ही है, किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं मालूम होती। यदि ऐसा होता तो भगवान्के द्वारा दिये हुए सांख्यनिष्ठाके विस्तृत उपदेशमें, जो गीताके द्वितीय अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक है, युद्धके लिये अर्जुनको उत्साहित नहीं किया जाता (देखो गीता २। १८)। तथा अष्टादश अध्यायमें जब त्याग और सन्यासका स्वरूप जाननेकी जिज्ञासासे अर्जुनने भगवान्से स्पष्टरूपसे प्रश्न किया तब भगवान्ने पहले त्यागका स्वरूप 'फलासक्ति-त्याग' बतलाकर (देखो अध्याय १८ श्लोक ९ से ११) फिर सांख्य यानी संन्यासका सिद्धान्त सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हुए आगे चलकर यह स्पष्ट कहा है कि पाँच कारणोंसे होनेवाले प्राकृतिक कर्मोंमें जो अशुद्ध बुद्धि होनेके कारण केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता मानता है वह दुर्मति आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं देखता यानी कर्तापनका अहङ्कार रखनेवाला सांख्ययोगी नहीं है। सांख्ययोगी वही है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

(१८। १७)

'जिसके 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं रहता और जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें कभी लिप्त नहीं होती' अतएव अहङ्कारका त्याग ही सन्यास है। स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको भगवान् सन्यास मानते

तो मनसे त्याग करनेकी बात नहीं कहते (देखो अध्याय ५ । १३)।

इससे यह सिद्ध होता है कि सांख्य अथवा संन्यास कर्मोंके स्वरूपसे त्यागका नाम नहीं है और संन्यासके समान ही निष्काम कर्मयोग भी मुक्तिका प्रत्यक्ष हेतु है ।

(२) द्वितीय पक्षके अनुसार यदि यह माना जाय कि गीतामें केवल निष्काम कर्मयोगका ही वर्णन है और संन्यास शब्दका भी समावेश इसीमें होता है तो यह बात भी ठीक नहीं जँचती, क्योंकि अर्जुनकी शङ्काओंका निराकरण करते हुए भगवान्ने दोनों निष्ठाओंका अधिकारी-भेदसे स्वतन्त्र वर्णन किया है ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

(३ । ३)

दूसरे अध्यायमें तो इन दोनों निष्ठाओंका सविभाग पृथक् पृथक् वर्णन है । सांख्ययोगका वर्णन कर चुकनेके बाद भगवान्ने कहा है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु ।

(२ । ३९)

'यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और इसीको (अब) निष्काम कर्मयोगके विषयमें सुन ।' ऐसे और भी अनेक वचन हैं जिनसे दोनों निष्ठाओंका स्वतन्त्र वर्णन सिद्ध होता है (देखो गीता अध्याय ५ श्लोक १ से ५) । इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों निष्ठाओंका फलरूपसे पर्यवसान एक परमात्मामें ही है परन्तु दोनोंका स्वरूप सर्वथा भिन्न है, दोनों निष्ठाओंके साधकोंकी कार्य और विचारशैली तथा दोनोंके भाव और पथ सर्वथा भिन्न हैं । निष्काम

कर्मयोगी साधन-कालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वरपरायण हो ईश्वरार्पणबुद्धिसे ही सब कर्म करता है (देखो गीता ३ । ३०;४ । २०; ५ । १०,९ । २७-२८, १२ । ११-१२; १८ । ५६-५७) ।

परन्तु सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है (देखो गीता ३ । २८; ५ । ८-९, १३, ६ । ३१, १३ । २९-३०, १४ । १९-२०, १८ । १७, ४९–५५) ।

निष्काम कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५ । ११), सांख्ययोगी अपनेको कर्ता नहीं मानता (५ । ८-९), निष्काम कर्मयोगी अपनेद्वारा किये कर्मोंके फलको भगवदर्पण करता है (९ । २७-२८), सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८ । १७) । निष्काम कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे भिन्न मानता है (१२ । ६-७), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (६ । २९-३१ ; ७ । १९, १८ । २०) । निष्काम कर्मयोगी प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८ । ९, ६१) । सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा अन्य किसी भी सत्ताको नहीं मानता (१३ । ३०), यदि कहीं कुछ मानता हुआ देखा जाता है तो वह केवल दूसरोंको समझानेके लिये अध्यारोपसे, यथार्थमें नहीं । वह प्रकृतिको मायामात्र मानता है वस्तुत कुछ भी नहीं मानता, निष्काम कर्मयोगी कर्मोंसे फल उत्पन्न हुआ करता है ऐसा

समझता हुआ अपनेको फल और आसक्तिका त्यागी समझता है, फल और कर्मकी अलग-अलग सत्ता मानता है, सांख्ययोगी न तो कर्म और फलोंकी सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है, निष्काम कर्मयोगी कर्म करता है, सांख्ययोगीके अन्तःकरण और शरीरद्वारा कर्म स्वभावसे ही होते हैं, वह करता नहीं (५ । १४) । निष्काम कर्मयोगीकी मुक्तिमें हेतु उसका विशुद्ध निष्कामभाव, भगवत्-शरणागति और भगवत्कृपा है (२ । ५१ , १८ । ५६), सांख्ययोगीकी मुक्तिमें हेतु एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्न भावसे निरन्तर गाढ़ स्थिति है (५ । १७, २४) । इसलिये फलमें अविरोध होते हुए भी दोनों साधनोंमें परस्पर बड़ा भेद है और दोनों सर्वथा स्वतन्त्र हैं । इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रीभगवान्‌ने अर्जुन-के प्रति उसके उपयुक्त समझकर भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोगके लिये ही आज्ञा दी है, परन्तु गीतामें सांख्यनिष्ठाका वर्णन भी कम विस्तारसे नहीं है, स्थान-स्थानपर भगवान्‌ने सांख्यनिष्ठाकी बड़ी प्रशंसा की है । कर्मयोगका विशेषत्व इसीलिये बतलाया है कि वह सुगम है और उसका साधन देहाभिमानी भी कर सकता है परन्तु सांख्ययोग इसकी अपेक्षा बड़ा कठिन है (देखो गीता अध्याय ५ । ६) । इससे यह सिद्ध होता है कि गीतामें दोनों ही निष्ठाओंका वर्णन है । न केवल कर्मयोगका ही प्रतिपादन किया गया है और न केवल सांख्ययोगका ही और न संन्यास शब्दका समावेश कर्मयोगमें ही होता है ।

इस विवेचनसे यह पता लग जाता है कि गीतामें दोनों निष्ठाओंका वर्णन है और उसमें सांख्य या संन्यासका अर्थ कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है ।

(३) अब तीसरे पक्षके सिद्धान्तोंपर विचार करनेसे यह विश्वास होता है कि इसके सिद्धान्त अधिक युक्तियुक्त और हृदयग्राही हैं। वास्तवमें सन्यास शब्दका अर्थ गीतामें साख्य या ज्ञानयोग ही माना गया है । सन्यास, साख्ययोग, ज्ञानयोग आदि शब्दोंसे एक ही निष्ठाका वर्णन है । गीताके अध्याय १८ में ४९ से ५५ वें श्लोकतक इसी ज्ञाननिष्ठाका विस्तृत वर्णन है। ४९ वें श्लोकमें 'परमां *नैष्कर्म्यसिद्धिम्*'का प्राप्त होना जिस सन्याससे बतलाया गया है वह सन्यास ज्ञानयोग ही है । इन श्लोकोंके विवेचनसे पता लगता है कि अभेदरूपसे परब्रह्म परमात्माका जो ध्यान किया जाता है और उस ध्यानका जो फल होता है उसीको परा भक्ति कहते हैं और वही इस ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है। इस प्रकारके ज्ञानयोगका साधक सम्पूर्ण ससारके पदार्थों और कर्मोंको त्रिगुणमयी मायाका ही विस्तार समझता हुआ अपनेको द्रष्टा साक्षी मानता है (१४ । १९-२०)। और वह ब्रह्मसे नित्य अभिन्न होकर ब्रह्ममें ही विचरता है (५ । २६; ६ । ३१)। वह सम्पूर्ण कर्मोंका विस्तार मायामें ही देखता है (देखो गीता ३ । २७-२८)। वह शरीर और मन-इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका अत्यन्त अभाव समझता है। इन्द्रियाँ ही अपने विषयोंमें विचरती हैं, आत्मा इनसे अत्यन्त परे और भिन्न है इस तरह समझकर साधनकालमें भी वह अपनेमें कर्तृत्वभावको नहीं देखता परन्तु मायाकी जगह भी वह एक ब्रह्मका ही विस्तार समझता है और यों समझनेसे उसकी दृष्टिमें एक ब्रह्मसे भिन्न और कोई भी वस्तु नहीं रह जाती। सम्पूर्ण ससारको वह एक ब्रह्मका ही कार्यरूप देखता है। साधन-कालमें प्रकृति और उसके कार्योंको आत्मासे भिन्न,

अनित्य और क्षणिक देखता हुआ तथा अपनेको अकर्ता, अभोक्ता मानकर एक आत्माको ही सब जगह व्यापक समझकर साधनमें रत रहता है और अन्तमें जब एक ब्रह्मसत्ताके सिवाय और सबका अत्यन्त अभाव हो जाता है तब वह उस अनिर्वचनीय परमपदको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें एक ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं। मन, बुद्धि, अन्त:करणादि भी ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। एक वासुदेवके सिवा कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती (गीता ५। १७, ७। १९)।

वह इस चराचर संसारके बाहर-भीतर और चराचरको भी परब्रह्म परमात्माका रूप ही समझता है (देखो गीता १३। १५)।

ऐसे पुरुषके द्वारा साधन और सिद्धकालमें लोकदृष्टिसे कर्म तो बन सकते हैं परन्तु उन सर्व कर्मोंमें और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक ब्रह्मसे भिन्न दृष्टि न रहनेके कारण तथा कर्मफलके अभावसे उसके वे कर्म नहीं समझे जाते (देखो गीता १८। १७)।

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि तीसरे पक्षके सिद्धान्तानुसार गीताका संन्यास, संन्यास-आश्रम नहीं है परन्तु सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर एक सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ऐक्यभावसे नित्य स्थित रहना ही है और इसीलिये उसका उपयोग सभी वर्ण और आश्रमोंमें किया जा सकता है। इसीका नाम ज्ञानयोग है। इसीको सांख्ययोग कहते हैं। और यही गीतोक्त संन्यास है।

इसीके साथ-साथ यह भी ठीक है कि गीतामें कर्मयोगनामक एक दूसरे स्वतन्त्र साधनका भी विस्तृत वर्णन है, जिसमें साधक फल और आसक्तिको त्यागकर भगवत्-आज्ञानुसार केवल भगवत्-अर्थ समत्व-बुद्धिसे कर्म करता है। यही कर्मयोग गीतामें समत्वयोग, बुद्धियोग,

कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म और मत्कर्म आदि नामोंसे कहा गया है। इस निष्काम कर्मयोगमें भी भक्तिप्रधान कर्मयोग मुख्य है और इसीसे साधकको शीघ्र सिद्धि मिलती है (६ । ४७)।

इस प्रकार दोनो निष्ठाओंकी सिद्धि होती है। इससे कोई यह न समझे कि मैं शास्त्रोक्त सन्यास-आश्रमका विरोध करता हूँ या सन्यास-आश्रममें स्थित पुरुषकी सम्यक् ज्ञानके द्वारा मुक्ति नहीं मानता, परन्तु मेरी समझसे गीताका सन्यास किसी आश्रमविशेषपर लक्ष्य नहीं रखकर केवल ज्ञानपर अवलम्बित है अतएव गीतामें सबका ही अधिकार है।

मैं तो यह भी मानता हूँ कि साख्यनिष्ठाके साधकको संन्यास-आश्रममें अधिक सुविधाएँ हैं। अस्तु।

कुछ लोगोंके मतमें गीताका साख्य शब्द महर्षि कपिलप्रणीत साख्यदर्शनका वाचक है परन्तु विचार करनेपर वह बात उचित नहीं मालूम होती। गीताका साख्य कपिलजीका सांख्यदर्शन नहीं है, इसका सम्बन्ध ज्ञानसे है। गीता अध्याय १३। १९, २० में प्रकृति-पुरुष शब्द आते हैं जो साख्यदर्शनसे मिलते-जुलते से लगते हैं, परन्तु वास्तवमें इनमें बड़ा अन्तर है।

साख्यदर्शन पुरुष नाना और उनकी सत्ता भिन्न-भिन्न मानता है परन्तु गीता एक ही पुरुषके अनेक रूप मानती है (देखो गीता अध्याय १३। २२, १८। २०)। गीताके भूतोंके पृथक् पृथक् भाव एक ही पुरुषके भाव हैं। साख्यदर्शन सृष्टिकर्ता ईश्वरको स्वीकार नहीं करता। परन्तु गीता सृष्टिकर्ता ईश्वरको मुक्तकण्ठसे स्वीकार करती है। इससे यही सिद्ध होता है कि गीताका साख्य महर्षि कपिलके साख्यसे भिन्न है।

एक बात और है। गीतोक्त ध्यानयोग दोनों निष्ठाओंके साथ रहता है। इसीलिये भगवान्‌ने ध्यानयोगको पृथक् निष्ठाके रूपमें नहीं कहा। ध्यानयोग निष्काम कर्मके साथ भेदरूपसे रहता है और सांख्ययोगके साथ अभेदरूपसे रहता है। सांख्ययोग तो निरन्तर सच्चिदानन्दघन परमात्माका अनन्य भावसे ध्यान हुए बिना सिद्ध ही नहीं होता।

इन दोनों निष्ठाओंके बिना केवल ध्यानयोगसे भी परमपदकी प्राप्ति हो सकती है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(१३।२४)

(इसके सिवा देखो ९।४-५, ९।१२।८)

परन्तु यह निष्ठा भिन्न नहीं समझी जाती; क्योंकि अभेदरूपका ध्यान सांख्ययोग और भेदरूपका ध्यान कर्मयोगविषयक समझा जा सकता है। ध्यानयोगका साधन अलग इसीलिये बतलाया गया है कि यह कर्मोंकी और कर्मोंके त्यागकी अपेक्षा नहीं रखता, परन्तु दोनोंका सहायक हो सकता है। कर्मोंके आश्रय या त्याग किये बिना भी केवल ध्यानयोगसे ही मुक्ति हो सकती है।

यह साधन परमोपयोगी और स्वतन्त्र होते हुए भी निष्ठारूपसे अलग नहीं माना गया है। अतएव साधकोंको चाहिये कि वे अपने-अपने अधिकारानुसार ध्यानयोगसहित दोनों निष्ठाओंमेंसे किसी एकका अवलम्बनकर भगवत्प्राप्तिके लिये प्रयत्न करें।

गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप

'गीताका निष्काम कर्मयोग भक्तिमिश्रित है या भक्तिरहित ? यदि भक्तिमिश्रित है, तो उसका क्या स्वरूप है ?'

इस प्रश्नपर विचार करते समय आरम्भमें कर्मोंके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंपर कुछ सोच लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। कर्म कई प्रकारके हैं, जिनको हम प्रधानतया तीन भागोंमे बाँट सकते हैं—निषिद्धकर्म, काम्यकर्म और कर्तव्यकर्म।

चोरी, व्यभिचार, हिंसा, असत्यभाषण, कपट, छल, जबरदस्ती, अभक्ष्य-भक्षण और प्रमादादिको निषिद्धकर्म कहते हैं।

स्त्री, पुत्र, धनादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये एवं रोग-सङ्कटादिकी निवृत्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंको काम्यकर्म कहते हैं।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, यज्ञ, दान, तप, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, वर्ण तथा आश्रमके धर्म और शरीर-सम्बन्धी खान-पानादि कर्मोंको कर्तव्यकर्म कहते हैं।

'कर्तव्यकर्म' भी कामनायुक्त होनेसे काम्यकर्मोंके अन्तर्गत समझे जा सकते हैं, परन्तु उनमें वर्णाश्रमके स्वाभाविक धर्म तथा जीविकाके कर्म भी सम्मिलित हैं इसलिये उनके पालन करनेकी मनुष्यपर विशेष जिम्मेवारी रहती है। किसी खास विषयकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोक्त काम्यकर्म करना-न-करना अपनी इच्छापर निर्भर रहता है इसीलिये इनका अलग-अलग भेद है।

इन तीन प्रकारके कर्मोंमें निषिद्धकर्म तो सभीके लिये सर्वथा त्याज्य हैं। मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंके लिये काम्यकर्मोंकी कोई आवश्यकता नहीं, रहे 'कर्तव्यकर्म' जिनकी सञ्ज्ञा भावोंके भेदसे सकाम और निष्काम दोनों ही हो जाती हैं। जबसे—

सकाम कर्म–

—के अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा होती है, तबसे आरम्भकर कर्मकी समाप्तिके बाद चिरकालतक मनमें केवल फलका अनुसन्धान रहता है। ऐसे कर्म करनेवालेकी चित्तवृत्तियाँ पद-पदपर अपने अभय-फलको विषय करती रहती हैं। यदि धनके लिये कर्म होता है, तो उसे पद-पदमें उसी धनकी स्मृति होती है। उसका चित्र धनाकार बना रहता है। कर्मकी सिद्धिमें जब उसे धन मिलता है, तब वह हर्षित होता है और जब असिद्धि होती है, धन नहीं मिलता या अन्य कोई बाधा आ जाती है, तब उसे बड़ा क्लेश होता है। उसका चित्त फलानुसन्धान-वाला होनेके कारण प्राय निरन्तर व्यथित और अशान्त रहता है। ऐसे पुरुषका विनयविमोहित चित्त किसी-किसी समय उसे निषिद्ध कर्मोंके करनेमें भी प्रवृत्त कर सकता है। यद्यपि शास्त्रके आज्ञानुसार कर्मोंका आचरण करनेवाला सकामी पुरुष निषिद्धकर्मोंका आचरण करना नहीं चाहता, तथापि विषयोंका लोभ बना रहनेके कारण उसके गिर जानेका भय बना ही रहता है। कहीं कर्ममें कुछ भूल हो जाती है, तो उसे सिद्धि तो मिलती ही नहीं, उलटे प्रायश्चित्त या दु:खका भागी होना पड़ता है। परन्तु—

निष्काम कर्म—

—का आचरण करनेवाले पुरुषकी स्थिति सकामीसे अत्यन्त विलक्षण होती है। उसके मनमें किसी प्रकारकी सांसारिक कामना नहीं रहती वह जो कुछ कर्म करता है, सो सब फलकी इच्छाको छोड़कर आसक्तिरहित होकर करता है। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि यदि उसे फलकी इच्छा नहीं है तो वह कर्म करता ही क्यों है? संसारमें साधारण मनुष्य बिना किसी हेतुके कर्म कर ही नहीं सकता और हेतु किसी-न-

किसी फलका ही होता है। ऐसी स्थितिमें फलकी इच्छा बिना कर्मोंका होना सिद्ध नहीं होता।' यह ठीक है। साधारण मनुष्यके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेमें किसी-न-किसी हेतुका रहना अनिवार्य है परन्तु हेतुके स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं। सकामभावसे कर्म करनेवाला पुरुष भिन्न-भिन्न फलोंकी कामनासे नाना प्रकारके कर्मोंको करता है, उसके कर्मोंमे हेतु है 'विषय-कामना'। और इसीलिये वह आसक्त होकर कर्म करता है, उसकी बुद्धि कामनाओंसे ढकी रहती है (देखो २ । ४२—४४; ९ । २०-२१)। इसीलिये वह कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें सुखी और दुखी होता है परन्तु निष्कामभावसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्मोंमें हेतु रह जाता है एक 'परमात्माकी प्राप्ति'।* इसीलिये वह नित्य नये उत्साहसे आलस्यरहित होकर कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, सासारिक फल-कामना न होनेसे वह आसक्त नहीं होता और कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें उसे हर्ष-शोकका विकार नहीं होता, क्योंकि उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो गया है, वह कर्मके बाहरी फलपर कोई खयाल नहीं करता, उसकी दृष्टिमें ससारके समस्त पदार्थ उस परमात्माके सामने अत्यन्त तुच्छ, मलिन और क्षुद्र प्रतीत होते हैं, वह उस महान्-से-महान् परमात्माकी प्राप्तिरूप शुभेच्छामें जगत्के सम्पूर्ण बड़े-से-बड़े पदार्थोंको तुच्छ समझता है (२ । ४९)।

इसीसे सासारिक विषयरूप फलोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें उसे हर्ष-शोक नहीं होता। सकामी पुरुषकी भाँति उससे निषिद्धकर्म बननेकी भी सम्भावना नहीं रहती। निषिद्धकर्मोंमें कारण है 'आसक्ति या लोभ'। निष्कामी पुरुष जगत्के समस्त पदार्थोंका लोभ छोड़कर

---

* निष्काम कर्मयोगीकी परमात्माको प्राप्त करनेकी कामना परिणाममें परम कल्याणका हेतु होनेके कारण कामना नहीं समझी जाती, भगवत्प्राप्ति-की कामनावाला पुरुष निष्काम ही समझा जाता है।

उनसे अनासक्त होना चाहता है, वह श्रीपरमात्माको ही एकमात्र प्रेमकी वस्तु मानता है, उसीमें उसका मन आसक्त हो जाता है अतएव उसकी प्राप्तिके अनुकूल जितने कार्य होते हैं वह उन सबको बड़े उत्साहके साथ करता है। यह निर्विवाद बात है कि परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल तो वे ही कार्य हो सकते हैं जिनके लिये भगवान्‌ने आज्ञा दी है, जो शास्त्रविहित हैं, जो किसीके लिये किसी प्रकारसे भी अनिष्टकारक नहीं होते; ऐसे कर्मोंमें निषिद्ध-कर्मोंका समावेश किसी प्रकार भी नहीं हो सकता, इसीलिये निष्कामी पुरुष सकामी पुरुषसे सर्वथा विलक्षण होता है।

सकामी पुरुष जगत्‌के पदार्थोंको रमणीय, सुखप्रद और प्रीतिकर समझकर उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे, सिद्धिमें सुख और असिद्धिमें दुःख होनेकी प्रत्यक्ष भावनाको लेकर ममतायुक्त मनसे आसक्तिपूर्वक कर्म करता है और निष्कामी पुरुष सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि असिद्धिमें समत्व भाव रखता हुआ आसक्ति और फलकी इच्छाको त्याग कर भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करता है। यही सकाम और निष्काम कर्मोंमें भावका अन्तर है।

गीतामें निष्काम कर्मका आरम्भ—

—दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकसे होता है। ११ से ३० वें श्लोकतक सांख्ययोगका प्रतिपादन करनेके बाद ३१ वें श्लोकसे क्षत्रियोचित कर्म करनेके लिये अर्जुनको उत्साहित करते हुए ३८वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

मोहके कारण पाप-भयसे भीत अर्जुनको सुख-दुःख, जय-

पराजय और लाभ-हानिरूप सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखनेसे कोई पाप नहीं होनेकी बुद्धि सांख्यके सिद्धान्तानुसार बतलाकर अगले श्लोकसे निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन आरम्भ करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

(२ । ३९).

'हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और अब इसीको निष्काम कर्मयोगके विषयमें तू सुन । इस बुद्धिसे युक्त होकर कर्म करनेसे कर्म-बन्धनका भली भाँति नाश कर सकेगा ।'

इसके बादके श्लोकमें निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने जरा-से भी निष्काम कर्मयोगरूपी धर्मको महान् भयसे त्राण करनेवाला बतलाया । आगे चलकर ४७ वें श्लोकमें कर्मका अधिकार और फलका अनधिकार वर्णन करते हुए ४८ वें श्लोकमें भगवान्‌ने, जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने-न-होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम ही 'समत्व' है और इस समत्वभावका कर्मके साथ योग होनेसे ही वह कर्मयोग बन जाता है, ऐसा कहते हुए अर्जुनको आसक्ति त्यागकर सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी और आगे उसका फल बतलाया 'जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय अमृतमय परमपद परमात्माकी प्राप्ति हो जाना' (देखो गीता २ । ५१) ।

इस प्रकार भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ४७वें से ५१ वें श्लोकतक कर्मयोगका विवेचन किया, यद्यपि इस विवेचनमें स्पष्टरूपसे भक्तिका नाम कहीं नहीं आया परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह कर्मयोग भक्तिशून्य है । मेरी समझसे गीताका निष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है । इतना अवश्य है कि कहीं-कहींपर तो उसका भाव

प्रधानरूपसे अच्छी तरह व्यक्त हो गया है और कहीं-कहींपर वह गौण होकर अव्यक्तरूपसे निहित है। परमात्माके अस्तित्व और उसे प्राप्त करनेकी शुभ भावना तो सामान्यरूपसे कर्मयोगके प्रत्येक उपदेशमें बनी हुई है। निष्काम कर्मका आचरण ही तभीसे आरम्भ होता है जबसे साधक अपने मनमें परमात्माको पानेकी शुभ और दृढ भावना-को लेकर संसारके भोगोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-शोकका विचार छोड़कर फलासक्तिका त्याग कर देना चाहता है।

जो कर्म भगवान्‌की प्रीति या प्राप्तिके लिये नहीं होते उनका तो नाम ही कर्मयोग नहीं होता। कर्मयोग नाम तभी सफल होता है जब कर्मोंका योग परमात्माके साथ कर दिया जाता है। अवश्य ही गीतामें कर्मयोगकी वर्णनशैली दो प्रकारकी है। किसी-किसी श्लोकमें तो भक्ति प्रधानरूपसे स्पष्ट प्रकट है, किसी-किसीमें वह अप्रकटरूपसे स्थित है।

जहाँ भक्तिका प्रधानरूपसे कथन है वहाँ 'मुझमें अर्पण करके' 'परमात्मामें अर्पण करके' 'मेरा स्मरण करता हुआ कर्म कर' 'सब कुछ मेरे अर्पण कर' 'मदर्थ कर्म कर' 'स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा कर' 'मेरे आश्रय होकर कर्म कर' 'मेरे परायण हो' आदि वाक्य आये हैं (देखो गीता ३। ३०; ५। १०, ८। ८ ९। २७-२८, १२। ६,१०,११,१८।४६, ५६ ५७ इत्यादि)। जहाँ भक्तिका सामान्य भावसे अप्रकट विवेचन है वहाँ ऐसे शब्द नहीं आते (देखो गीता २। ४७-४८, ४९ ५०, ५१ ३। ७, १९ ४। १४, ६। १ १८। ६ ९ इत्यादि)।

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवत्-भावना दोनों ही वर्णनोंमें है और इसीलिये भगवन्नाम, भगवत्-शरण और मदर्थ आदि भावोंके पर्यायवाची शब्द जिन श्लोकोंमें स्पष्ट नहीं आते उनके

अनुसार आचरण करनेसे भी जीवको भगवत्प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि उसका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही होता है, इसमें सन्देह नहीं कि कर्मयोगके साथ स्मरण-कीर्तनादि भक्तिका सयोग कर देनेपर भगवत्-प्राप्ति बहुत शीघ्र होती है और सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें ऐसे ही योगी पुरुष उत्तम समझे जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है वही मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

जो इस भावसे स्पष्टरूपमें भक्तिका सयोग नहीं करते उनको भी कर्मयोगसे भगवत्-प्राप्ति तो होती है परन्तु बहुत विलम्बसे होती है (देखो गीता ४। ३८, ६। ४५)।

गीतामें निष्काम कर्मयोगका वर्णन 'समत्वयोग' 'बुद्धियोग' 'कर्मयोग' 'तदर्थकर्म' 'मदर्थकर्म' 'मदर्पण' 'मत्कर्म' और 'सात्त्विक त्याग' आदि अनेक नामोंसे किया गया है। इन सबका फल एक होनेपर भी इनके साधनकी क्रियाओंमें भेद है, उदाहरणार्थ यहाँ—

मदर्पण और मदर्थका भेद—

—कुछ अशमें बतलाया जाता है। मदर्पण या भगवदर्पण एक है तथा मदर्थ, तदर्थ या भगवदर्थ एक है। इनमें मदर्पण कर्मका स्वरूप तो यह है कि जैसे एक आदमी किसी दूसरे उद्देश्यसे कुछ धन सग्रह कर रहा है और उसके पास पहलेसे कुछ धन सगृहीत भी है परन्तु वह जब चाहे तब अपने धन-संग्रहका उद्देश्य बदल सकता है और संगृहीत धन किसीको भी अर्पण कर सकता है। कर्मका आरम्भ

करनेके बाद बीचमें या कर्मके पूरे होनेपर भी उसका अर्पण हो सकता है। महाराज ध्रुवजी महाराजने राज्यप्राप्तिके लिये तपरूपी कर्मका आरम्भ किया था परन्तु बीचमें ही उनकी भावना बदल गयी, उनका तपरूपी कर्म भगवदर्पण हो गया, जिसका फल भगवत्-प्राप्ति हुआ। साथ ही आरम्भकी इच्छानुसार उन्हें राज्य भी मिल गया परन्तु वह राज्य साधारण लोगोंकी तरहसे बाधक नहीं हुआ। यह भगवदर्पण कर्मकी महिमा समझनी चाहिये। अतएव आरम्भमें दूसरा उद्देश्य होनेपर भी जो कर्म बीचमें या पीछे भगवान्‌के अर्पण कर दिया जाता है वह भी भगवदर्पण हो जाता है।

मदर्थ या भगवदर्थ कर्ममें ऐसा नहीं होता, वह तो आरम्भसे ही भगवान्‌के लिये ही किया जाता है। किसी देवताके उद्देश्यसे प्रसाद बनाना या ब्राह्मण-भोजनके लिये भोजनकी सामग्रियोंका संग्रह करना जैसे आरम्भसे ही एक निश्चित उद्देश्यको लेकर होता है उसी प्रकार भगवदर्थ कर्म करनेवाले साधकके प्रत्येक कर्मका आरम्भ श्रीभगवान्‌के उद्देश्यसे ही हुआ करता है। भगवदर्थ कर्मके कई भेद अवश्य हैं। जैसे भगवत्प्राप्तिके प्रयोजनसे कर्म करना, भगवान्‌की आज्ञा मानकर कर्म करना और भगवत्सेवाखरूप कर्मोंमें नियुक्त होना आदि।

यह तो भक्तिप्रधान कर्मयोगकी बात हुई। इसके सिवा समत्वयोग, कर्मयोग और सात्त्विक त्याग आदि सब मिलते-जुलते-से ही शब्द हैं। द्वितीय अध्यायमें ४७ से ५१ वें श्लोकतक जिसका कर्मयोग आदिके नामसे वर्णन है उसीका अठारहवें अध्यायमें ६ ठे और ९ वें श्लोकमें त्यागके नामसे वर्णन है। वास्तवमें फल और आसक्तिका त्याग तो सभीमें रहता है। भक्तिप्रधान या कर्मप्रधान दोनों प्रकारका वर्णन निष्काम कर्मयोगके लिये ही है। इससे यह सिद्ध हो गया कि—

भगवत्प्राप्तिके लिये किया जानेवाला कर्म ही निष्काम कर्मयोग है।

निष्काम कर्मयोगीको परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्यकर्मोंको छोडकर एकान्तमें भजन-ध्यान करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहती। यदि कोई करे तो कोई आपत्ति नहीं है। भजन-ध्यान तो सदा-सर्वदा ही परम श्रेष्ठ है। परन्तु एकान्तमें भजन-ध्यान न करके भी भगवच्चिन्तनसहित शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको निरन्तर करता हुआ ही वह साधक परमात्माकी शरण और उसकी कृपासे परमगतिको प्राप्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८। ५६-५७)

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है इसलिये सब कर्मोंको मनसे मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगका अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो।'

वास्तवमें कर्मोंकी क्रिया मनुष्यको नहीं बाँधती, फलकी इच्छा और आसक्तिसे ही उसका बन्धन होता है। फल और आसक्ति न हो तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता। भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार कर्ममें लगा हुआ पुरुष सिद्धिको प्राप्त हो जाता है, अवश्य ही कर्म करते समय मनुष्यका लक्ष्य परमात्मामें रहना चाहिये।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमात्मासे सारे भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् जलसे बर्फकी भाँति व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिको ही अपना सर्वस्व मानकर पति का ही चिन्तन करती हुई, पतिके आज्ञानुसार, पतिके लिये ही मन, वाणी, शरीरसे संसारके समस्त नियत (अपने जिम्मे बँधे हुए) कर्मोंको करती हुई पतिकी प्रसन्नता प्राप्त करती है, इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी एक परमात्माको ही अपना सर्वस्व मानकर उसीका चिन्तन करता हुआ उसीके आज्ञानुसार मन, वाणी, शरीरसे उस परमात्माके ही लिये अपने कर्तव्यकर्मोंका आचरण कर परमात्माकी प्रसन्नता और परमात्माको प्राप्त करता है।

समस्त चराचरमें—सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें—परमात्माको व्यापक समझकर सभीको परमात्माका स्वरूप मानकर अपने कर्मोंद्वारा निष्काम कर्मयोगी भक्त भगवान्की पूजा करता है। एक महाराजाधिराज सम्राट्की प्रसन्नता सम्पादन करनेके लिये इस बातकी आवश्यकता नहीं होती कि उसके सभी कर्मचारी एक ही प्रकारका कार्य करें, सभी दीवान बनें या सभी सेनापति हों। अपने-अपने योग्यतानुसार जिसके जिम्मे जो काम महाराजके द्वारा सौंपा हुआ है, उसे अपने उसी कामसे महाराजको सन्तुष्ट करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उसको

चाहिये कि वह दूसरेके अच्छे-से-अच्छे कामकी ओर तनिक भी न ताककर प्रभुकी प्रसन्नताके लिये अपना काम कुशलताके साथ करे। राजदरबारका एक विद्वान् पण्डित वेदगान सुनाकर राजाको जितना प्रसन्न कर सकता है उतना ही महलोंमें झाड़ू देनेवाला राजाका परम आज्ञाकारी मामूली वेतनका नौकर भी महलोंकी सफाई-सुथराई रखकर कर सकता है। अपना कर्तव्यकर्म छोड़नेकी किसीको भी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये स्वार्थ छोड़कर अपने कर्तव्यकर्म उस प्रभुके अर्पण करनेकी। यही अपने कर्मोंसे परमात्माकी पूजा है और इसीसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

निष्काम कर्मयोगीका लक्ष्य रहता है केवल एक परमात्मा! जैसे धनका लोभी मनुष्य अपने प्रत्येक कर्ममे धनकी प्राप्तिका उपाय ही सोचता है। किसी तरह धन मिलना चाहिये केवल यही भाव उसके मनमें निरन्तर रहता है। जिस काममें रुपये लगते हैं, रुपये नहीं आते या उनके आनेमें कुछ बाधा होती है उस कामके वह समीप भी जाना नहीं चाहता। वह केवल उन्हीं कार्योंको करता है जो धनकी प्राप्तिके अनुकूल या सहायक होते हैं। इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी भी 'आठ पहर चौंसठ घड़ी' मन, वाणी, शरीरद्वारा उन्हीं सब कर्मोंको करता है जो ईश्वरको सन्तुष्ट करनेवाले होते हैं। वह भूलकर भी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक चोरी-जारी, झूठ-कपट, मादक द्रव्यसेवन और अभक्ष्य-भक्षणादि निषिद्धकर्मोंको और व्यर्थ समय नष्ट करनेवाले प्रमादादि कर्मोंको नहीं करता। करना तो दूर रहा, ऐसे कार्य उसे किसी तरह सुहाते ही नहीं। वह निरन्तर उन्हीं न्याययुक्त और शास्त्रविहित कर्मोंके सोचने और करनेमें प्रवृत्त रहता है जो उसके चरम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल और उसमें सहायक होते हैं। वह दूसरेके सुहावने और मान-बड़ाईवाले कर्मोंकी ओर लोलुपदृष्टिसे कभी

नहीं देखता । चुपचाप स्वाभाविक ही अपने कर्तव्य कर्मको करता चला जाता है । वह यह नहीं देखता कि अमुक कर्म छोटा है, अमुक बड़ा है; क्योंकि वह इस बातको जानता है कि कर्मोंका स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है, उसमें हेतु है अन्तःकरणका भाव । भावसे ही मनुष्यका उत्थान और पतन होता है । इसीलिये वह दूसरेकी देखा-देखी किसी भी ऐसे ऊँचे-से-ऊँचे कर्मको भी करना नहीं चाहता जो उसके लिये विहित नहीं है । वह यह नहीं देखता कि मेरे कर्ममें अमुक दोष है, दूसरेका अमुक कर्म सर्वथा निर्दोष है । वह समझता है कि दूसरेके गुणयुक्त उत्तम धर्मकी अपेक्षा अपना गुणरहित धर्म ही अपने लिये श्रेष्ठ और आचरण करने योग्य है । स्वधर्मके पालनसे मनुष्यको पाप नहीं लगता (देखो गीता १८ । ४७) । आजकल इस निष्काम कर्मके रहस्यको न समझकर ही लोग सबको एकाकार करनेकी व्यर्थ चेष्टामें लगे हुए हैं ।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

(गीता १८ । ४८)

'दोषयुक्त भी कर्तव्यकर्म नहीं त्यागना चाहिये; क्योंकि धूमसे (ढकी हुई) अग्निके समान सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे ढके हुए होते हैं ।

जो मनुष्य जिस वर्णमें उत्पन्न हुआ है उसके स्वाभाविक कर्म ही उसका स्वधर्म है, भारतवर्षकी सुव्यवस्थित वर्णव्यवस्था इसका परम आदर्श है । जो लोग इस वर्णव्यवस्थाको तोड़नेका प्रयत्न करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं, जगत्‌में भेद तो कभी मिट नहीं सकता, व्यवस्थामें विशृङ्खलता अवश्य ही हो सकती है जो और भी दुःखदायिनी होती है ।

जिस जाति या समुदायमें मनुष्य उत्पन्न होता है, जिन माता-पिताके रज-वीर्यसे उसका शरीर बनता है, जन्मसे लेकर अपने कर्तव्यको समझनेकी बुद्धि आनेतक जिन संस्कारोंमें उसका पालन-पोषण होता है, प्राय उन्हींके अनुकूल कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और उत्साह होता है। इसलिये वही उसका स्वभाव या प्रकृति समझी जाती है। और इस स्वभाव या प्रकृतिके अनुकूल विहित कर्मोंको ही गीतामें स्वधर्म, सहजकर्म, स्वकर्म, नियतकर्म, स्वभावजकर्म और स्वभावनियत-कर्म आदि नामोंसे कहा है। साधक पुरुषका जन्म यदि व्यवस्थित वर्णयुक्त समाजमें हुआ हो तब तो उसे अपना सहजकर्म समझ लेनेमें बडी सुगमता है, ऐसा न होनेपर उपर्युक्त हेतुओंसे अपनी प्रकृतिके अनुसार स्वधर्म निश्चित कर लेना चाहिये।

बस, इसी स्वधर्मके अनुसार आसक्ति और स्वार्थरहित होकर अखिल जगत्‌में परमात्माको व्यापक समझकर सबकी सेवा करनेके भावसे अपना-अपना कर्तव्यकर्म मनुष्यको करना चाहिये।

एक वैश्य है, दूकानदारी करता है, व्यवसाय उसका कर्तव्यकर्म है। परन्तु वह कर्तव्यकर्म, निष्काम कर्मयोगकी श्रेणीमें तभी जा सकता है जब कि वह स्वार्थबुद्धिसे न होकर केवल परमात्माकी सेवाके निर्मल भावसे हो। दूकानदारी छोड़कर जगलमें जानेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है मनके भावोंको बदलनेकी। स्वार्थ और कामनाका कलङ्क धो डालनेकी। जिस दिन सांसारिक स्वार्थकी जगह मनमें परमात्माको स्थान मिल जाता है उसी दिन उसके वे कर्म, जो बन्धनके कारण थे, स्वरूपसे वैसे ही बने रहकर भी परमात्माकी प्राप्तिके कारण बन जाते हैं।

पारा और संखिया अमृतका-सा काम दे सकता है, यदि वह चतुर वैद्यके द्वारा शोधकर शुद्ध कर लिया जाय। जिस पारे या संखियेके प्रयोगसे मनुष्यकी मृत्यु होती है वही पारा या संखिया विषभागके निकल जानेपर अमृत बन जाता है। इसी प्रकार जहाँतक कर्मोंमें स्वार्थ और आसक्ति है वहाँतक उनसे बन्धन या मृत्यु प्राप्त होती है, जिस दिन स्वार्थ और आसक्ति निकलकर कर्मोंकी शुद्धि कर ली जाती है उसी दिन वे अमृत बनकर मनुष्यको परमात्माका अमर पद प्रदान करनेमें कारण बन जाते हैं। इसीलिये किसी भी कर्तव्यकर्मके त्यागकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है शुद्धिको शुद्ध करनेकी। एक मनुष्य सकामभावसे यज्ञ, दान, तप करता है और दूसरा एक मनुष्य केवल अपने वर्णका कर्म भिक्षा, युद्ध, व्यापार या सेवा करता है; परन्तु करता है सबमें परमात्माको व्यापक समझकर, सबको सुख पहुँचाने और सबकी सेवा करनेके पवित्र भावसे तो वह उस केवल यज्ञ, दान, तप करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसके कामना न होनेके कारण सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रहता है और निरन्तर परमात्माकी भावना तथा परमात्माकी आज्ञाका ध्यान रहनेसे लोभ और आसक्ति भी पास नहीं आ सकते। लोभ और आसक्तिके अभावसे उसके द्वारा पाप या निषिद्धकर्मोंका होना तो सम्भव ही नहीं होता।

यहाँ मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि यज्ञ, दान, तप नहीं करने चाहिये या ये क्षुद्र साधन हैं। ये तो सर्वथा ही उत्तम हैं और अन्तःकरणकी शुद्धिमें तथा परमात्माकी प्राप्तिमें बड़े सहायक हैं, परन्तु ऐसा होता है उनका प्रयोग निष्कामभावसे करनेपर ही। अतएव यहाँ जो कुछ लिखा गया है वह केवल निष्काम कर्मयोगकी सच्ची महिमा बतलानेके लिये ही।

उपर्युक्त विवेचनसे यह भी सिद्ध हो गया कि निष्काम कर्मयोगीसे जान-बूझकर तो पाप नहीं बन सकते परन्तु यदि कहीं भूल, स्वभाव, अज्ञान या भ्रमसे कोई पाप बन भी जाता है तो वह उसके लागू नहीं होता, क्योंकि उसका उस कर्ममें कोई स्वार्थ नहीं है। स्वार्थ-रहित कर्मोंका अनुष्ठान कर्ताको बाँध नहीं सकता (देखो गीता ४। १४, ५। १०)। पक्षान्तरमें उसका प्रत्येक कार्य भगवदर्पण होनेके कारण वह परमात्माका सर्वथा कृपापात्र बन जाता है।

राजाके अनेक कर्मचारी होते हैं, सबको योग्यतानुसार वेतन मिलता है और सभीपर राजाके किसी-न-किसी कामकी जिम्मेवारी रहती है। परन्तु प्रत्येक वैतनिक कर्मचारी राजनियमोंसे बँधा हुआ रहता है, यदि भूल या अज्ञानसे भी किसी नियमको कोई कर्मचारी भङ्ग कर देता है तो उसे नियमानुसार दण्डका भागी होना पडता है। पर एक ऐसा मनुष्य जो किसी समय किसी प्रकारसे भी राज्य या राजासे कुछ भी स्वार्थ सिद्ध न कर केवल अहैतुकी राजभक्तिके कारण राजसेवा करता है, उसकी नि स्वार्थ सेवापर राजा मुग्ध रहता है। उसके द्वारा यदि समयपर कोई अज्ञानसे भूल हो जाती है तब भी राजा उससे नाराज नहीं होता, राजा समझता है कि यह तो राज्यका नि स्वार्थ सेवक है, ऐसा सेवक यदि भूलके लिये दण्ड चाहता है तो राजा कहता है भाई! हम तो तुम्हारे उपकारोंसे ही अत्यन्त दबे हुए हैं, तुम्हारी एक भूलका तुम्हें क्या दण्ड दें। इतना ही नहीं बल्कि राजा उसके उपकारोंमे अपनेको उसका ऋणी समझकर सब तरहसे उसका हित ही करना चाहता है। इसी प्रकार जो परमात्माका नि स्वार्थ सेवक है, जो अपने प्रत्येक कर्मका समर्पण उस परमात्माकी प्रीतिके लिये उसीके चरणोंमें कर देता है, उससे यदि कोई भूल होती है तो

उसपर अकारण सुहृद् परमात्मा कोई ध्यान नहीं देते । यह अनियम नहीं है किन्तु स्वार्थरहित सेवकके लिये यही नियम है ।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता हुआ साधक क्षेत्रमें परमात्माको प्राप्त हो जाता है परन्तु ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्तके द्वारा भी लोकशिक्षाके लिये राजा जनकादिकी भाँति आजीवन कर्म हो सकते हैं (देखो गीता ३ । २०) यद्यपि उनके लिये कोई कर्म शेष रह नहीं जाते (गीता ३ । १७) परन्तु जहाँ-तक मन और इन्द्रियाँ सचेत रहती हैं वहाँतक उनके लिये कर्म त्याग करनेमें कोई हेतु नहीं देखा जाता । किन्तु कर्मयोगकी सिद्धिको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण होते हैं (देखो गीता २ । ५५—५८, १२ । १३—१९) ।

ऐसे भगवत्को प्राप्त हुए महापुरुषके कर्म गीता तृतीय अध्यायके २५ वें श्लोकके अनुसार केवल लोकसंग्रहार्थ ही होते हैं और वे कर्म कामना और संकल्पसे शून्य होनेके कारण स्वरूपसे होते हुए भी वास्तवमें कर्म नहीं समझे जाते (देखो गीता ४ । १९-२०) ।

इस प्रकार निष्काम कर्मयोगका साधक परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर देनेके कारण अन्तमें परमात्माके प्रसादसे परमात्माको पा जाता है, जिस कर्ममें आदिसे लेकर अन्ततक परमात्माका इतना नित्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध है वह कर्म भक्तिरहित कभी नहीं हो सकता । अतएव गीताका निष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है ।

—तथा—

'फल और आसक्तिको त्याग कर भगवान्‌के आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्वबुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका करना ही उसका स्वरूप है ।

धर्म क्या है ?

प्र०—कृपापूर्वक आप धर्मकी व्याख्या करें ।

उ०—धर्मकी सच्ची व्याख्या कर सकें ऐसे पुरुष इस जमानेमें मिलने कठिन हैं ।

प्र०—आप जैसा समझते हैं वैसा ही कहनेकी कृपा करें ।

उ०—धर्मका विषय बड़ा गहन है, मुझको धर्मग्रन्थोंका बहुत कम ज्ञान है, वेदका तो मैंने प्राय अध्ययन ही नहीं किया । मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, ऐसी अवस्थामें धर्मका तत्त्व कहना एक बालकपन-सा है । इसके अतिरिक्त मैं जितना कुछ जानता हूँ उतना भी कह नहीं सकता; क्योंकि जितना जानता हूँ उतना स्वयं कार्यमें परिणत नहीं कर सकता ।

प्र०—खैर, यह बतलाइये कि आप किसको धर्म मानते हैं ?

उ०—जो धारण करने योग्य है ।

प्र०—धारण करने योग्य क्या है ?

उ०—इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाली महापुरुषोंद्वारा दी हुई शिक्षा ।

प्र०—महापुरुष कौन हैं ?

उ०—परमात्माके तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेवाले तत्त्ववेत्ता पुरुष ।

प्र०—उनके लक्षण क्या हैं ?

उ०—

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
> निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
> संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
> (गीता १२ । १३-१४)

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है ।'

'जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मेरेमें दृढ़ निश्चयवाला है वह मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ।'

> समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
> तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
> मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
> सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
> (गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें [illegible] हुआ दुःख-सुखको

समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय ओर अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है ।'

'जो मान और अपमानमें सम है एव मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।' ये महापुरुषोंके लक्षण हैं ।

प्र०—इन लक्षणोंवाले कोई महापुरुष हिंदूजातिमें आपकी जानकारीमें इस समय हैं ?

उ०—अवश्य हैं परन्तु मैं कह नहीं सकता ।

प्र०—आप हिंदू किसको समझते हैं ?

उ०—जो अपनेको हिंदू मानता हो, वही हिंदू है ।

प्र०—हिंदू शब्दका क्या अभिप्राय है ?

उ०—हिंदुस्तान (आर्यावर्त) में जन्म होना और किसी हिंदुस्तानी आचार्यके चलाये हुए मतको मानना ।

प्र०—सनातनी, आर्य, सिख, जैन, बौद्ध और ब्राह्म आदि भिन्न-भिन्न मतको माननेवाली तथा भारतकी जंगली जातियाँ क्या सभी हिंदू हैं ?

उ०—यदि वे अपनेको हिंदू मानती हों तो अवश्य हिंदू हैं ।

प्र०—क्या सभी हिंदुओंद्वारा चलाये हुए मत हिंदू-धर्म माने जा सकते हैं ?

उ०—अवश्य ।

प्र०—आप इन सब मतोंमें सबसे प्रधान और श्रेयस्कर किस मतको मानते हैं ?

उ०—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मनका निग्रह, इन्द्रियदमन, तितिक्षा, श्रद्धा, क्षमा, धीरता, दया, तेज, सरलता, स्वार्थत्याग, अमानित्व, दम्भहीनता, अपैशुनता, निष्कपटता, विनय, धृति, सेवा, सत्सङ्ग, जप, ध्यान, निर्वैरता, निर्भयता, समता, निरहंकारता, मैत्री, दान, कर्तव्यपरायणता और शान्ति—इन चालीस गुणोंमेंसे जिस मत-में जितने अधिक गुण हों वही मत सबसे प्रधान और श्रेयस्कर माना जाने योग्य है।

प्र०—इन चालीसोंकी संक्षेपमें व्याख्या कर दें तो बड़ी कृपा हो!

उ०—अच्छी बात है, सुनिये।

(१) अहिंसा—मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना।

(२) सत्य—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया गया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना।

(३) अस्तेय—किसी प्रकार भी चोरी न करना।

(४) ब्रह्मचर्य—आठ प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना।

(५) अपरिग्रह—ममत्वबुद्धिसे संग्रह न करना।

(६) शौच—बाहर और भीतरकी पवित्रता।

(७) सन्तोष—तृष्णाका सर्वथा अभाव।

(८) तप—स्वधर्म-पालनके लिये कष्टसहन।

(९) स्वाध्याय—पारमार्थिक ग्रन्थोंका अध्ययन और भगवान्‌के नाम तथा गुणोंका कीर्तन।

(१०) *ईश्वरभक्ति*—भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम होना ।

(११) *ज्ञान*—सत् और असत् पदार्थका यथार्थ जानना ।

(१२) *वैराग्य*—इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमे आसक्तिका अत्यन्त अभाव ।

(१३) *मनका निग्रह*—मनका वशमें होना ।

(१४) *इन्द्रियदमन*—समस्त इन्द्रियोंका वशमें होना ।

(१५) *तितिक्षा*—शीत, उष्ण और सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंमें सहनशीलता ।

(१६) *श्रद्धा*—वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षकी तरह विश्वास ।

(१७) *क्षमा*—अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना ।

(१८) *वीरता*—कायरताका सर्वथा अभाव ।

(१९) *दया*—किसी भी प्राणीको दुखी देखकर हृदयका पिघल जाना ।

(२०) *तेज*—श्रेष्ठ पुरुषोंकी वह शक्ति, कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्राय: पापाचरणसे हटकर श्रेष्ठ कर्मोंमें लग जाते हैं ।

(२१) *सरलता*—शरीर और इन्द्रियोंसहित अन्त:करणकी सरलता ।

(२२) *स्वार्थत्याग*—किसी कार्यसे इस लोक या परलोकके किसी भी स्वार्थको न चाहना ।

(२३) *अमानित्व*—सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना ।

(२४) *दम्भहीनता*—धर्मध्वजीपन अर्थात् ढोंगका न होना ।

(२५) *अपैशुनता*—किसीकी भी निन्दा या चुगली न करना ।

(२६) *निष्कपटता*—अपने स्वार्थ-साधनके लिये किसी बातका भी छिपाव न करना।

(२७) *विनय*—नम्रताका भाव।

(२८) *धृति*—भारी विपत्ति आनेपर भी चलायमान न होना।

(२९) *सेवा*—(सब भूतोंके हितमें रत रहना) समस्त जीवोंको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी, शरीरद्वारा निरन्तर निःस्वार्थ-भावसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना।

(३०) *सत्सङ्ग*—संत-महात्मा पुरुषोंका सङ्ग करना।

(३१) *जप*—अपने इष्टदेवके नाम या मन्त्रका जप करना।

(३२) *ध्यान*—अपने इष्टदेवका चिन्तन करना।

(३३) *निर्वैरता*—अपने साथ वैर रखनेवालोंमें भी द्वेष-भाव न होना।

(३४) *निर्भयता*—भयका सर्वथा अभाव।

(३५) *समता*—मस्तक, पैर आदि अपने अङ्गोंकी तरह सबके साथ वर्णाश्रमके अनुसार यथायोग्य बर्तावमें भेद रखनेपर भी आत्मरूपसे सबको समभावसे देखना।

(३६) *निरहंकारता*—मन, बुद्धि, शरीरादिमें 'मैं'पनका और उनसे होनेवाले कर्मोंमें कर्तापनका सर्वथा अभाव।

(३७) *मैत्री*—प्राणीमात्रके साथ प्रेमभाव।

(३८) *दान*—जिस देशमें जिस कालमें जिसको जिस वस्तुका अभाव हो उसको वह वस्तु प्रत्युपकार और फलकी इच्छा न रखकर हर्ष और सत्कारके साथ प्रदान करना।

(३९) *कर्तव्यपरायणता*—अपने कर्तव्यमें तत्पर रहना।

(४०) शान्ति—इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्त.करणमें निरन्तर प्रसन्नताका रहना ।

प्र०—आप वर्णाश्रम-धर्मको मानते हैं या नहीं ?

उ०—मानता हूँ और उसका पालन करना अच्छा समझता हूँ ।

प्र०—जो वर्णाश्रम-धर्मका पालन नहीं करते उनको क्या आप हिंदू नहीं मानते ?

उ०—जब वे अपनेको हिंदू मानते हैं तब उन्हें हिंदू न माननेका मेरा क्या अधिकार है ? परन्तु वर्णाश्रम-धर्म न माननेवालोंकी शास्त्रोंमें निन्दा की गयी है । अतएव वर्णाश्रम-धर्मको अवश्य मानना चाहिये ।

प्र०—आप वर्ण जन्मसे मानते हैं या कर्मसे ?

उ०—जन्म और कर्म दोनोंसे ।

प्र०—इन दोनोंमें आप प्रधान किसको मानते हैं ?

उ०—अपने-अपने स्थानमें दोनों ही प्रधान हैं ।

प्र०—वर्ण कितने हैं ?

उ०—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र——ये चार वर्ण हैं ।

प्र०—ब्राह्मणके क्या कर्म हैं ?

उ०—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

(गीता १८ । ४२)

'अन्त करणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि, धर्मके लिये कष्ट सहन करना और क्षमाभाव, मन, इन्द्रियों और

शरीरकी सरलता, आस्तिकबुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्मतत्त्व का अनुभव भी ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं यानी धर्म हैं।'

इसके अतिरिक्त यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, विद्या पढ़ना, विद्या पढ़ाना—ये कर्तव्यकर्म हैं। इनमें यज्ञ करना, दान देना और विद्या पढ़ाना—ये तीन तो सामान्य धर्म हैं; और यज्ञ कराना, दान लेना और विद्या पढ़ाना—ये जीविकाके विशेष धर्म हैं।

प्र०—ब्राह्मणकी जीविकाके सर्वोत्तम धर्म क्या हैं?

उ०—किसानके अनाज घर ले जानेके बाद खेतमें और अनाजके क्रय-विक्रयके स्थानमें जमीनपर बिखरे हुए दानोंको बटोरकर उनसे शरीर निर्वाह करना सर्वोत्तम है। इसीको ऋत और सत् कहा है। परन्तु यह प्रणाली नष्ट हो जानेके कारण इस जमानेमें इस प्रकार निर्वाह होना असम्भव-सा है। अतएव साधारण जीविकाके अनुसार ही निर्वाह करना चाहिये।

प्र०—साधारण जीविकामें कौन उत्तम है

उ०—बिना याचना किये जो अपने आपसे प्राप्त होता है वह पदार्थ सबसे उत्तम है, उसीको अमृत कहते हैं। नियत वेतनपर विद्या पढ़ाना और माँगकर दक्षिणा या दान लेना निन्द्य है। इनमें माँगकर दान लेनेको तो विषके सदृश कहा है।

प्र०—इस वृत्तिसे निर्वाह न हो तो ब्राह्मणको क्या करना चाहिये?

उ०—क्षत्रियकी वृत्तिसे निर्वाह करे उससे भी काम न चले तो वैश्य वृत्तिसे जीविका चलावे। परन्तु दास-वृत्तिका अवलम्बन आपत्तिकालमें भी न करे।

प्र०—क्षत्रियके क्या कर्म हैं?

उ०—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

(गीता १८ । ४३)

'शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागनेका स्वभाव एवं दान और स्वामीभाव—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ।'

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥

(मनुस्मृति १ । ८९)

'प्रजाकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयोंमें न लगना—सक्षेपसे ये क्षत्रियके कर्म है ।'

इन्हींमेंसे प्रजाका पालन करना, सैनिक बनना, न्याय करना, कर लेना और शस्त्रोंद्वारा दूसरोंकी रक्षा करना इत्यादि जीविकाके कर्म हैं । दान देना, यज्ञ करना और विद्या पढ़ना—ये सामान्य धर्म हैं ।

प्र०—इन कर्मोंसे क्षत्रियकी जीविका न चले तो उसे क्या करना चाहिये ?

उ०—वैश्य-वृत्तिसे निर्वाह करे, उससे भी न चले तो शूद्र-वृत्तिसे काम चलावे ।

प्र०—वैश्यके क्या कर्म हैं ?

उ०—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥

(मनुस्मृति १ । ९०)

पशुओंकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार, ब्याज और खेती—ये वैश्यके कर्म हैं।’

पशुपालन, कृषि तथा सत् और पवित्र व्यापार—ये स्वाभाविक और जीविकाके भी कर्म हैं। ब्याज भी जीविकाका है परन्तु केवल ब्याज उपजाना निन्द्य है। यज्ञ, दान और अध्ययन सामान्य धर्म हैं।

प्र०—सत् और पवित्र व्यापार किसे कहते हैं?

उ०—दूसरेके हकपर नीयत न रखते हुए झूठ-कपटको छोड़कर न्यायपूर्वक पवित्र वस्तुओंका क्रय-विक्रय करना सत् और पवित्र व्यापार है।*

प्र०—इनसे जीविका न चले तो वैश्यको क्या करना चाहिये?

उ०—शूद्रवृत्तिसे काम चलावे, परन्तु अपवित्र वस्तुओंका और सट्टेका व्यापार कभी न करना चाहिये।

प्र०—कृपाकर अपवित्र वस्तुओंकी व्याख्या कीजिये?

उ०—मद्य, मांस, हड्डी, चमड़ा, सींग, लाख, चरबी, नील इत्यादि शास्त्रवर्जित घृणित पदार्थ अपवित्र हैं।

प्र०—शूद्रके क्या कर्म हैं?

---

* वस्तुओंके खरीदने और बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम देना अथवा अधिक लेना एवं वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा आढ़त और दलाली ठहराकर उससे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ कपट चोरी और जबरदस्तीसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे दूसरेके हकको ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषोंसे रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओंका व्यापार है उसका नाम सत्य व्यवहार है।

उ०—सेवा और कारीगरीके काम ही इनके स्वाभाविक और आजीविकाके कर्म हैं ।

प्र०—तो फिर जिन अपवित्र और घृणित पदार्थोंका व्यापार वैश्योंको नहीं करना चाहिये, उनका व्यापार करनेके अधिकारी कौन लोग है ?

उ०—मोची, चमार, चाण्डाल और मेहतर आदि पतित शूद्रोंको, जिन्हें अछूत माना जाता है, उपर्युक्त वस्तुओंके संग्रह करनेका तथा उन्हें कार्योपयोगी बनाकर जन-समुदायकी सेवामें न्यायपूर्वक उचित मूल्यपर वितरण करनेका अधिकार है । परन्तु यदि वे इस कार्यको स्वधर्म मानकर धर्मपालनके लिये करना चाहें, तो इस बातका विशेषरूपसे ध्यान रक्खें कि प्राणियोंके शरीरसे निकलनेवाले मास, हड्डी, और चमड़ा आदि पदार्थ अपनी स्वाभाविक मृत्युसे मरे हुए प्राणियोंके ही शरीरके हों । उक्त पदार्थोंके लिये किसी भी प्राणीकी हिंसा कदापि न की जाय । साथ ही उन्हें इस बातका भी खयाल रखना चाहिये कि वे वस्तुएँ यथावश्यक व्यक्तिके काममें लगें तथा कहीं भी सत्यता और न्यायका त्याग न हो । सद्व्यापारके लिये जो-जो बातें टिप्पणीमें लिखी गयी हैं, उनमेंसे पवित्रताके सिवा और सभी बातें उपर्युक्त वस्तुओंके व्यापारमें भी रहनी चाहिये ।

प्र०—सट्टेका व्यापार किसको समझना चाहिये ?

उ०—वर्षा, भूकम्प या अन्य किसी प्रकारकी दैवी घटनाके भविष्य परिणामको निमित्त बनाकर जो होड़ लगायी जाती है

(हार-जीतकी कल्पना की जाती है) वह तो प्रत्यक्ष ही जुआ है । इसके सिवा जो माल वास्तवमें न तो डिलीवर लिया जाता है और न दिया ही जाता है, समयपर भाव करके केवल घाटे-नफेका भुगतान होता है, किसीको उसके खरीदने-बेचनेमें रुपया नहीं लगाना पड़ता, ऐसा व्यापार सट्टा कहलाता है । इसी प्रकार जिसके पास जिस वस्तुको उत्पन्न करनेका न तो साधन है और न किसी उत्पन्न करनेवाले कारखाने या खासमसे ही वह वस्तु उसकी खरीदी हुई है, ऐसा व्यापारी यदि साहस करके उस वस्तुको माथे भरकर बेचता है, तो उसकी वह खरीद-बिक्री भी सट्टा ही है । इसी तरह किसी वस्तुके समयपर निश्चित होनेवाले भावोंके सम्बन्धमें मन्दी-तेजीकी शर्तपर होड लगाना भी जुआ है, इसको भी सट्टा ही समझना चाहिये । हाँ, जो वस्तु किसी ऐसे कारखाने या किसानसे खरीदी जाती है जिसके पास वह वस्तु किसी निश्चित समयपर तैयार या उत्पन्न होनेवाली रहती है तथा खरीदनेवालेको भी वह वस्तु अपने किसी कार्य या व्यापारके लिये उस समय आवश्यक होती है, तो उसका खरीदना अनुचित नहीं है वैसी वस्तुके लिये यदि समयपर निश्चित मूल्य देकर उसे ठीक डिलीवर देनेके उद्देश्यसे ही खरीदा जाय तो वह आमदनी या सौदा सट्टेके अन्तर्गत नहीं, वह एक प्रकारका व्यापार ही है ।

धर्म और उसका प्रचार

इस समय संसारकी प्रायः सभी जातियाँ न्यूनाधिकरूपसे अपने-अपने धर्मकी उन्नति और उसके प्रचारके लिये अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार प्रयत्न कर रही हैं। इनमेंसे कुछ लोग तो अपने धर्मभावोंका सन्देश ससारके कोने-कोनेमें पहुँचा देना चाहते हैं और वे इसके लिये कोई काम भी उठा नहीं रखते। क्रिश्चियन मतका प्रचार करनेके लिये ईसाई-जगत् कितनी धनराशिको पानीकी तरह वहा रहा है? अमेरिकातकसे करोड़ों रुपये इस कार्यके लिये भारतवर्षमें आते हैं। लाखों ईसाई स्त्री-पुरुष सुदूर देशोंमें जा-जाकर भाँति-भाँतिसे लोकसेवा कर तथा लोगोंको अनेक तरहसे लोभ-लालच देकर फुसलाकर और उन्हें उलटी-सीधी वात समझाकर अपने धर्मका प्रचार कर रहे हैं।

कुछ भूले हुए लोग परधन, परस्त्री-अपहरण करने, धर्मके नामपर हिंसा करने और परधर्मीकी हत्या करनेको ही धर्म मान बैठे हैं और उसीका प्रचार करना चाहते हैं। इसी प्रकारके धर्मप्रचारसे चारों ओर अशान्ति और दुःखका विस्तार होता है। अपनी बुद्धिसे लोक-कल्याणके लिये जिस धर्मको अधिक उपयोगी समझा जाय, उसके प्रचारके लिये प्रयत्न करना मनुष्यका कर्तव्य है। इस न्यायसे

कोई भाई यदि वास्तवमें ऐसे ही शुद्ध भावसे प्रेरित होकर केवल लोक-कल्याणके लिये ही अपने धर्मका प्रचार करना चाहते हैं तो उनका यह कार्य अनुचित नहीं है, परन्तु उनके इस कार्यको देखकर हमलोगोंको क्या करना चाहिये यह विषय विचारणीय है। मेरी समझसे एक हिंदू-धर्म ही सब प्रकारसे पूर्ण धर्म है, जिसका परम लक्ष्य मनुष्यको संसारके त्रितापानलसे मुक्त कर उसे अनन्त सुखकी शेष सीमातक पहुँचाकर सदाके लिये आनन्दमय बना देना है। इसी धर्मका पवित्र सन्देश प्राप्त कर समय-समयपर जगत्के दुःखदग्ध अशान्त प्राणी परम शान्तिको प्राप्त हो चुके हैं और आज भी जगत्के बड़े-बड़े मानुक पुरुष अत्यन्त उत्सुकताके साथ इसी सन्देशकी प्राप्तिके लिये लालायित हैं। जिस धर्मकी इतनी अपार महिमा है उसी अनादि कालसे प्रचलित पवित्र और गम्भीर आशय धर्मको माननेवाली जाति मोहवश जगत्के अन्यान्य अपूर्ण मतोंका आश्रय ग्रहणकर अज्ञान-सरिताके प्रवाहमें बहना चाहती है, यह बड़े ही दुःखकी बात है।

यदि भारतने अपने चिरकालीन धर्मके पावन आदर्शको भूल-कर ऐहिक सुखोंकी व्यर्थ कल्पनाओंके पीछे उन्मत्त हो केवल काल्पनिक भौतिक, स्वर्गादि सुखोंको ही धर्मका ध्येय माननेवाले मतोंका अनुसरण आरम्भ कर दिया तो बड़े ही अनर्थकी सम्भावना है। इस अनर्थका सूत्रपात भी हो चुका है। समय-समयपर इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। लोग प्रायः परमानन्द प्राप्तिके ध्येयसे च्युत होकर केवल विविध प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके प्रयत्नको ही अपना कर्तव्य समझने लगे हैं। धर्मक्षयका यह प्रारम्भिक दुष्परिणाम

देखकर भी यदि धमप्रेमी बन्धु धर्मनाशसे उत्पन्न होनेवाली भयानक विपत्तियोंसे जातिको बचानेकी सन्तोषजनक रूपसे चेष्टा नहीं करते, यह बड़े ही परितापका विषय है।

इस समय हमारे देशमें अधिकाश लोग तो केवल धन, नाम और कीर्ति कमानेमें ही अपने दुर्लभ और अमूल्य जीवनको बिता रहे हैं। कुछ सज्जन स्वराज्य और सुधारके कार्योंमें लगे हैं, परन्तु उस सत्य धर्मके प्रचारक तो कोई बिरले ही महात्माजन हैं। यद्यपि मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी कामना एव स्वार्थपरताका परित्याग कर स्वराज्य और समाज-सुधारके लिये प्रयत्न करनेसे भी सच्चे सुखकी प्राप्तिमें कुछ लाभ पहुँचता है, परन्तु भौतिक सुखोंकी चेष्टा वास्तवमें परम ध्येयको भुला ही देती है। सच्चे सुखकी प्राप्तिमें पूरी सहायता तो उस शान्तिप्रद सत्य धर्मके प्रचारसे ही मिल सकती है।

यद्यपि मुझे ससारके मत-मतान्तरोंका बहुत ही कम ज्ञान है, परन्तु साधारणरूपसे मेरा यह विश्वास है कि सबसे उत्तम सार्वभौम धर्म वह हो सकता है, जिसका लक्ष्य महान्-से-महान्, नित्य और निर्बाध आनन्दकी प्राप्ति हो और जिसमें सबका अधिकार हो। केवल ऐहिक सुख या स्वर्गसुख बतलानेवाला धर्म भी वास्तवमें बुद्धिमान्‌के लिये त्याज्य ही है। अतएव सर्वोत्तम धर्म वह है जो परम कल्याणकी प्राप्ति करानेवाला होता है। ऐसा धर्म मेरी समझसे वह वैदिक सनातन धर्म ही है जिसका स्वरूप निम्नलिखितरूपसे शास्त्रोंमें कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥
(गीता १६ । १–३)

सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति*, सात्त्विक दान†, इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन, शरीर और इन्द्रियों-सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण‡, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी

* परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे ध्यानकी निरन्तर गाढ़ स्थितिका ही नाम ज्ञानयोगव्यवस्थिति समझना चाहिये ।

† गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित गीता अध्याय १७ श्लोक २० का अर्थ देखिये ।

‡ अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहनेका नाम सत्यभाषण है ।

चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा आदि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज*, क्षमा, धैर्य, शौच अर्थात् बाहर और भीतरकी शुद्धि †, किसीमें भी शत्रुभावका न होना, अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—हे अर्जुन ! दैवी सम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण (ये) हैं ।'

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु० ६ । ९२)

'धैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीका न करना, बाहर-भीतरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्मविद्या, यथार्थ भाषण और क्रोधका न करना— ये धर्मके दस लक्षण हैं ।'

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

(योग० २ । ३०)

'अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यका पालन और भोग सामग्रियोंका संग्रह न करना—ये पाँच प्रकारके यम हैं ।'

---

* श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्राय. अन्यायाचरणसे रुककर श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ।

† सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी तथा यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं तथा राग-द्वेष और कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्त करणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि कही जाती है ।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।
(योग २ । ३२)

'बाहर-भीतरकी पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करना—ये पाँच प्रकारके नियम हैं ।' इन सबका निष्कामभावसे पालन करना ही सच्चा धर्माचरण है ।

यही धर्मके सर्वोत्तम लक्षण हैं, इन्हींसे परमपदकी प्राप्ति होती है । अतएव जो सच्चे हृदयसे मनुष्यमात्रकी सेवा करना चाहते हैं उन्हें उचित है कि वे उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मको ही उन्नतिका परम साधन समझकर स्वयं उसका आचरण करें और अपने दृष्टान्त तथा युक्तियोंके द्वारा इस धर्मका महत्त्व बतलाकर मनुष्यमात्रके हृदयमें इसके आचरणकी तीव्र अभिलाषा उत्पन्न कर दें । वास्तवमें यही सच्चा धर्म-प्रचार है और इसीसे लौकिक अभ्युदयके साथ-ही-साथ देश-कालकी अवधिसे अतीत मुक्तिरूप परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है । इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष दुःखरूप संसारसागरमें पुनः लौटकर नहीं आता । ऐसे ही पुरुषोंके लिये श्रुति पुकारती है—

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।
(छान्दोग्य ८ । १५ । १)

इस परम आनन्दका नित्य और मधुर आस्वाद मनुष्यमात्रको चखानेके लिये वैदिक सनातनधर्मका प्रचार करनेकी चेष्टा मनुष्यमात्रको विशेषरूपसे करनी चाहिये ।

कुछ सज्जनोंका मत है कि सामर्थ्य और विपुल धनराशिके अभावसे धर्मप्रचार नहीं हो सकता, परन्तु मेरी समझसे उनका यह

मत सर्वथा ठीक नहीं है। राजनैतिक अधिकारोंकी प्राप्तिसे धर्म-प्रचार-में सहायता मिल सकती है, परन्तु यह बात नहीं कि स्वराज्यके अभावमें धर्मका प्रचार हो ही नहीं सकता। धर्मपालनसे बडे-से-बडा आत्मिक स्वराज्य मिल सकता है, तब इस साधारण स्वराज्यकी तो बात ही कौन-सी है। वह तो अनायास ही प्राप्त हो सकता है।

धनकी भी धर्मके प्रचारमें आवश्यकता नहीं, सम्भव है कि इससे आंशिकरूपसे कुछ सहायता मिल जाय। इसमें प्रधान आवश्यकता सच्चे त्यागी और धर्मज्ञ प्रचारकोंकी है। ऐसे पुरुष मान, बडाई, प्रसिद्धि और स्वार्थको त्याग कर प्राणपणसे धर्म-प्रचारके लिये कटिबद्ध हो जायँ तो उन्हें द्रव्यादि वस्तुओंकी तो कोई त्रुटि रह ही नहीं सकती, परन्तु वे अपने प्रतिपक्षियोंपर भी प्रेमसे विजय प्राप्तकर उन्हें अपना मित्र बना ले सकते हैं। केवल सख्यावृद्धिके लिये ही लोभ-लालच देकर या फुसला-धमकाकर किसीका धर्म-परिवर्तन करना वास्तवमें उसके विशेष हितका हेतु नहीं हो सकता और न ऐसे स्वार्थयुक्त धर्म-प्रचारसे प्रचारकोंको ही विशेष लाभ होता है। जब मनुष्य धर्मके महत्त्वको स्वयं भलीभाँति समझकर उसका पालन करता है तभी उसे, उससे आनन्द और शान्ति मिलती है और इस प्रकार अपूर्व आनन्द और परम शान्ति अनुभव करके ही मनुष्य ससृतिमें फँसे हुए अशान्त, दुखी जीवोंकी दयनीय स्थितिको देखकर करुणार्द्र-चित्तसे उन्हें शान्त और सुखी बनानेके लिये प्रयत्न करते हैं, यही सच्चा धर्म प्रचार है।

बड़े खेदकी बात है कि इस अपार आनन्दके प्रत्यक्ष सागरके होते हुए भी लोग दु खरूप ससार-सागरमें मग्न हुए भीषण सन्तापको प्राप्त हो रहे हैं। मृगतृष्णासे परिश्रान्त और व्याकुल मृग-समूह जैसे

गङ्गाके तीरपर भी प्यासके मारे छटपटाकर मर जाते हैं। यही दशा इस समय हमारे इन भाइयोंकी हो रही है।

सत्य धर्मके पालनसे होनेवाली अपार आनन्दकी स्थितिको न समझनेके कारण ही मनुष्योंकी यह दशा हो रही है। अतएव ऐसे लोगोंको दयनीय समझकर उन्हें वैदिक सनातन-धर्मका तत्त्व समझानेकी चेष्टा करनेमें उनका उपकार और सच्चा सुधार है। इस धर्मको बतलानेवाले हमारे यहाँ अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिन सबका मनन और अनुशीलन करना कोई सहज बात नहीं। अतएव किसी एक ऐसे ग्रन्थका अवलम्बन करना उत्तम है जो सरलताके साथ मनुष्यको इस पावन पथपर ला सकता है। मेरी समझसे ऐसा पावन ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। बहुत थोड़े-से सरल शब्दोंमें कठिन-से-कठिन सिद्धान्तोंको समझानेवाला सब प्रकारके अधिकारियोंको उनके अधिकारानुसार उपयोगी मार्ग बतलानेवाला, सच्चे धर्मका पथप्रदर्शक, पक्षपात और स्वार्थसे रहित उपदेशोंके अपूर्व समूहका यह एक ही सार्वभौम महान् ग्रन्थ है। जगत्‌के अधिकांश महानुभावोंने मुक्तकण्ठसे इस बातको स्वीकार किया है। गीतामें सैकड़ों ऐसे श्लोक हैं * जिनमेंसे एकको भी पूर्णतया धारण करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है, फिर सम्पूर्ण गीताकी तो बात ही क्या है।

अतः जिन पुरुषोंको धर्मके विस्तृत ग्रन्थोंको देखनेका पूरा समय नहीं मिलता है उनको चाहिये कि वे गीताका अर्थसहित अध्ययन अवश्य ही करें और उसके उपदेशोंका पालन करनेमें तत्पर

---

* जैसे गीता अ० २।७१; ३।३०; ४।३९; ५।२९; ६।४७; ७।१४; ८।१४; ९।३२; १०।९, १०; ११।५४, ५५; १२।८; १३।१०; १४।१९; १५।१९; १६।१; १७।१६; १८।६५, ६६ इत्यादि।

हो जायँ। मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है और गीता मुक्ति-मार्ग बतलानेवाला एक प्रधान ग्रन्थ है, इसलिये परमेश्वरमें भक्ति और श्रद्धा रखनेवाले सभी आस्तिक मनुष्योंका इसमें अधिकार है। गीता-प्रचारके लिये भगवान्ने किसी देश, काल, जाति और व्यक्तिविशेषके लिये रुकावट नहीं की है, वरं अपने भक्तोंमें गीताका प्रचार करनेवालेको सबसे बढ़कर अपना प्रेमी बतलाया है।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(१८।६८)

'जो पुरुष मेरेमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, अर्थात् निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा या अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करेगा, वह निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८।६९)

'और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रियकार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथिवीमें दूसरा कोई होवेगा।'

अतएव सभी देशोंकी सभी जातियोंमें गीता-शास्त्रका प्रचार बड़े जोरके साथ करना चाहिये। केवल एक गीताके प्रचारसे ही पृथ्वीके मनुष्यमात्रका उद्धार हो सकता है। इसलिये इसी गीता-धर्मके प्रचारमें सबको यत्नवान् होना चाहिये। इससे सबको आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है। यही एक सरल, सहज और मुख्य उपाय है!

व्यापारसुधारकी आवश्यकता

भारतवर्षके व्यापार और व्यापारियोंकी आज बहुत बुरी दशा है। व्यापारकी दुरवस्थामें विदेशी शासन भी एक बड़ा कारण है परन्तु प्रधान कारण व्यापारी-समुदायका नैतिक पतन है। व्यापारकी उन्नतिके असली रहस्यको भूलकर लोगोंने व्यापारमें झूठ, कपट, छलको स्थान देकर उसे बहुत ही घृणित बना रक्खा है। लोभकी अत्यन्त बढ़ी हुई प्रवृत्तिने किसी भी तरह धन कमानेकी चेष्टाको ही व्यापारके नामसे स्वीकार कर लिया है। बहुत-से भाई तो व्यापारमें झूठ, कपटका रहना आवश्यक और स्वाभाविक मानने लगे हैं और वे ऐसा भी कहते हैं कि व्यापारमें झूठ, कपट बिना काम नहीं चलता। परन्तु वास्तवमें यह बड़ा भारी भ्रम है। झूठ, कपटसे व्यापारमें आर्थिक लाभ होना तो बहुत दूरकी बात है परन्तु उलटी हानि होती है। धर्मकी हानि तो स्पष्ट ही है। आजकल व्यापारी जगत्‌में अंग्रेज जातिका विश्वास औरोंकी अपेक्षा बहुत बढ़ा हुआ है। व्यापारी लोग अंग्रेजोंके साथ व्यापार करनेमें उतना डर नहीं मानते जितना उन्हें अपने भाइयोंके साथ करनेमें लगता है। यह देखा गया है कि गल्ला, सिल्वर वगैरह अंग्रेजोंको दो आना नीचे भावमें भी लोग बेच देते हैं। आमदनी मालका लेन-देनका सौदा करनेमें भी पहले अंग्रेजोंको देखते हैं, इसका कारण यही है कि उनमें सचाई अधिक है। इसीसे उनपर लोगोंका विश्वास अधिक है। इस कथनका यह अभिप्राय नहीं है कि अंग्रेज सभी सच्चे और भारतवासीमात्र सच्चे नहीं हैं। यहाँ मतलब यह है कि व्यापारी कार्योंमें हमारी अपेक्षा उनमें

सत्यका व्यवहार कहीं अधिक है। वह भी किसी धर्मके खयालसे नहीं किंतु व्यापारमें उन्नति होने और झूठे झझटोंसे बचनेके खयालसे है।

सचाईके व्यवहारके कारण जिन अङ्गरेज और भारतीय फर्मोंपर लोगोंका विश्वास है, उनका माल कुछ ऊँचे दाम देकर भी लोग लेनेमें नहीं हिचकते। बराबरके भावमें तो खुशामद करके उनके साथ काम करना चाहते हैं।

व्यापारमें प्रधानत. क्रय-विक्रय होता है, क्रय-विक्रयके कई साधन हैं. कोई चीज तौलपर ली-दी जाती है, कोई नापपर, तो कोई गिनतीपर। नमूना देखना-दिखलाना भी एक साधन होता है। जो दूसरेके लिये या दूसरोंका माल खरीदते-बेचते हैं वे आढ़तिया कहलाते हैं और जो दूसरोंसे दूसरोंको ठीक भावमें किसीका पक्ष न कर उचित दलालीपर माल दिला देते हैं वे दलाल कहलाते हैं। इन्हीं सब तरीकोंमे व्यापार होता है। वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम देना या अधिक लेना, चीज बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) चीज मिलाकर दे देना या धोखा देकर अच्छी ले लेना, नमूना दिखाकर उसको घटिया चीज देना और धोखेसे बढ़िया लेना, नफा, आढ़त, दलाली ठहराकर उससे अधिक लेना या धोखेसे कम देना, दलाली या आढ़तके लिये झूठी बातें समझा देना अथवा झूठ, कपट, चोरी, जबरदस्ती या अन्य किसी प्रकारसे दूसरेका हक मार लेना, ये सब व्यापारके दोष हैं। आज-कल व्यापारमें ये दोष बहुत ज्यादा आ गये हैं। किसी भी दोषका कोई भी खयाल न कर किसी तरह भी धन पैदा कर लेनेवाला ही आजकल समझदार और चतुर समझा जाता है। समाजमें उसीकी

हो गया है। ऐसा कोई काम नहीं जो आजकल व्यापारी लोभवश न करते हों, घीमें चर्बी, तैल, विलायती घी और मिट्टीका तेल मिलाया जाता है। तेलमें भी बड़ी मिलावट होती है। सरसोंके साथ तीसी, रेंडी तो मिलाते ही हैं। परन्तु बड़ी-बड़ी मिलोंमें कुसुमके बीज भी मिलाये जाते हैं। जिसके तैलसे बदहजमी, हैजा, संग्रहणी आदि बीमारियाँ फैलती हैं। मनुष्य दुःख पाते हैं, मर जाते हैं। परन्तु लोभियोंको इस बातकी कोई परवा नहीं। इसी तैलकी खली गायोंको खिलायी जाती है, जिससे उनके अनेक प्रकारकी बीमारियाँ हो जाती हैं। गोभक्त और गोसेवक कहलानेवाले लोगोंकी यह गंदी करतूत है। ऐसी मिलोंमें जब जाँचके लिये सरकारी अफसर आते हैं तो उन्हें धोखा देकर या उनकी कुछ भेंट-पूजा करके पिण्ड छुड़ा लिया जाता है। साइनबोर्डोंपर 'खानेका तैल' लिखकर भी दण्डसे बचनेकी चेष्टा की जाती है।

नारियल तैल, सरसों आदिके तैलोंमें कई तरहके विलायती किरासिन तैल मिलाये जाते हैं जो पेटमें जाकर भाँति-भाँतिकी बीमारियाँ पैदा करते हैं।

आजकल देशमें जो अधिक बीमारी फैल रही है घर-घरमें रोगी दीख पड़ते हैं—इसका एक प्रधान कारण व्यापारियोंका लोभवश खाद्य पदार्थोंमें अखाद्य चीजोंका मिश्रण देना भी है।

कपड़ेके व्यापारमें भी बड़े-छोटे सभी स्थानोंमें प्रायः चोरी होती है। बम्बई, कलकत्ते आदि बड़े शहरोंके बड़े दूकानदारोंकी बड़ी चोरियाँ होती हैं। देहातके दूकानदार भी किसी तरह कमी नहीं करते। जहाँ अमुक नफेपर माल बेचनेका नियम है, वहाँ ग्राहकोंको ठगनेके लिये

एक झूठा बीजक मँगा लेते हैं। हाथीके दाँत खानेके और दिखानेके और!

सूतके देहाती व्यापारी भी सूतके बडलोंमेंसे मुट्ठे निकालकर उसे ८ नबरसे १६ नंबरतकका बना लेते हैं। इस बेईमानीके लिये कलकत्तेमें कई कारखाने बने हुए हैं जिनमें खरीदार जुलाहोंको धोखा देनेके लिये गोलमाल की जाती है। दूसरे बडल बनाकर बेचनेमें जुलाहे ठगे जाते हैं, खर्च बढ़ जाता है और सूत उलझ जाता है।

कई जगह चीनीके ऐसे कारखाने हैं जिनमें विदेशी चीनीमें गुड़ मिलाकर उसका रग बदल दिया जाता है और फिर वह बनारसी या देशीके नामसे बेची जाती है।

आढ़त, दलाली, कमीशनमें भी तरह-तरहकी चोरियाँ की जाती हैं। वास्तवमें आढ़तियेको चाहिये कि महाजनके साथ जो आढ़त ठहरा ले उससे एक पैसा भी छिपाकर अधिक लेना हराम समझे। महाजनको विश्वास दिलाया जाता है कि आढ़त ।।।) या ।।) सैकड़ा ली जायगी. परन्तु छल-कपटसे जितना अधिक चढ़ाया जाय उतना ही चढाते हैं। २) ४) ५) सैकड़ेतक वसूल करके भी सतोष नहीं होता। बोरा, बारदाना, मजदूरी आदिके बहानेसे महाजनसे छिपाकर या मालपर अधिक दाम रखकर दलाली या बट्टा वगैरह उसे न देकर, अथवा गुप्तरूपसे अपना माल बाजारसे खरीदा हुआ बताकर तरह-तरहसे महाजनको ठगना चाहते हैं।

कमीशनके काममें भी बड़ी चोरियाँ होती हैं। बाजार मंदा हो गया तो तेज भावमें बिके हुए मालकी बिक्री मंदेकी दे देते हैं। तेज हो गया तो किसी दूसरेसे मिलकर बिना बिके ही बहुत-सा माल खुद खरीदकर पहलेका बिका बताकर झूठी बिक्री

प्रतिष्ठा होती है। धनकी कमाईके सामने उसकी सारी चोरियाँ घरवाले और समाज सह लेता है। इसीसे चोरी और झूठ-कपटकी प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ रही है। व्यापारमें झूठ, कपट नहीं करना चाहिये या इसके बिना किये भी धन पैदा हो सकता है ऐसी धारणा ही प्राय: लोप हो चली है। इसीसे जिस तरफ देखा जाता है उसी तरफ पोल नजर आती है।

अधिकांश भारतीय मिलोंके साथ काम करनेमें व्यापारियोंको यह डर बना ही रहता है कि तेज बाजारमें हमें या तो नमूनेके अनुसार क्वालिटीका माल नहीं मिलेगा या ठीक समयपर नहीं मिलेगा। कपड़ेकी मिलोंमें जिस तरहकी कारगुजारियाँ होती सुनी गयी हैं वे यदि वास्तवमें सत्य हैं तो हमारे व्यापारमें बड़ा धक्का पहुँचानेवाली हैं। रूई खरीदनेमें मैनेजिङ्ग एजेंट लोग बड़ी गड़बड़ किया करते हैं।

रूईके बाजारमें घटबढ़ बहुत रहती है। रूईका सौदा करनेपर भाव बढ़ जाता है तो एजेंट उसे अपने खाते रख लेते हैं और यदि भाव घट जाता है तो अपने लिये अलग खरीदी हुई रूई भी मौका लगनेपर मिल खाते बाँध देते हैं। वजन बढ़ानेके लिये कपड़ोंमें माँडी लगानेमें तो अहमदाबाद मशहूर है। रूईका भाव बढ़ जानेपर सूतमें भी कमी कर दी जाती है। अनेक तरहके बहाने बताकर कंट्राक्टका माल भी समयपर नहीं दिया जाता। प्राय: लंबाई चौड़ाईमें भी गोलमाल कर दी जाती है। सूतमें वजन भी कम दे दिया जाता है, इन्हीं कारणोंसे बहुत-सी मिलोंकी साख नहीं जमती। पाश्चात्त्यमें विलायती वस्त्र-व्यवसाय भारतके लिये महान् घातक होनेपर भी कंट्राक्टोंकी शर्तोंके पालनमें अधिक उदारता और सचाई रहनेके

कारण बहुत-से व्यापारी उस कामको छोड़ना नहीं चाहते। यहाँकि मालके दाम ज्यादा रहनेका एक कारण अत्यधिक लोभकी मात्रा ही है।

अनाज आदि खानेकी चीजोंमें दूसरे घटिया अनाज मिलाये जाते हैं—मिट्टी मिलायी जाती है। जीरा, धनिया आदि किरानेकी और सरसों, तिल आदि तिलहन चीजोंमें भी दूसरी चीज या मिट्टी मिलायी जाती है। किसान तो मामूली मिट्टी मिलाते हैं परन्तु व्यापारी लोग भी उसी रंगकी मिट्टी खरीदकर मिलाया करते हैं। वजन ज्यादा करनेके लिये बरसातमें माल गीली जगहमें रखते हैं जिससे कहीं-कहीं माल सड जाता है, खानेवाले चाहे बीमार हो जायँ, पर व्यापारियोंके घरोंमें पैसे अधिक आने चाहिये। गल्ला आदि जहाँ रखा जाता है वहाँ पहलेसे ही घटिया माल तो नीचे या कोनोंमें रखते हैं और बढिया माल सामने नमूना दिखानेकी जगह रक्खा जाता है, वजनमें भी बुरा हाल है। लेन-देनके बाट भी दो प्रकारके होते हैं।

पाटके व्यापारमें भी चोरियोंकी कमी नहीं। वजन बढ़ानेके लिये पानी मिलाया जाता है। मिलोंमें माल पास कराने-वाले बाबुओंको कुछ दे-दिलाकर बढ़ियाके कण्ट्राक्टमें घटिया माल दे दिया जाता है। वजनमें चोरी होती ही है। इसी तरह रूईमें पानी तथा धूल मिलायी जाती है। पाटकी तरह इनकी गाँठोंके अंदर भी खराब माल छिपाकर दे दिया जाता है।

सभी चीजोंमें किसानोंसे माल खरीदते समय दामोंमें, वजनमें, घटियाके बदले बढ़िया लेनेमें धोखा देकर लूटनेकी चेष्टा रहती है और बेचते समय ठीक इससे उल्टा व्यवहार करनेकी कोशिश होती है।

खाद्य पदार्थोंमें भी शुद्ध घी, तैल या आटातक मिलना कठिन

हो गया है । ऐसा कोई काम नहीं जो आजकल व्यापारी लोभवश न करते हों, घीमें चरबी, तैल, विलायती घी और मिट्टीका तेल मिलाया जाता है । तैलमें भी बड़ी मिलावट होती है । सरसोंके साथ तीसी, रेंड़ी तो मिलाते ही हैं । परन्तु बड़ी-बड़ी मिलोंमें कुसुमके बीज भी मिलाये जाते हैं । जिसके तैलसे मन्दाग्नि, हैजा, संग्रहणी आदि बीमारियाँ फैलती हैं । मनुष्य दु ख पाते हैं मर जाते हैं । परन्तु लोभियोंको इस बातकी कोई परवा नहीं । इसी तैलकी खली गायोंको खिलायी जाती है, जिससे उनके अनेक प्रकारकी बीमारियाँ हो जाती हैं । गोभक्त और गोसेवक कहानेवाले लोगोंकी यह गंदी करतूत है । ऐसी मिलोंमें जब जाँचके लिये सरकारी अफसर आते हैं तो उन्हें धोखा देकर या उनकी कुछ भेंट-पूजा करके मिथ्या छुआ लिया जाता है । साइनबोर्डोंपर 'खानेका तैल' लिखकर भी दण्डसे बचनेकी चेष्टा की जाती है ।

नारियल तिल, सरसों आदिके तैलोंमें कई तरहके विलायती किरासिन तैल मिलाये जाते हैं जो पेटमें जाकर भाँति-भाँतिकी बीमारियाँ पैदा करते हैं ।

आजकल देशमें जो अधिक बीमारी फैल रही है घर-घरमें रोगी दीख पड़ते हैं—इसका एक प्रधान कारण व्यापारियोंका लोभवश खाद्य पदार्थोंमें अखाद्य चीजोंका मिला देना भी है ।

कपड़ेके व्यापारमें भी बड़े-छोटे सभी स्थानोंमें प्राय चोरी होती है । बम्बई कलकत्ते आदि बड़े शहरोंके बड़े दूकानदारोंकी बड़ी चोरियाँ होती हैं । देहातके दूकानदार भी किसी तरह कमी नहीं करते । जहाँ अमुक नफेपर माल बेचनेका नियम है, वहाँ ग्राहकोंको ठगनेके लिये

एक झूठा बीजक मँगा लेते हैं। हाथीके दाँत खानेके और दिखानेके और!

सूतके देहाती व्यापारी भी सूतके बडलोंमेंसे मुट्ठे निकालकर उसे ८ नबरसे १६ नंबरतकका बना लेते हैं। इस बेईमानीके लिये कलकत्तेमे कई कारखाने बने हुए हैं जिनमें खरीदार जुलाहोंको धोखा देनेके लिये गोलमाल की जाती है। दूसरे बंडल बनाकर बेचनेमें जुलाहे ठगे जाते हैं, खर्च बढ़ जाता है और सूत उलझ जाता है।

कई जगह चीनीके ऐसे कारखाने हैं जिनमें विदेशी चीनीमें गुड़ मिलाकर उसका रग बदल दिया जाता है और फिर वह बनारसी या देशीके नामसे बेची जाती है।

आढ़त, दलाली, कमीशनमें भी तरह-तरहकी चोरियाँ की जाती हैं। वास्तवमें आढ़तियेको चाहिये कि महाजनके साथ जो आढ़त ठहरा ले उससे एक पैसा भी छिपाकर अधिक लेना हराम समझे। महाजनको विश्वास दिलाया जाता है कि आढ़त ।।।) या ।।) सैकड़ा ली जायगी. परन्तु छल-कपटसे जितना अधिक चढ़ाया जाय उतना ही चढ़ाते हैं। २) ४) ५) सैकड़ेतक वसूल करके भी सतोष नहीं होता। बोरा, बारदाना, मजदूरी आदिके बहानेसे महाजनसे छिपाकर या मालपर अधिक दाम रखकर दलाली या बट्टा वगैरह उसे न देकर, अथवा गुप्तरूपसे अपना माल बाजारसे खरीदा हुआ बताकर तरह-तरहसे महाजनको ठगना चाहते हैं।

कमीशनके काममें भी बड़ी चोरियाँ होती हैं। बाजार मंदा हो गया तो तेज भावमें बिके हुए मालकी बिक्री मंदेकी दे देते हैं। तेज हो गया तो किसी दूसरेसे मिलकर बिना बिके ही बहुत-सा माल खुद खरीदकर पहलेका बिका बताकर झूठी बिक्री

मेज देते हैं । वैसे भावसे कम-ज्यादा भावमें भी माल बेचते हैं ।

दलालीके काममें अपने थोड़े-से लोभके लिये 'ग्राहकका गला कस दिया जाता है ।' दलालका कर्तव्य है कि वह जिससे जिसको माल दिखावे उन दोनोंका समान हित सोचे । अपने लोभके लिये दोनोंको उल्टी-सीधी पट्टी पढ़ाकर लेनेवालेको तेजी और बेचनेवालेको झूठ ही मंदीकी रुख बनाकर काम करवा देना बड़ा अन्याय है । अपनी जो सच्ची राय हो वही देनी चाहिये । दोनों पक्षोंको अपनी स्पष्ट धारणा और बाजारकी स्थिति सच्ची समझानी चाहिये ।

कहाँतक गिनाया जाय ! व्यापारके नामपर चोरी, डकैती और ठगी सब कुछ होती है । न ईश्वरपर विश्वास है न प्रारब्धपर और न न्याय तथा सत्यपर ही । वास्तवमें व्यापारमें कुशलता भी नहीं है । कुशल व्यापारी सच्चा होता है, वह दूसरोंको धोखा देनेवाला नहीं होता । सच्चाईसे व्यापार कर वह सबका विश्वासपात्र बन जाता है, जितना विश्वास बढ़ता है उतना ही उसका झंझट कम होता है और व्यापारमें दिनोंदिन उन्नति होती है । मोल-मुलाई करनेवाले दूकानदारोंको ग्राहकोंसे बड़ी माथापच्ची करनी पड़ती है । विश्वास जम जानेपर सच्चे एक दाम बतानेवाले दूकानदारको माल बेचनेमें कुछ भी कठिनाई नहीं होती, ग्राहक चाहकर बिना दाम पूछे उसका माल खरीदते हैं उन्हें वहाँ ठगे जानेका भय नहीं रहता । परन्तु आजकल तो दूकान खोलनेके समय प्रतिदिन लोग प्राय भगवान् से प्रार्थना किया करते हैं—'शङ्कर ! भेज कोई हियेका आंधा और गठीका पूरा' यानी भगवान् ऐसा ग्राहक भेजें जिसे हम ठग सकें जो अपनी मूर्खतासे अपने गलेपर हमसे चुपचाप छुरी फिरवा

ले । इससे यह सिद्ध होता है कि कोई ग्राहक अपनी बुद्धिमानी और सावधानीसे तो भले ही बच जाय, परन्तु दूकानदार तो उसपर हाथ साफ करनेको सब तरह सजा-सजाया तैयार है ।

थोड़े-से जीवनके लिये ईश्वरपर अविश्वास करके पाप बटोरना बड़ी मूर्खता है । आमदनी तो उतनी ही होती है जितनी होनी होती है, पाप जरूर पल्ले बँध जाता है । पापका पैसा ठहरता नहीं, इधर आता है उधर चला जाता है, बट्टाखाता जितना रहना होता है उतना ही रहता है । लोग अपने मनमें ही धन आता हुआ देखकर मोहित हो जाते हैं । पापसे धन पैदा होनेकी धारणा बड़ी ही भ्रम-मूलक है । इससे धन तो पैदा होता नहीं परन्तु आत्माका पतन अवश्य होता है । लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं । जो अन्यायसे धन कमाकर उसमेंसे थोड़ा-सा दान देकर धर्मात्मा बनना और कहलाना चाहते हैं वे बडे भ्रममें हैं । भगवान्के यहाँ इतना अन्धेर नहीं है, वहाँ सबकी सच्ची परख होती है ।

अतएव परमात्मापर विश्वास करके व्यापारमें झूठ-कपटको सर्वथा त्याग देना चाहिये । किसी भी चीजमें दूसरी कोई चीज कभी मिलानी नहीं चाहिये । वजनमें ज्यादा करनेके लिये रूई, पाट, गल्ले आदिमें पानी मिलाना या गीली जगहमें रखना नहीं चाहिये । खाद्य पदार्थोंमें मिलावट करके लोगोंके स्वास्थ्य और धर्मको कभी नहीं बिगाडना चाहिये । वजन, नाप और गिनतीमें न तो कम देना चाहिये और न ज्यादा लेना चाहिये । नमूनेके अनुसार ही मालका लेन-देन करना अत्यन्त आवश्यक है ।

आढ़त ठहराकर किसी भी तरहसे महाजनकी एक पाई ज्यादा

लेना बड़ा पाप है। इससे खूब बचना चाहिये। इसी प्रकार कमीशनके काममें भी धोखा देकर काम नहीं करना चाहिये। दलालको भी चाहिये कि वह सच्ची दुख बताकर लेने-बेचनेवालेको भ्रमसे बचाकर अपने हक और मेहनतका ही पैसा ले।

हम जिसके साथ व्यवहार करें उसके साथ हमें वैसा ही बर्ताव करना चाहिये जैसा हम अपने साथ चाहते हैं। हम जैसा अपने हित और स्वार्थका खयाल रखते हैं उतना ही उसके हित और स्वार्थका भी खयाल रखना चाहिये। सबसे उत्तम तो यह है कि जो अपना स्वार्थ छोड़कर पराया हित सोचता है—दूसरेके स्वार्थके लिये अपने स्वार्थको त्याग देता है। व्यापार करनेवाला होनेपर भी ऐसा पुरुष वास्तवमें साधु ही है।

आजकल सट्टेकी प्रवृत्ति देशमें बहुत बढ़ गयी है। सट्टेसे धन, जीवन और धर्मको कितना धक्का पहुँच रहा है, इस बातपर देशके मनस्वियोंको विचारकर शीघ्र ही इसे रोकनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये। पहले यह सट्टा अधिकतर बम्बईमें ही था और अगह कहीं-कहीं बरसातके समय बादलोंके सौदे हुआ करते थे, परन्तु अब तो इसका विस्तार चारों ओर प्राय सभी व्यापार-क्षेत्रोंमें हो गया है। कुछ वर्षों पूर्व व्यापारी लोग सट्टे-फाटकेसे घृणा करते और सट्टेबाजोंके पास बैठने और उनसे बातें करनेमें हिचकते थे। पर अब ऐसे व्यापारी बहुत ही कम मिलते हैं जो सट्टा न करते हों। सट्टा उसे कहते हैं कि जिसमें प्राय मालका लेन-देन न हो सिर्फ समयपर भाटा-नफा दिया-लिया जाय। रुई, पाट, हेसियन, गल्ला, सिल्वन, कुम्पनी-शेयर और चाँदी आदि प्राय सभी व्यापारी वस्तुओंका सट्टा होता है।

सट्टेबाज न कमानेमें सुखी रहता है न खानेमें, उसका चित्त सदा ही अशान्त रहता है। सट्टेवालोंके खर्च अनापशनाप बढ़ जाते हैं। मेहनतकी कमाईसे चित्त उखड़ जाता है। ये लोग पल-पलमें लाखोंके सपने देखा करते हैं। झूठ-कपटको तो सट्टेका साथी ही समझना चाहिये। सट्टेवालोंकी सदियोंकी इज्जत-आबरू घटोंमें बरबाद हो जाती है। सट्टेके कारण बड़े शहरोंमें प्रतिवर्ष एक-न-एक आत्महत्या या आत्महत्याके प्रयत्न सुननेमें आते हैं। आत्महत्याके विचार तो शायद कई बार कितनोंके ही मनमें उठते होंगे। सट्टेबाजोंको आत्माका सुख मिलना तो बहुत दूरकी बात है, वे बेचारे गृहस्थके सुखसे भी वञ्चित रहते हैं। कई लोगोंका चित्त तो सट्टेमें इतना तल्लीन रहता है कि उन्हें भूख, प्यास और नींदतकका पता नहीं रहता। बीमार पड जाते हैं, बेचैनीसे कहीं लुढ़क पड़ते हैं और नींदमें उन्हें प्राय सपने सट्टेके ही आते हैं। धर्म, देश, माता, पिता आदिकी सेवा तो हो ही कहाँसे, अपने स्त्री-बच्चोंकी भी पूरी सार-सम्हाल नहीं होती, घरमें बच्चा बीमारीसे सिसक रहा है, सहधर्मिणी रोगसे व्याकुल है, सट्टेबाज विलायतके तारका पता लगानेके लिये बाडोंमें भटक रहे हैं। एक सज्जनने यह आँखों देखी दशा वर्णन की थी। खेद है कि इस सट्टेको भी लोग व्यापारके नामसे पुकारते हैं जिसमें न घरका पता है, न ससारका और न शरीरका। मेरी समझसे यदि इतनी तल्लीनता थोड़े समयके लिये भी परमात्मामें हो जाय तो उससे परमार्थके मार्गमें अकथनीय उन्नति हो सकती है। इस सट्टेकी प्रवृत्तिसे मजूरीके काम नष्ट हो रहे हैं। कलाका नाश हो रहा है। इस अवस्थामें यथासाध्य इसका प्रचार रोकना चाहिये।

इस सट्टेके सिवा एक जुआ घुड़दौड़का होता है, जिसमें बड़े-

बड़े धनी-मानी लोग जा-जाकर बड़े चावसे दाँव लगाया करते हैं । मनु महाराजने जीवोंके जुएको सबसे बड़ा पापकारी जुआ बतलाया है । अतएव सट्टा, जुआ सब तरहसे त्याग करनेयोग्य है । यदि कोई भाई लोभवश या दाय समझकर भी आत्माकी कमजोरीसे सर्वथा त्याग न कर सकें तो कम-से-कम घुड़दौड़में बाजी लगाना तो बिल्कुल ही बंद कर दें और सट्टेमें बिना हुई चीज मापे कर-कर बेचनेका काम कभी न करें । बिना हुए मापे कर-कर बेचनेवालेका माल शास्त्रमें किसीको लेना नहीं चाहिये, इससे बड़ी भारी हानि होती है । जो सट्टेकी हानि समझकर भी उसका त्याग नहीं करता वह खुद अपनी हिंसाका साधन तो करता ही है पर दूसरोंको भी यथेष्ट नुकसान पहुँचाता है । जो लोग 'लेख्या' (कार्नर) वगैरह करके मालके दाम बेहद चढ़ा देते हैं वे बड़ा पाप करते हैं, अतएव लेख्य करनेवालेमें कभी शामिल नहीं होना चाहिये, उसमें गरीबोंकी आह और उनका बड़ा शाप सहन करना पड़ता है ।

कुछ ऐसे व्यापार होते हैं जिनमें बड़ी हिंसा होती है जैसे लाख, रेशम और चमड़ा आदि ।

लाख कीड़ोंसे उत्पन्न होता है । वृक्षोंसे लाख गोंद-जैसे टुकड़े उतारे जाते हैं, उनमें दो प्रकारके जीव रहते हैं । एक तो बहुत बारीक रहते हैं जो बरसातमें गरमीसे जहाँ लाख पड़ी होती है वहाँ निकल-निकलकर दीवारोंपर चढ़ जाते हैं, दीवाल उन कीड़ोंसे लाल हो जाती है । दूसरे जीव लंबे कीड़े-जैसे होते हैं, ये लाखके बीज समझे जाते हैं इन असंख्य जीवोंकी बुरी तरह हिंसा होती है । प्रथम तो लाखके धोनेमें ही असंख्य प्राणी मर जाते हैं फिर थैलियोंमें मरकर

जलती हुई भट्ठीमें उसे तपाया जाता है जिससे चपड़ा बनता है, जानवरोंके खूनका लखवटिया बनता है। जिस समय उसको तपाते हैं उस समय उसमें चटाचट शब्द होता है। चारों ओर दुर्गन्ध फैली रहती है, पानी खराब हो जाता है जिससे बीमारियाँ फैलती हैं। इस व्यवहारको करनेवाले अधिकांश वैश्य भाई ही हैं।*

इसी प्रकार रेशमके बननेमें भी बडी हिंसा होती है। रेशम-सहित कीड़े उबलते जलमें डाल दिये जाते हैं, वे सब वेचारे उसमें झुलस जाते हैं, पीछे उनपर लिपटा हुआ रेशम निकाल लिया जाता है।

चमडेके लिये भारतवर्षमें कितनी गो-हत्या होती है यह वतलाना नहीं होगा। अतएव लाख, रेशम और चमडेका व्यापार और व्यवहार प्रत्येक धर्मप्रेमी सज्जनको त्याग देना चाहिये।

कुछ लोग केवल व्याजका पेशा करते हैं। यद्यपि व्याजका पेशा निषिद्ध नहीं है परन्तु व्यापारके साथ ही रुपयेका व्याज उपजाना उत्तम है। व्याजके साथ व्यापार करनेवाला कभी अकर्मण्य नहीं होता, आलसी और नितान्त कृपण भी नहीं होता। उसमें व्यापारकुशलता

* वड़े खेदकी बात है कि मारवाड़ी समाजमें इसी लाखकी चूड़ियाँ सोहागका चिह्न समझकर स्त्रियाँ पहनती हैं, ये चूड़ियाँ मुसल्मान लखारे बनाते हैं। मुँहमाँगे दाम लेते हैं। जिस लाखमें इतनी हिंसा होती है, जो इतनी अपवित्र है उसकी चूड़ियोंका तुरत त्याग कर देना चाहिये। इसीलिये इसके वदलेमें काँचकी चूड़ियोंके प्रचारकी कोशिश हो रही है, कलकत्तेमें गोविन्द-भवन-कार्यालय, न० ३०, बाँसतल्ला गलीको पत्र लिखनेसे काँचकी सुन्दर सस्ती मजबूत ठीक लाखकी-सी पात लगी हुई चूड़ियाँ मिल सकती हैं। प्रत्येक धर्मप्रेमीको उनके प्रचारमें सहायता करनी चाहिये। —सम्पादक

जाती है। छलके-धन्धे करना सीखते हैं। कर्मण्यता बढ़ती है। अतएव केवल ब्याजका ही पेशा नहीं करना चाहिये, परन्तु यदि कोई ऐसा न कर सके तो लोभवश गरीबोंको सताना तो अवश्य छोड़ दे। ब्याजके पेशेवाले गरीबोंपर बड़ा अत्याचार किया करते हैं। कम रुपये देकर ज्यादेका दस्तावेज लिखवाते हैं। जरा-जरा-सी बातपर उनको तंग करते हैं। ब्याजपर रुपया लेनेवाले लोगोंकी सारी कमाई ब्याज भरते-भरते पूरी हो जाती है। कमाई ही नहीं, परन्तु स्त्रियोंका जेवर, पशु, धन, जमीन, घर-द्वार सब उस ब्याजमें चले जाते हैं। ब्याजके पेशेवाले निर्दयतासे उनके जमीन-मकानको नीलाम करवाकर गरीब स्त्री-बच्चोंको राहका कंगाल और निराधार बना देते हैं। लोभसे ये सारे पाप होते हैं। इन पापोंकी अधिक वृद्धि प्राय: केवल ब्याजका पेशा करनेवालोंके अत्यधिक लोभसे होती है। अतएव ब्याज कमानेवालोंको कम-से-कम लोभसे अन्याय तो नहीं करना चाहिये।

यथासाध्य विदेशी वस्त्र और अन्यान्य विदेशी वस्तुओंके व्यापारका त्याग करना चाहिये।

सबसे पहली और अन्तिम बात यह है कि झूठ, कपट, छलका त्याग कर, दूसरेको किसी प्रकारका नुकसान न पहुँचाकर न्याय और सत्यताके साथ व्यापार करना चाहिये। यह तो व्यापार-शुद्धिकी बात संक्षेपसे कही गयी है। इतना तो अवश्य ही करना चाहिये। परन्तु यदि वर्णधर्म मानकर निष्कामभावसे व्यापारके द्वारा परमात्माकी पूजा की जाय तो इसीसे परमपदकी प्राप्ति भी हो सकती है।

व्यापारसे मुक्ति

असत्य, कपट और लोभ आदिका त्याग करके यदि भगवत्-प्रीत्यर्थ न्याययुक्त व्यापार किया जाय तो वही मुक्तिका मुख्य साधन बन सकता है। मुक्तिमें प्रधान हेतु भाव है, क्रिया नहीं है। शास्त्रविधिके अनुसार सकाम भावसे यज्ञ, दान, तप आदि उत्तम कर्म करनेवाला मुक्ति नहीं पाता, सकाम बुद्धिके कारण वह या तो उस सिद्धिको प्राप्त होता है जिसके लिये वह उक्त सत्कार्य करता है या निश्चित कालके लिये स्वर्गको प्राप्त करता है परन्तु निष्काम भावसे किया हुआ अल्प कर्म भी मुक्तिका हेतु बन सकता है। इसीलिये सकाम कर्मको तुच्छ और अल्प कहा है, कुछ भी न करनेवालेकी अपेक्षा सकाम यज्ञादि कर्म करनेवाले बहुत ही उत्तम हैं और इन लोगोंको प्रोत्साहन ही मिलना चाहिये परन्तु सकाम भाव रहनेतक वह कर्म स्त्री, धन,

मान-बड़ाई या स्वर्गादिके अतिरिक्त परम पदकी प्राप्ति करानेमें समर्थ नहीं होता । इसीसे गीतामें भगवान्‌ने सकाम कर्मको निष्कामकी अपेक्षा नीचा बताया है (देखो गीता अ० २ । ४२, ४३, ४४; अ० ७ । २०, २१, २२, अ० ९ । २०, २१) । पक्षान्तरमें निष्काम कर्मकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

> नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
> स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
> (गीता २ । ४०)

'इस निष्काम कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और विपरीत फलरूप दोष भी नहीं होता है । इसलिये इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है । अतएव मुक्तिकामियोंको निष्काम कर्मका आचरण करना चाहिये । मुक्तिके लिये आवश्यकता ज्ञानकी है, किसी अन्य बाह्य उपकरणकी नहीं, इसीसे मुक्तिका अधिकार साधनसम्पन्न होनेपर सभीको है । व्यापारी भाइयोंको व्यापार छोड़नेकी आवश्यकता नहीं । वे यदि चाहें तो व्यापारको ही मुक्तिका साधन बना सकते हैं । भगवान्‌ने वर्ण-धर्मका वर्णन करते हुए कहा है—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
> (गीता १८ । ४६)

'जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सर्व जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने

स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

इस मन्त्रके अनुसार वैश्य अपने वर्णोचित कर्म व्यापारके द्वारा ही भगवान्‌को पूजकर परम सिद्धि पा सकते हैं। इस भावनासे व्यापार करनेवाले सरलता और सुगमताके साथ ससारका सब काम सुचारु रूपसे करते हुए भी मनुष्य-जीवनके अन्तिम ध्येयको प्राप्त कर सकते हैं। लोभ या धनकी इच्छासे न कर, कर्तव्यबुद्धिसे व्यापार करना चाहिये। कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए कर्ममे पाप नहीं रह सकते। पाप होनेका कारण लोभ और आसक्ति है। कर्तव्यबुद्धिमें इनको स्थान नहीं है। कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए व्यापारद्वारा अन्त करणकी शुद्धि और ईश्वरकी प्रसन्नता होती है। शुद्ध अन्त करणमें तत्त्वज्ञानकी स्फुरणा होती है और उससे भगवत्कृपा होनेपर परमपदकी सुलभतासे प्राप्ति होती है। परमपद प्राप्ति करनेकी इच्छा न रखकर केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ व्यापार करनेवाला और भी उत्तम तथा प्रशसनीय है।

गीताके उपर्युक्त मन्त्रके अनुसार जब यह विवेक हो जाता है कि सारा ससार ईश्वरसे उत्पन्न है और वह ईश्वर ही समस्त ससारमें स्थित है, तब फिर उसका विस्मरण कभी नहीं हो सकता। परमात्माके इस चेतन और विज्ञानस्वरूपकी नित्य जागृति रहनेके कारण माया या अन्धकारके कार्यरूप काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शत्रु कभी उसके समीप ही नहीं आ सकते। प्रकाशमें अन्धकारको स्थान कहाँ है? व्यापारमें असत्य, छल-कपटादि करनेकी प्रवृत्ति काम, लोभादि दोषोंके कारण ही होती है। जब काम-लोभादिका अभाव हो जाता है तब व्यापार स्वत ही पवित्र बन जाता है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि उस व्यापारसे ईश्वर पूजा कैसे की

जाय ? पूजाके लिये शुद्ध वस्तु चाहिये । पापरहित व्यापार शुद्ध तो हो गया, पर पूजा कैसे हो ? पूजा यही है कि लोभके स्थानमें ईश्वरप्रीतिकी भावना कर ली जाय । पतिव्रता रमणीकी भाँति समस्त कार्य ईश्वर-प्रीत्यर्थ, ईश्वरके आज्ञानुसार हों । ऐसे व्यापार-कार्यमें किसी दोषको स्थान नहीं रह जाता और यदि कहीं भ्रमसे अनजानमें कोई दोष हो भी जाता है तो वह दोष नहीं समझा जाता । कारण, उसमें सकाम भाव नहीं है । यदि कोई मनुष्य स्वार्थ, मान-बड़ाईका सर्वथा त्याग कर लोकसेवाके कार्यमें लग जाता है और कभी दैवयोगसे उससे कोई भूल बन जाती है, तब भी उसे कोई दोष नहीं देते और न उसे दोष लगता है । यह स्वार्थत्यागका—निष्काम भावका महत्त्व है । यदि कोई कहे कि स्वार्थ बिना व्यापारमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी, जब कोई स्वार्थ ही नहीं तब व्यापार कोई क्यों करेगा ? इसके उत्तरमें यह कहा जाता है कि स्वार्थ देखनेकी इच्छा हो तो इसमें बड़ा भारी स्वार्थ भी समाया हुआ है । अन्तःकरणकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होना और उससे परमात्माकी प्राप्ति हो जाना क्या कम स्वार्थ है ? यही तो परम स्वार्थ है । पर इस स्वार्थकी बुद्धि भी जितने अंशमें अधिक त्याग की जाय, उतनी ही जल्दी सिद्धि होती है । स्वार्थबुद्धि हुए बिना लोग प्रवृत्त नहीं हो सकते इसीलिये यहाँपर यह स्वार्थ बतलाया गया है, नहीं तो स्वार्थके लिये किसी कर्ममें प्रवृत्त होना बहुत उत्तम बात नहीं है ।

यदि यह शंका हो कि लोभ-बुद्धि रक्खे बिना तो व्यापारमें नुकसान ही होगा कभी लाभ होना सम्भव नहीं । यदि ऐसा है

तो फिर यह काम केवल धनी लोग ही कर सकते है, सर्वसाधारणके लिये यह उपाय उपयुक्त नहीं है । पर ऐसी बात नहीं है। एक ईमानदार सच्चा गुमाश्ता मालिकके आज्ञानुसार मालिकके लिये बड़ी कुशलतासे आलस्य और प्रमाद छोड़कर दूकानका काम करता है, मालिकसे अपनी उन्नति चाहनेके सिवा दूकानके किसी काममें उसका अन्य कोई स्वार्थ नहीं है । न उसे अन्य स्वार्थ-बुद्धि ही है । इस कार्यमें कहीं उन्नतिमें बाधा नहीं आती । इसी प्रकार भक्त अपने भगवान्‌की प्रीतिरूप स्वार्थका आश्रय लेकर सब कुछ भगवान्‌का समझकर उसके आज्ञानुसार सारा कार्य करे तो उसकी उन्नतिमे कोई बाधा नहीं आ सकती। रही धनकी बात, सो धनवान् नि.स्वार्थबुद्धिसे कार्य कर सकता है, गरीब नहीं कर सकता, यह मानना भ्रममूलक है । दृष्टान्त तो प्राय इसके विपरीत मिला करते हैं । धन तो नि.स्वार्थ भावमें बाधक होता है । जो स्वार्थबुद्धिसे सर्वथा छूटा हुआ हो उसकी बात तो दूसरी है, नहीं तो धनसे अहङ्कार, ममता, लोभ और प्रमाद उत्पन्न हो ही जाते हैं । न्याययुक्त नि स्वार्थ व्यापारके लिये अधिक पूँजीकी भी आवश्यकता नहीं है । वास्तवमें इसमें थोड़ी या ज्यादा पूँजीका प्रश्न नहीं है, सारी बात निर्भर है कर्ताकी बुद्धिपर । एक पूँजीपति नि स्वार्थबुद्धि न होनेसे बडी पूँजीके व्यापारसे गरीबोंकी सेवा नहीं कर सकता, पर तैल, नमक, भूजा बेचनेवाला एक गरीब दूकानदार नि स्वार्थबुद्धि होनेके कारण ससारकी सेवा करनेमें समर्थ होता है । बड़ा व्यापारी पापबुद्धिसे नरकोंमें जा सकता है परन्तु पान-सुपारी बेचनेवाला नि स्वार्थी भक्त, गरीब जनता-

रूप परमात्माकी सेवा कर परमपदको प्राप्त कर सकता है ।

दूकानदारको यह बुद्धि रखनी चाहिये कि उसकी दूकानपर जो ग्राहक आता है वह साक्षात् परमात्माका ही स्वरूप है । जैसे लोभी दूकानदार झूठ-कपट करके, दिखौवा आदर-सत्कार या प्रेम करके हर तरहसे ग्राहकको ठगना चाहता है वैसे ही इस दूकानदारको चाहिये कि वह सभी सरल बातोंसे सच्चे प्रेमके साथ ग्राहकको सब बातें यथार्थ समझाकर उसका जिस बातमें हित होता हो वही करे, लोभीकी दूकानपर जैसे ग्राहक बार-बार नहीं आया करते क्योंकि आये ग्राहकको ठग लेनेमें ही वह अपना कर्तव्य समझता है और ऐसा ही दूकानदार आजकल चतुर और कमाऊ समझा जाता है । इसी प्रकार यह समझकर कि ग्राहकरूपी परमात्मा बार-बार नहीं आते, इनकी जो कुछ भी सेवा मुझसे हो जाय सो थोड़ी है, उसके साथ पूरी तरहसे उसके हितको देखते हुए पूर्ण सत्यताका व्यवहार करना चाहिये ।

संसारका सब धन परमात्माका है, हम सब उसकी प्रजा हैं, परमात्माने योग्यतानुसार सबको खजाना सँभलाकर हमें उसकी रक्षा और यथायोग्य व्यवहारकी आज्ञा दी है ।

अतएव कोई भी काम छोटा-बड़ा नहीं है । जिसके पास अधिक रुपये हैं और ज्यादा काम जिम्मे है वह बड़ा है और कम-वाला छोटा है सो बात नहीं है । छोटे-बड़े सबको एक दिन सब कुछ दूसरेको सौंपकर मालिकके घर जाना पड़ता है । जो मालिक-का काम ईमानदारीसे चलाकर जाता है वह सुखसे जाता है और तरक्की पाता है मालिकका मन चढ़ जानेपर मालिकके बराबरका

हिस्सेदार भी बन सकता है और जो बेईमानीसे मालिककी चीजको अपनी समझकर कर्तव्य भूलकर छल-कपट करके जाता है वह दण्डका और अवनतिका पात्र होता है।

एक पिताके कई पुत्र हैं, सबका दूकानमें समान हिस्सा है, पर सब अलग अलग काम देखते हैं। एक सेठाई करता है, एक दूकानदारी करता है, एक रोकड़का काम देखता है, एक घरका काम देखता है, एक रुपये उगाहनेका काम करता है, सभी उस एक ही फर्मकी उन्नतिमें लगे हैं। पिताने काम बाँट दिये हैं उसी तरह काम कर रहे हैं। इनमें हिस्सेके हिसाबमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है, परन्तु अलग-अलग अपना काम न कर यदि सभी सेठाई या सभी दूकानदारी करना चाहें तो सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है। इसी प्रकार परम पिता परमात्माके सब सन्तान भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, जो उसका सेवक बनकर निःस्वार्थभावसे उसके आज्ञानुसार कार्य करता है वही उसको अधिक प्यारा है।

नाटकमें नाटकका स्वामी यदि स्वयं एक मामूली चपरासीका पार्ट करता है तो वह छोटा थोड़े ही बन जाता है। जिसके जिम्मे जो काम हो उसे वही करना चाहिये। जिसका कार्य सुन्दर और स्वार्थरहित होगा उसीपर प्रभु प्रसन्न होंगे।

अतएव प्राणीमात्रको परमात्माका स्वरूप और पूजनीय समझकर झूठ, कपट, छलको त्याग कर स्वार्थबुद्धिसे रहित हो अपने-अपने कार्यद्वारा सर्वव्यापी परमात्माकी पूजा करनी चाहिये। मनमें सदा यह भावना रखनी चाहिये कि किस तरह मैं इस रूपमें मेरे सामने

प्रत्यक्ष रहनेवाले परमात्माकी सेवा अधिक कर सकूँ। इस भावनासे व्यापार आप ही सुधर सकता है और इससे एक व्यापारी दूकान-पर बैठा हुआ कुछ भी व्यापार करता हुआ सरलताके साथ परमात्मा की सेवा कर उन्हें प्रसन्न कर सकता है। व्यापारी, दलाल, वकील, डाक्टर, जमींदार, किसान सभी कोई अपनी-अपनी आजीविकाके पेशेद्वारा इस बुद्धिसे परमात्माकी सेवा कर सकते हैं।

सारी बात भावपर निर्भर है। मालिककी पूँजी बनी रहे और आनेवाले महाजनोंकी हर तरहसे सेवा होती रहे, इसी भावसे सबको सबके साथ बर्ताव करना चाहिये। अपने-अपने कर्मोंद्वारा ग्राहकोंको सरलताके साथ निःस्वार्थबुद्धिसे सुख पहुँचाना ही सत्कर्मके द्वारा परमात्माकी पूजा करना है और इस प्रकारकी भक्ति-से परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है इसमें कोई सन्देह नहीं। इस भावको जाग्रत् रखनेके लिये भगवान्के नाम-जपकी आवश्यकता है। जैसे बिगुलकी आवाजसे सिपाही सावधान रहते हैं ऐसे ही नाम-जपकी बिगुल बजाते रहकर मन-इन्द्रियोंको सदा सावधान रखना चाहिये और बुद्धिके द्वारा श्रीमद्भगवद्गीताके उपर्युक्त १८। ४६ के मन्त्रका बारंबार मनन और विचारकर तदनुसार अपनेको बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा हो जानेपर अनायास ही व्यापारके द्वारा मुक्ति हो सकती है।

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?

कोई कहते हैं कि 'संसारमें कर्म ही प्रधान है, जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है', दूसरे कहते हैं कि 'ईश्वर ही सबको बंदरकी तरह नचाते हैं।' इन दोनों मतोंमें परस्पर विरोध माल्रम होता है। यदि कर्म ही प्रधान है और मनुष्य कर्म करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है तो ईश्वरका बाजीगरकी भाँति जीवको नचाना सिद्ध नहीं होता और न ईश्वरकी कोई महत्ता ही रह जाती है। पक्षान्तरमें यदि ईश्वर ही सब कुछ करवाता है, मनुष्य कर्म करनेमें सर्वथा परतन्त्र है तो किसीके द्वारा किये हुए बुरे कर्मका फल उसे क्यों मिलना चाहिये ? जिस ईश्वरने कर्म करवाया, फल-भोगका भागी भी उसे ही होना चाहिये, पर ऐसा देखा नहीं जाता—इस तरहके प्रश्न प्राय उठा करते हैं, अतएव इस विषय-पर कुछ विवेचन किया जाता है।

मेरी समझसे जीव वास्तवमें परमेश्वर और प्रकृतिके अधीन है। कम-से-कम फल भोगनेमें तो वह सर्वथा परतन्त्र है। धन, स्त्री, पुत्र, कीर्ति आदिका सयोग-वियोग कर्मफलवश परवशतासे ही होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। नवीन कर्मोंके करनेमें भी वह है तो परतन्त्र ही, परन्तु कुछ अंशमें स्वतन्त्र भी है, या यों कहिये

कि स्वेच्छासे मौका पाकर वह अनधिकार स्वतन्त्र आचरण करने लगता है, इसीसे उसे दण्डका भोग भी करना पड़ता है ।

बंदर बाजीगरके अधीन है, उसके गलेमें रस्सी बँधी है, मालिककी इच्छाके अनुकूल नाचना ही उसका कर्तव्य है, यदि वह मालिककी इच्छाके विपरीत किञ्चित् भी आचरण नहीं करता तो मालिक प्रसन्न होकर उसे अच्छा खाना देता है, अधिक प्यार करता है । कदाचित् वह मालिककी इच्छानुसार नहीं चलता— प्रतिकूल आचरण करता है तो मालिक उसे मारता है—दण्ड देता है । इस दण्ड देनेमें भी उसका हेतु केवल यही है कि वह उसके अनुकूल बन जाय । बाजीगर बंदरको मारता हुआ भी यह नहीं चाहता कि बंदरका बुरा हो। क्योंकि इस अवस्थामें भी वह उसे खानेको देता है, उसका पालन-पोषण करता है ।

इसी प्रकारका बर्ताव सन्तानके प्रति माता-पिताका हुआ करता है, अवश्य ही बाजीगरकी अपेक्षा माता-पिताके बर्तावका दर्जा ऊँचा है । बाजीगरका यह बर्ताव—भूखपर दण्ड देते हुए भी पोषण करना—केवल स्वार्थवश होता है । माता-पिता अपने स्वार्थके अतिरिक्त सन्तानका निजका हित भी सोचते हैं, क्योंकि वह उनका आत्मा है । परन्तु परमात्माका दर्जा तो इन दोनोंसे भी ऊँचा है; क्योंकि वह अहैतुक प्रेमी तथा सर्वथा स्वार्थशून्य है । वह जो कुछ करता है, सब हमारे हितके लिये ही करता है । वास्तवमें हम सर्वथा उसके अधीन हैं, तथापि उसने हमें दयापूर्वक इच्छानुसार सत्कर्म करनेका अधिकार दे रक्खा है । उसके आज्ञा-

नुसार कर्म करना ही हमारा वह अधिकार है। यदि हम उस अधिकारका व्यतिक्रम करते हैं तो वह परम पिता हमें बड़े प्यार-से हमारा दोष दूर करनेके लिये--हमें कुपथसे हटाकर सुपथपर लानेके लिये दण्ड देता है। उसका दण्डविधान कहीं-कहीं भीषण प्रतीत होनेपर भी दया और प्रेमसे लबालब भरा रहता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर मनुष्य-को अपने अधिकारका अतिक्रम करने ही क्यों देता है ? वह तो सर्वसमर्थ है, क्षणभरमें अघटन घटना घटा सकता है, फिर वह मनुष्यको उसके अधिकारोंके बाहर दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त ही क्यों होने देता है ? इसका उत्तर इस दृष्टान्तसे समझनेकी चेष्टा कीजिये।

सरकारने किसी व्यक्तिको आत्मरक्षार्थ बंदूक रखनेकी सनद दी है, बदूक उसके अधिकारमें है, वह जब चाहे तभी उसका यथेच्छ उपयोग कर सकता है। परन्तु कानूनसे उसे मर्यादाके अंदर ही उपयोग करनेका अधिकार है, चोरी करने, डाका डालने, किसीका खून करने या ऐसे ही किसी बेकानूनी अन्याय-कार्यमें वह उस बदूकका उपयोग नहीं कर सकता। करता है तो उसका वह कार्य अन्याय और नियमविरुद्ध समझा जाता है। परिणाममें उसकी सनद छीन ली जाती है और वह उपयुक्त दण्डका पात्र होता है। अथवा यों समझिये कि किसी राज्यमें किसी व्यक्तिको कोई अधिकार राजाकी ओरसे इसलिये दिया गया है कि अपने-अपने अधिकारके अनुसार प्रजाकी सेवा करता हुआ राज्यका वह काम जो उसके जिम्मे है, नियमानुसार सुचारुरूपसे

करे। वह यदि सुचारुरूपसे नियमानुसार काम करता है तो राजा प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार दे सकता है, उसकी पदोन्नति हो सकती है और वह बढ़ते-बढ़ते अन्ततक राज्यका पूरा अधिकारी भी हो सकता है। परन्तु यदि वह अपने अधिकारका दुरुपयोग करे, कानूनके विरुद्ध कार्यवाही करने लगे तो उसका अधिकार छिन जाता है और उसे दण्ड मिलता है। यह सब होते हुए भी बंदूकका या अपने अधिकारका दुरुपयोग करते समय सरकार या राजा उसका हाथ पकड़ने नहीं आते। कार्य कर चुकनेपर ही उपयुक्त दण्ड मिलता है। इसी प्रकार परमात्माने भी हमें सत्कर्म करनेका अधिकार दे रक्खा है परन्तु हम दुष्कर्म करते हैं तो वह हमें रोकता नहीं, कर्म करनेपर उसका यथोचित दण्ड देता है।

यहाँपर फिर यह प्रश्न होता है कि इस जगत्‌की सरकार या यहाँके राजा तो सर्वज्ञ या सर्वव्यापी न होनेसे कानून तोड़कर अधिकारका दुरुपयोग करनेवालोंके हाथ नहीं पकड़ सकते, परन्तु परमात्मा जो सर्वज्ञ, न्यायकारी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् है, उससे तो मन, वाणी, शरीरकी कोई क्रिया छिपी नहीं है। वह दुष्कर्म करनेवाले मनुष्यका हाथ पकड़कर उसे बलात्कारसे क्यों नहीं रोक देता? इसका उत्तर यही है कि परमात्माकी विधि इस तरह रोकनेकी नहीं है उसने मनुष्यको अपने जीवनमें कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दे रक्खी है। पर साथ ही दया करके उसे शुभाशुभ परखनेवाली बुद्धि या विवेक भी दे दिया है जिससे वह भले-बुरेका विचारकर अपना कर्तव्य निश्चय कर सके और यह भी घोषणा कर दी है कि यदि कोई मनुष्य अनधिकार—शास्त्रविपरीत चेष्टा करेगा तो उसे अवश्य दण्ड भोगना

पड़ेगा । इससे यह सिद्ध हो गया कि बाजीगरके बंदरकी भाँति ईश्वर ही सबको नचाता है, सभी उसके अधीन हैं परन्तु जैसे भूल करनेवाले बंदरको दण्ड मिलता है, इसी प्रकार ईश्वरकी आज्ञा न माननेवालेको भी दण्डका भागी होना पडता है । अवश्य ही नाच भगवान् नचाते हैं परन्तु नाचनेमें मालिकके इच्छानुसार या उसके प्रतिकूल नाचना बंदरके अधिकारमें है । सरकार या राजाने अधिकार दिया है परन्तु उन्होंने उसका दुरुपयोग करनेकी आज्ञा नहीं दी है । भगवान्ने भी मनुष्य-जीवन प्रदान कर सत्कर्मोंके द्वारा क्रमशः उन्नत होकर परमपद प्राप्त करनेका अधिकार हमें प्रदान किया है, परन्तु पाप करनेकी आज्ञा उन्होंने नहीं दी है । जब एक न्यायपरायण मामूली राजा भी अपने किसी अफसरको अधिकारका दुरुपयोग कर पाप करनेकी आज्ञा नहीं देता, तब भगवान् तो ऐसी आज्ञा दे ही कैसे सकते हैं ? अतएव यह बात भी ठीक है कि मनुष्य सर्वथा ईश्वरके अधीन है । साथ ही यह भी सत्य है कि वह ईश्वरप्रदत्त अधिकारका सदुपयोग कर परम उन्नति और उसका दुरुपयोग कर अत्यन्त अधोगतिको भी प्राप्त हो सकता है ।

अब यह प्रश्न होता है कि 'भगवान्की आज्ञा न होने और परिणाममें दुःखकी सम्भावना होनेपर भी मनुष्य भगवदिच्छाके विरुद्ध पापाचरण क्यों करता है ? किस कारणसे वह जान बूझकर पापोंमें प्रवृत्त होता है ? इस प्रश्नपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि इस पापकी प्रवृत्तिका कारण अज्ञान है । अज्ञानसे

आवृत होकर ही सब जीव मोहित हो रहे हैं, *'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।'* (गीता ५ । १५)

प्रकृतिके दो स्वरूप हैं—विद्यात्मक और अविद्यात्मक । इन दोनोंमें अविद्यात्मक प्रकृतिका स्वरूप अज्ञान है । इसी अज्ञानसे उत्पन्न अहंकार, आसक्ति आदि दोषोंके वश होकर मनुष्य पापमें प्रवृत्त होता है । संसारमें अविद्या आदि पाँच क्लेश महर्षि पतञ्जलिने भी माने हैं—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।

(यो० द० २ । ३)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश कहलाते हैं । इनमें पिछले चारों क्लेशोंकी उत्पत्ति अविद्यासे ही होती है । संसारके सब प्रकारके क्लेशोंमें ये पाँच ही हेतु हैं । इन्हीं अज्ञानज पञ्चक्लेशोंसे मनुष्य परिणाम भूलकर पाप करता है ।

इन पाँचोंकी संक्षिप्त व्याख्या यह है—'अविद्या' जिससे अनित्यमें नित्य-बुद्धि, अशुचिमें शुचि-बुद्धि, दुःखमें सुख-बुद्धि और अनात्ममें आत्म-बुद्धिरूप विपरीत ज्ञान हो रहा है । 'अस्मिता' अहंकार या 'मैं' भावको कहते हैं, जो समस्त बन्धनोंका हेतु है । 'राग' आसक्तिका नाम है, इसीसे मनुष्य पापमें लगता है । 'द्वेष' मनके विरुद्ध कार्योंमें होनेवाले भावका नाम है । राग-द्वेषरूप बीजसे ही काम-क्रोधरूप महान् अनर्थकारी वृक्ष उत्पन्न होते हैं । मरणभयको 'अभिनिवेश' कहते हैं । अस्तु—

अर्जुनने भी भगवान्‌से पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

(गीता ३ । ३६)

'हे श्रीकृष्ण ! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित हुआ पापका आचरण करता है ।' इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि हे अर्जुन !—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महा-अशन यानी अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला बड़ा पापी है, इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान ।' इस कामरूप वैरीका निवास इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें है । इन मन, बुद्धि, इन्द्रियोंद्वारा ही इसने ज्ञानको आच्छादित कर जीवात्माको मोहित कर रक्खा है । अतएव इनको वशमें करके इस ज्ञान-विज्ञानके नाश करनेवाले पापी कामको मारना चाहिये । क्योंकि बुरे कर्म अज्ञान—अविद्याजनित आसक्तिसे या कामनासे होते हैं जो इनके वशमें न होकर भगवान्‌के दिये हुए अधिकारके अनुसार बर्तता है, वह यहाँ सर्वतोभावसे सुखी रहकर, अन्तमें परम सुखरूप परमात्माको प्राप्त करता है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य कर्म करनेमें परतन्त्र है, परन्तु ईश्वरकी दी हुई स्वतन्त्रतासे कुछ अशमें स्वतन्त्र भी है ।

कर्मका रहस्य

एक सज्जनका प्रश्न है "जब यह बात निश्चित है कि हम अपने ही कर्मोंका फल भोगते हैं, हमारे कर्मोंके अनुसार ही हमारी अच्छी या खराब बुद्धि होती है, तब हम यह किसलिये कहते हैं कि मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, जो कुछ करता है वह ईश्वर ही करता है। ईश्वर तो हमारे कर्मोंके फलको न कम कर सकता है न ज्यादा, तब फिर हम ईश्वरका भजन ही क्यों करें?"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य अपने कर्मोंका ही फल भोगता है और उसकी बुद्धि भी प्रायः कर्मानुसार होती है। यह भी ठीक है कि कर्मोंके अनुसार बने हुए स्वभावके अनुकूल ईश्वरीय प्रेरणासे ही मनुष्य किसी भी क्रियाके करनेमें समर्थ होता है, ईश्वरीय सत्ता, शक्ति, चेतना, स्फूर्ति और प्रेरणाके अभावमें क्रिया असम्भव है। इस न्यायसे सब कुछ ईश्वर ही कराता है। यह भी युक्तियुक्त सिद्धान्त है कि ईश्वर 'कर्तु-मकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ होनेपर भी कर्मोंके फलको न्यूनाधिक नहीं करता। इतना सब होते हुए भी ईश्वरके भजनकी बड़ी आवश्यकता है। इस विषयका विवेचन करनेसे पहले 'कर्म क्या है' 'उसका भोग किस तरह होता है' 'कर्मफलभोगमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र' आदि विषयोंपर कुछ विचार करना आवश्यक है।

शास्त्रकारोंने कर्म तीन प्रकारके बतलाये हैं—(१) सञ्चित,

(२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण । अब इनपर अलग-अलग विचार कीजिये—

सञ्चित

सञ्चित कहते हैं अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके संगृहीत कर्मोंको । मन, वाणी, शरीरसे मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह जबतक क्रियारूपमें रहता है, तबतक वह क्रियमाण है और पूरा होते ही तत्काल सञ्चित बन जाता है । जैसे एक किसान चिरकालसे खेती करता है, खेतीमें जो अनाज उत्पन्न होता है उसे वह एक कोठेमें जमा करता रहता है । इस प्रकार बहुत-से वर्षोंका विविध प्रकारका अनाज उसके कोठेमें भरा है, खेती पकते ही नया अनाज उस कोठेमें फिर आ जाता है । इसमें खेती करना कर्म है और अनाजसे भरा हुआ कोठा उसका सञ्चित है । ऐसे ही कर्म करना क्रियमाण और उसके पूरा होते ही हृदयरूप बृहत् भण्डारमें जमा हो जाना सञ्चित है । मनुष्यकी इस अपार सञ्चित कर्मराशिमेंसे, पुण्य-पापके बड़े ढेरमेंसे कुछ-कुछ अंश लेकर जो शरीर बनता है, उसमें उन भोगोंसे ही नाश होनेवाले कर्मोंके अंशका नाम प्रारब्ध होता है । इसी प्रकार जबतक सञ्चित अवशेष रहता है, तबतक प्रारब्ध बनता रहता है । जबतक इस अनेक जन्मार्जित कर्मसञ्चयका सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती । सञ्चितसे स्फुरणा, स्फुरणासे क्रियमाण, क्रियमाणसे पुनः सञ्चित और सञ्चितके अंशसे प्रारब्ध । इस प्रकार कर्मप्रवाहमें जीव निरन्तर बहता ही रहता है । सञ्चितके अनुसार ही बुद्धिकी वृत्तियाँ होती

हैं यानी सञ्चितहीके कारण उसीके अनुकूल हृदयमें कर्मोंके लिये प्रेरणा होती है। सात्त्विक, राजस या तामस समस्त स्फुरणाओं या कर्मप्रेरणाओंका प्रधान कारण 'सञ्चित' ही है। यह अवश्य ध्यान रखनेकी बात है कि सञ्चित केवल प्रेरणा करता है, तदनुसार कर्म करनेके लिये मनुष्यको बाध्य नहीं कर सकता। कर्म करनेमें वर्तमान समयके कर्म ही, जिन्हें पुरुषार्थ कहते हैं, प्रधान कारण हैं। यदि पुरुषार्थ सञ्चितके अनुकूल होता है तो वह सञ्चित-द्वारा उत्पन्न हुई कर्मप्रेरणामें सहायक होकर वैसा ही कर्म करा देता है, प्रतिकूल होता है तो उस प्रेरणाको रोक देता है। जैसे किसीके मनमें बुरे सञ्चितसे चोरी करनेकी स्फुरणा हुई, दूसरेके धनपर मन चला परन्तु अच्छे सत्सङ्ग, विचार और शुभ वातावरणके प्रभावसे वह स्फुरणा वहीं दबकर नष्ट हो गयी। इसी प्रकार शुभ सञ्चितसे दानकी इच्छा हुई, परन्तु वह भी वर्तमानके कुसङ्गियोंकी बुरी सलाहसे दबकर नष्ट हो गयी। मतलब यह कि कर्म होनेमें वर्तमान पुरुषार्थ ही प्रधान कारण है। इस समयके शुभ सङ्ग और शुभ विचारजनित कर्मोंके नवीन शुभ सञ्चित बनकर पुराने सञ्चितको दबा देते हैं जिससे पुराने सञ्चितके अनुसार स्फुरणा बहुत कम होने लगती है।

किसानके कोठेमें वर्षोंका अनाज भरा है, अबकी बार किसानने नयी खेतीका अनाज उसमें और भर दिया, अब यदि उसे अनाज निकालना होगा तो सबसे पहले वही निकलेगा जो नया होगा, क्योंकि वही सबसे आगे है। इसी प्रकार सञ्चितके विशाल ढेरमेंसे सबसे पहले उसीके अनुसार मनमें स्फुरणा होगी

जो सञ्चित नये-से-नये कर्मका होगा। मनमें मनुष्यके बहुत विचार भरे हैं परन्तु उसे अधिक स्मृति उन्हीं विचारोंकी होती है, जिनमें वह अपना समय वर्तमानमें विशेष लगा रहा है। एक आदमी साधुसेवी है, परन्तु कुसङ्गवश वह नाटक देखने लगा, इससे उसे नाटकोंके दृश्य ही याद आने लगे। जिस तरहकी स्फुरणा मनुष्यके मनमें होती है, यदि पुरुषार्थ उसके प्रतिकूल नहीं होता, तो प्रायः उसीके अनुसार वह कर्म करता है, कर्मका वैसा ही नया सञ्चित होता है, उससे फिर वैसी ही स्फुरणा होती है, पुनः वैसे ही कर्म बनते हैं। नाटक देखनेसे उसीकी स्मृति हुई, फिर देखनेकी स्फुरणा हुई, सङ्ग अनुकूल था, अतः पुनः देखने गया, पुनः उसीकी स्मृति और स्फुरणा हुई, पुनः नाटक देखने गया। यों होते-होते तो वह मनुष्य साधुसेवारूपी सत्कर्मको छोड़ बैठा और धीरे-धीरे उसकी बात भी वह प्रायः भूल गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्सङ्ग, सदुपदेश, सद्विचार आदिसे उत्पन्न वर्तमान कर्मोंसे पूर्वसञ्चितकी स्फुरणाएँ दब जाती हैं, इसीसे यह कहा जाता है कि मनुष्य सञ्चितके सग्रह, परिवर्तन और उसकी क्षय-वृद्धिमें प्रायः स्वतन्त्र है।

अन्तःकरणमें कुछ स्फुरणाएँ प्रारब्धसे भी होती हैं। यद्यपि यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि कौन-सी स्फुरणा सञ्चितकी है और कौन-सी प्रारब्धकी है, परन्तु साधारणतः यों समझना चाहिये कि जो स्फुरणा या वासनाएँ नवीन पाप-पुण्यके करनेमें हेतुरूप होती हैं, उनका कारण सञ्चित है और जो केवल सुख-दुःख भुगतानेवाली होती हैं, वे प्रारब्धसे होती हैं। प्रारब्धसे होनेवाली वासनासे सुख-दुःखोंका भोग मानसिकरूपसे सूक्ष्म शरीरको भी हो सकता है और स्थूल

शरीरके द्वारा क्रिया होकर भी हो सकता है परन्तु इस प्रारब्धसे उत्पन्न वासनाके परिवर्तनकी स्वतन्त्रता मनुष्यको नहीं है ।

प्रारब्ध

यह ऊपर कहा जा चुका है कि पाप-पुण्यरूप सञ्चितके कुछ अंशसे एक जन्मके लिये भोग भुगतानेके उद्देश्यसे प्रारब्ध बनता है। यह भोग दो प्रकारसे भोगा जाता है; मानसिक वासनासे और स्थूल शरीरकी क्रियाओंसे। स्वप्नादिमें या अन्य समय जो तरह तरहकी वृत्ति-तरङ्गें चित्तमें उठती हैं; उनसे जो सुख-दुःख-का भोग होता है, वह मानसिक है। एक व्यापारीने अनाज खरीदा, मनमें आया कि अबकी बार इस अनाजमें इतना नफा हो गया तो जमीन खरीदकर मकान बनवाऊँगा, नफेके कई कारणोंकी कल्पना भी हो गयी, मन आनन्दसे भर गया, दूसरे ही क्षण मनमें आया कि यदि कहीं भाव मंदा हो गया घाटा लगा तो महाजनकी रकम भरनेके लिये घर-द्वार बेचनेकी नौबत आ जायगी, मनमें चिन्ता हुई, चेहरा उतर गया। चित्तमें इस तरहकी सुख-दुःख उत्पन्न करनेवाली विविध तरङ्गें क्षण-क्षणमें उठा करती हैं। ऊपरका सारा साज-सामान ठीक है, दुःखका कोई कारण नजर नहीं आता, परन्तु मानसिक चिन्तासे मनुष्य बहुधा दुखी देखे जाते हैं, लोगोंको उनके चेहरे उतरे हुए देखकर आश्चर्य होता है। इसी प्रकार सब प्रकारके बाह्य अभावोंमें दुःखके अनेक कारण उपस्थित होनेपर भी मानसिक प्रसन्नतासे समय-समयपर मनुष्य सुखी होते हैं। पुत्रकी मृत्युपर रोते हुए मनुष्यके मुखपर भी चित्त-वृत्तिके बदल जानेसे क्षणभरके लिये

हँसीकी रेखा देखी जाती है । यह भी प्रारब्धका मानसिक भोग है ।

प्रारब्ध-भोगका दूसरा प्रकार सुख-दुःखरूप इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंका प्राप्त होना है । सुख-दुःखरूप प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है । जिनको अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छा-प्रारब्ध कहते हैं ।

अनिच्छा—राह चलते हुए मनुष्यपर किसी मकानकी दीवालका टूटकर गिर पड़ना, बिजली पड जाना, वृक्ष टूट पड़ना, घरमें बैठे हुएपर छत टूट पड़ना, हाथसे अकस्मात् बदूक छूटकर गोली लग जाना आदि दुःखरूप और राह चलते हुएको रत्न मिल जाना, खेत जोततेको जमीनसे धन मिलना आदि सुखरूप भोग, जिनके प्राप्त करनेकी न मनमें इच्छा की थी और न किसी दूसरेकी ही ऐसी इच्छा थी—इस प्रकारसे अनायास दैवयोगसे आप-से-आप सुख-दु खादिरूप भोगोंका प्राप्त होना अनिच्छा-प्रारब्ध है ।

परेच्छा—सोये हुए मनुष्यपर चोर-डाकुओंका आक्रमण होना, जान-बूझकर किसीके द्वारा दु'ख दिया जाना आदि दु'खरूप और कुमार्गमें जाते हुएको सत्पुरुषका रोककर बचा देना, कुपथ्य करते हुए रोगीको हाथ पकड़कर वैद्य या मित्रद्वारा रोका जाना, बिना ही इच्छाके दूसरेके द्वारा धन मिल जाना आदि सुखरूप भोग जो दूसरोंकी इच्छासे प्राप्त होते हैं, उसका नाम परेच्छा-प्रारब्ध है । इसमें एक बात बहुत समझनेकी है । एक मनुष्यको किसीने चोट पहुँचायी या किसी मनुष्यने किसीके घरमें चोरी की, इसमें उस मनुष्यको चोट लगना या उसके घरमें चोरी होना तो उनके प्रारब्धका भोग है परन्तु जिसने आघात पहुँचाया और चोरी की, उसने अवश्य

ही नवीन कर्म किया है, जिसका फल उसे आगे भोगना पड़ेगा। क्योंकि किसी भी कर्मके भोगका हेतु पहलेसे निश्चित नहीं होता, यदि हेतु निश्चित हो जाय और यह विधान कर दिया जाय कि अमुक पुरुष अमुकके घरमें चोरी करेगा, अमुकको चोट पहुँचावेगा तो फिर ऐसे लोग निर्दोष ठहरते हैं, क्योंकि वे तो ईश्वरीय विधानके वश होकर चोरी-डकैती आदि करते हैं। यदि यही बात है तो फिर ऐसे लोगोंके लिये शास्त्रोंमें दण्डविधान और इन कर्मोंके फल-भोगकी व्यवस्था क्यों है?

इसलिये यह मानना चाहिये कि फलभोगके सभी हेतु पहले-से निश्चित नहीं रहते। जिस क्रियामें कोई अन्याय या स्वार्थ रहता है, जो आसक्तिसे की जाती है, वह क्रिया अवश्य नवीन कर्म है। हाँ, यदि ईश्वर किसी व्यक्तिविशेषको ही किसीके मारनेमें हेतु बनाना चाहे, तो वह फाँसीका दण्ड पाये हुए व्यक्तिको फाँसीपर चढ़ाने-वाले न्यायकर्ममें नियुक्त जल्लादकी भाँति किसीको हेतु बना सकते हैं। हो सकता है, उस फाँसी चढ़ानेवालेको चढ़नेवाला पूर्वके किसी जन्ममें मार चुका हो या यह भी हो सकता है कि उससे उसका कोई सम्बन्ध ही न हो और वह केवल न्याययुक्त कर्म ही करता हो।

स्वेच्छा-प्रारब्धकर्मसे भार्यागमनादिद्वारा सुख प्राप्त होना, उससे पुत्र होना, न होना या होकर मर जाना, न्याययुक्त व्यापारमें कष्ट स्वीकार करना, उससे लाभ होना, न होना या होकर नष्ट हो जाना आदि स्वेच्छा-प्रारब्ध है। इन कर्मोंके करनेके लिये जो प्रेरणात्मक वासना होती है, उसका कारण प्रारब्ध है। तदनन्तर क्रिया होती है। क्रियाका सिद्ध होना न होना, सुकृत-दुष्कृतका फल है।

स्वेच्छा-प्रारब्धके भोगोंके कारणको समझ लेना बडा ही कठिन विषय है। बडे सूक्ष्म विचार और भाँति-भाँतिके तर्कोंका आश्रय लेनेपर भी निश्चितरूपसे यह कहना नितान्त कठिन है कि अमुक फलभोग हमारे पूर्वजन्मकृत अमुक कर्मोंका फल है जो उनकी प्रेरणासे मिला है, या इसी जन्मका कोई कर्म हाथों-हाथ सञ्चितसे प्रारब्ध बनकर इसमें कारण हुआ है।

एक मनुष्यने पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि या धनलाभके लिये किसी यज्ञका अनुष्ठान किया। तदनन्तर उसे पुत्र या धनकी प्राप्ति हुई। इस पुत्र या धनकी प्राप्तिमें यज्ञ कारण है या पूर्वजन्मकृत कर्म कारण है इसका यथार्थ निर्णय करना कठिन है। सम्भव है कि उसे पुत्र, धन पूर्वजन्मकृत कर्मके फलरूपमे मिला हो और वर्तमानके यज्ञका फल आगे मिले अथवा क्रियावैगुण्यसे उसका फल नष्ट हो गया हो। एक आदमी रोगनिवृत्तिके लिये औषध सेवन करता है। उसकी बीमारी मिट जाती है, इसमें यह समझना कठिन है कि यह उस औषधका फल है या भोग समाप्त होनेपर स्वत ही 'काकतालीय' न्यायवत् ऐसा हो गया है।* तथापि यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि जो कुछ भी हो, हैं सब स्वेच्छाकृत कर्मोंके

---

* बीमारी पूर्वकृत पापके फलस्वरूप भी होती है और इस समयके कुपथ्य-सेवनादिसे भी। कुपथ्यादिसे होनेवाली बीमारी प्राय. औषधसे नष्ट हो जाती है, पर कर्मजन्य रोग भोग समाप्त होनेतक दूर नहीं होता, परन्तु इस बातका निर्णय होना कठिन है कि कौन सी बीमारी कर्मजन्य है और कौन-सी कुपथ्यजन्य, इसलिये औषध-सेवन सभी बीमारियोंमें करना चाहिये।

प्रारब्धका फल । कर्मोंका फल अभी हो या आगे हो, यह कोई नियत बात नहीं है, सर्वथा ईश्वराधीन है, इसमें जीवकी पूर्ण परतन्त्रता है । इस जीवनमें पाप करनेवाले लोग धन-पुत्र-मानादिसे सुखी देखे जाते हैं । (यद्यपि उनमें कितनोंको मानसिक दुःख बहुत भारी हो सकता है । जिसका हमें पता नहीं) और पुण्य करनेवाले मनुष्य सांसारिक पदार्थोंके अभावसे दुःखी देखे जाते हैं, (उनमें भी कितने ही मानसिक सुखी होते हैं) जिससे पाप-पुण्यके फलमें लोगोंको सन्देह होता है, वहाँ यह समझ रखना चाहिये कि उनके वर्तमान बुरे-भले कर्मोंका फल आगे मिलनेवाला है । अभी पूर्वजन्म-कृत कर्मोंका अच्छा-बुरा फल प्राप्त हो रहा है ।

कहा जाता है कि जो कर्म अधिक बलवान् होता है उसका फल तुरंत होता है और जो साधारण है, उसका विलम्बसे होता है परन्तु यह नियम भी सब जगह लागू पड़ता नहीं देखा जाता, अतएव यहाँ यही कहना पड़ता है कि त्रिकालदर्शी जगन्नियन्ता परमात्माके सिवा तर्क-युक्तियोंके आधार मनुष्य लोकका-प्रारब्धका निर्णय नहीं कर सकता । कर्म और फलका संयमन करनेवाले योगी ईश्वरकृपासे अपनी योगशक्तिके द्वारा कुछ जान सकते हैं ।

क्रियमाण

अपनी इच्छासे जो बुरे-भले नवीन कर्म किये जाते हैं, उन्हें क्रियमाण कहते हैं । क्रियमाण कर्मोंमें प्रधान हेतु संचित है, कहीं कहीं अपना या पराया प्रारब्ध भी हेतु बन जाता है । क्रियमाण कर्ममें मनुष्य ईश्वरके नियमोंसे बँधा होनेपर भी क्रिया सम्पन्न करनेमें

प्राय: स्वतन्त्र है। नियमोंका पालन करना, न करना उसके अधिकार-में है। इसीसे उसे फलभोगके लिये भी बाध्य होना पड़ता है।

यदि कोई यह कहे कि हमारे द्वारा जो अच्छे-बुरे कर्म हो रहे हैं, सो सब ईश्वरेच्छा या प्रारब्धसे होते हैं तो उसका ऐसा कहना भ्रमात्मक है, पुण्य-पाप करानेमें ईश्वर या प्रारब्धको हेतु माननेसे प्रधानत: चार दोष आते हैं, जो निर्विकार, निरपेक्ष, समदर्शी, दयालु, न्यायकारी और उदासीन ईश्वरके लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं।

(१) जब ईश्वर या प्रारब्ध ही बुरे-भले कर्म कराते हैं तब विधि-निषेध बतलानेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है? *'सत्यं वद,'* घर्मं चर' [*तै० १ । ११ । १*] *'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'* [*तै० १ । ११ । २*] और *'सुरां न' पिबेत्परदारान्नाभि-गच्छेत्'* आदि विधि-निषेधमय वाक्योंका उल्लङ्घन कर मनमाना यथेच्छाचार करनेवाले पापपरायण व्यक्ति यह अनायास कह सकते हैं कि हम तो प्रारब्धके नियन्ता ईश्वरकी प्रेरणासे ही ऐसा कर रहे हैं। अतएव ईश्वरपर शास्त्र हननका दोष आता है।

(२) जब ईश्वर ही सब प्रकारके कर्म करवाता है, तब उन कर्मोंका फल सुख-दु ख हमें क्यों होना चाहिये? जो ईश्वर कर्म करता है उसे ही फलभोगका दायित्व भी स्वीकार करना चाहिये। ऐसा न करके वह ईश्वर अपना दोष दूसरोंपर डालनेके लिये दोषी ठहरता है।

(३) ईश्वरके न्यायकारी और दयालु होनेमें दोष आता है; क्योंकि कोई भी न्यायकर्ता पापके दण्डविधानमें पुन: पाप करनेकी व्यवस्था नहीं दे सकता। यदि पाप करनेकी व्यवस्था कर दी तो फिर

पापियोंके लिये दण्डकी व्यवस्था करना अन्याय सिद्ध होता है। फिर यदि ईश्वर ही पाप कराता है—पापमें हेतु बनता है और फिर दण्ड देता है तब तो अन्यायी होनेके साथ ही निर्दयी भी बनता है।

(४) ईश्वर ही जब पापीके लिये पुनः पाप करनेका विधान करता है तब जीवके कभी पापोंसे मुक्त होनेका तो कोई उपाय ही नहीं रह जाता। पापका फल पाप, उसका फल पुनः पाप—इस तरह जीव पापमें ही प्रवृत्त रहनेके लिये बाध्य होता है, जिससे एक तो अनवस्थाका दोष और दूसरे ईश्वर जीवोंको पापबन्धनमें रखना चाहता है, यह दोष आता है।

अत यह मानना उचित नहीं कि ईश्वर पाप-पुण्य कराते हैं, पाप-कर्मके लिये तो ईश्वरकी कभी प्रेरणा ही नहीं होती, पुण्यके लिये—सत्कर्मोंके लिये ईश्वरका आदेश है परन्तु उसका पालन करना, न करना या विपरीत करना हमारे अधिकारमें है। सरकारी अफसर कानूनके अनुसार चलता हुआ प्रजारक्षणका अधिकारी है परन्तु अधिकारारूढ होकर उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करना उसके अधिकारमें है, यद्यपि वह कानूनसे बँधा है तथा कानून तोड़नेपर दण्डका पात्र ही होता है, यही हालत कर्म करनेमें मनुष्यके अधिकारकी है।*

ईश्वर सामान्यरूपसे सन्मार्गका नित्य प्रेरक होनेके कारण जीवके कल्याणमें सहायक होता है। पापकर्मोंके होनेमें प्रधान हेतु निरन्तर विषयचिन्तन है, इसीसे रजोगुणसमुद्भूत कामकी उत्पत्ति

* इस विषयका विशेष विवेचन 'मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?' शीर्षक लेखमें किया गया है, वहाँ देखना चाहिये।

होती है, उस कामसे ही क्रोध आदि दोप उत्पन्न होकर जीवकी अधोगतिमें कारण होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ध्यायतो विपयान्पुंसः सङ्गस्तेपूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

'विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विपयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है, कामनामें विघ्न पडनेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है, अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाशसे यह पुरुप अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि पापकर्मोंके होनेमें विषयचिन्तन-जनित राग—आसक्ति प्रधान कारण है, ईश्वर या प्रारब्ध नहीं। चिन्तन या स्फुरण क्रियमाणके—नवीन कर्मके नवीन सञ्चितके अनुसार पहले होता है। अत पापोंसे बचनेके लिये नवीन शुभकर्म करनेकी आवश्यकता है। नवीन शुभकर्मोंसे शुभसञ्चित होकर शुभका चिन्तन होगा जिससे शुभकर्मोंके होने और अशुभके रुकनेमें सहायता मिलेगी। इसीलिये अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने पुरुषार्थद्वारा पापकर्मके कारण रागरूप रजोगुणसे उत्पन्न कामका नाश करनेकी आज्ञा दी है। अर्जुनने भगवान्‌से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥
(गीता ३ । ३६)

'हे कृष्ण ! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ।'

इसके उत्तरमें भगवान् बोले कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

'हे अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यही महा अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे तृप्त न होनेवाला और पापी है, इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान ।'

आगे चलकर भगवान्ने धुएँसे अग्नि, मलसे दर्पण और जेरसे गर्भकी भाँति ज्ञानको ढकनेवाले इस दुष्पूरणीय अग्निसदृश कामके निवासस्थान मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको बतलाकर इन्द्रियोंको वश करके ज्ञान विज्ञाननाशक पापी कामको मारनेकी आज्ञा दी । यदि कामको जय करनेमें जीव समर्थ न होता तो उसके लिये भगवान्‌की ओरसे इस प्रकारकी आज्ञाका दिया जाना नहीं बन सकता । अतएव भगवान्‌के आज्ञानुसार शुभकर्म, शुभसङ्गति करनेसे क्रियमाण शुद्ध हो जाते हैं । यह क्रियमाण ही सञ्चित और प्रारब्धके हेतुभूत हैं । इसलिये मनुष्यको क्रियमाण शुभ करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । क्योंकि इन्हींके करनेमें यह स्वतन्त्र है ।

कर्मोंका भोग बिना नाश होता है या नहीं

अब यह समझनेकी आवश्यकता है कि उपर्युक्त तीनों प्रकारके कर्म फलभोगसे ही नाश होते हैं या उनके नाशका और भी कोई उपाय है? इनमेंसे प्रारब्धकर्मोंका नाश तो भोगसे ही होता है, जैसे आप्तपुरुषके वाक्य व्यर्थ नहीं जाते, इसी प्रकार प्रारब्धकर्मों-का नाश बिना भोगे नहीं हो सकता। भोग पूर्वोक्त अनिच्छा, परेच्छा या स्वेच्छासे हो सकते हैं और प्रायश्चित्तसे भी। सेवा या दण्डभोग दोनों ही छुटकारा मिलनेके उपाय हैं। सञ्चित और क्रियमाण कर्मोंका नाश निष्कामभावसे किये हुए यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि सत्कर्मसे तथा प्राणायाम, श्रवण, मनन, निदिध्यासन (सत्सङ्ग, भजन, ध्यान) आदि परमेश्वरकी उपासनासे हो सकता है। इससे अन्त करणकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे सञ्चितकी राशि तो सूखे घासमें आग लगकर भस्म हो जानेकी भाँति भस्म हो जाती है।* और कोई स्वार्थ न रहनेके कारण किसी भी सासारिक पदार्थकी कामना एव कर्म करनेमें आसक्ति तथा अहंबुद्धि न रह जानेसे सकाम नवीन कर्म बन नहीं सकते।

उत्तम कर्मोंसे छुटकारा मिलना तो बहुत ही सहज है, वे तो भगवत्के अर्पण कर देनेमात्रसे ही छूट जाते हैं। जैसे एक मनुष्यने दूसरेको कुछ रुपये कर्ज दे रक्खे हैं। उसे उससे रुपये लेने हैं, इस लेनेकी भावनासे तो वह हृदयके त्यागसे छूट सकता है। 'रुपये छोड़ दिये' इस त्यागसे ही वह छूट जाता है, परन्तु

---

* यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ (गीता ४। ३७)

जिसे रुपये देने हैं, वह इस तरह कहनेसे नहीं छूटता। इसी प्रकार जिन पापोंका दण्ड हमें भोगना है उनसे छुटकारा 'हम नहीं भोगना चाहते' यह कहनेसे नहीं होता। उनके लिये या तो भोग भोगना पड़ता है या निष्काम कर्म और निष्काम उपासना आदि करने पड़ते हैं।

किये हुए पापोंका और सकाम पुण्य-कर्मोंका परस्पर हवाला नहीं पड़ता, एक दूसरेके बदलेमें कटते नहीं। दोनोंका फल अलग-अलग भोगना पड़ता है। धन दासके मायादासमें रुपये पावने हैं। मायादासने रुपये नहीं दिये। इसलिये एक दिन गुस्सेमें आकर धनदासने मायादासपर दो डंडे जमा दिये। मायादासने अदालतमें फरियाद की। इसपर धनदासने कहा कि 'मेरे एक हजार रुपये मायादाससे लेने हैं, मैंने इसको दो डंडे जरूर मारे हैं, इस अपराधके बदलेके दाम काटकर बाकी रुपये मुझे दिला दिये जायँ।' यह सुनकर मैजिस्ट्रेट हँस पड़ा। उसने कहा, 'तुम्हारा दीवानी मुकदमा अलग होगा। तुम्हारे रुपये न आवें तो तुम इसपर दीवानी कोर्टमें नालिश करके जेल भिजवा सकते हो, परन्तु यहाँ तो डंडे मारनेके लिये तुम्हें दण्ड भोगना पड़ेगा।' बस इसी प्रकार पाप-पुण्यका फल अलग-अलग मिलता है। सकाम पुण्यसे पापका और पापसे सकाम पुण्यका हवाला नहीं पड़ता।

कर्मका फल कौन देता है ?

कुछ लोग मानते हैं कि शुभाशुभ कर्मोंका फल कर्मानुसार आप ही मिल जाता है, इसमें न तो कोई नियामक ईश्वर है और न ईश्वरकी आवश्यकता ही है। परन्तु ऐसा मानना भूल है। इस मान्यतासे बहुत बाधाएँ आती हैं तथा यह युक्तिसङ्गत भी नहीं है। शुभाशुभ कर्मोंका विभाग कर तदनुसार फलकी व्यवस्था करनेवाले

नियामकके अभावमें कर्मका भोग होना ही सम्भव नहीं है। क्योंकि कर्म तो जड होनेके कारण नियामक हो नहीं सकते, वे तो केवल हेतुमात्र हैं। और पापकर्म करनेवाला पुरुष स्वयं पापोंका फल दुःख भोगना चाहता नहीं, यह बात निर्विवाद और लोकप्रसिद्ध है। किसी मनुष्यने चोरी की या डाका डाला। वह चोरी डकैती नामक कर्म तो जडताके कारण उसके लिये कैदकी व्यवस्था कर नहीं सकते और वह कर्ता स्वय चाहता नहीं इसीलिये कोई शासक या राजा उसके दण्डकी व्यवस्था करता है। इसी प्रकार कर्मोंके नियमन, विभाग तथा व्यवस्थाके लिये किसी नियामक या व्यवस्थापक ईश्वरकी आवश्यकता है। इससे कोई यह न समझे कि राजा और ईश्वरकी समानता है। राजा सर्वान्तर्यामी और सर्वथा निरपेक्ष स्वभाववाला तथा स्वार्थहीन निर्भ्रान्त न होनेके कारण प्रमाद, पक्षपात, अनभिज्ञता या स्वार्थवश अनुचित व्यवस्था भी कर सकता है परन्तु परमात्मा समदर्शी, सर्वान्तर्यामी, सुहृद्, निरपेक्ष, दयालु और न्यायकारी होनेके कारण उससे कोई भूल नहीं हो सकती। राजा स्वार्थवश न्याय करता है, ईश्वर दयाके कारण जीवके उपकारके लिये न्याय करता है। यदि यह कहा जाय कि जब ईश्वरको कोई स्वार्थ नहीं है तब वह इस झगड़ेमें क्यों पड़ता है? इसका उत्तर यह है कि ईश्वरके लिये यह कोई झगडा नहीं है। जैसे सुहृद् पुरुष पक्षपातरहित होकर दूसरोंके झगड़े निपटा देता है, पर मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा कुछ नहीं चाहता, इससे उसका महत्त्व संसारमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ईश्वर सारे ससारका उनके हितके लिये नि:स्वार्थरूपसे अपनी सुहृदताके कारण ही न्याय करता है।

ईश्वर नियामक न होनेसे तो कर्मका भोग ही नहीं हो सकता।

इसमें एक युक्ति और विचारणीय है। एक मनुष्यने ऐसे पाप किये जिससे उसे कुत्तेकी योनि मिलनी चाहिये। उसके कर्म तो जड होनेसे उसे उस योनिमें पहुँचा नहीं सकते (क्योंकि विवेकयुक्त पुरुषकी सहायताके बिना रथ, मोटर आदि जड सवारियाँ अपने-आप यात्रीको उसके *गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँचा सकतीं*) और वह स्वयं पाप भोगनेके लिये जाना नहीं चाहता। यदि जाना चाहे तो भी नहीं जा सकता, क्योंकि उसमें ऐसी शक्ति नहीं है। जब हमलोग सावधान अवस्थामें भी सर्वथा अपरिचित स्थानमें नहीं जा सकते, तब बिना विवेकके योनिपरिवर्तन करना तो असम्भव है।

यदि यह कहा जाय कि उस समय अज्ञानका परदा दूर हो जाता है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि मरणकालमें तो दुःख और मोहकी अधिकतासे जीवकी दशा अधिक भ्रान्त-सी होती है। योगी या ज्ञानीकी-सी स्थिति होती नहीं। यदि अज्ञानका परदा हटकर उसका यों ही जीवन्मुक्त होना मान लें, तो यह भी युक्ति-सङ्गत नहीं, क्योंकि योग, प्रायश्चित्त या उपासना आदिके बिना पापोंका नाश होकर एकाएक किसीका जीवन्मुक्त हो जाना अयुक्त है। साधारण संसारी ज्ञानसे योनिप्रवेशादि क्रिया न तो सम्भव है और न प्रत्यक्ष दुःखरूप होनेके कारण साधारण पुरुषको इष्ट है तथा न उसकी सामर्थ्य ही है अतएव यह सिद्ध होता है कि कर्मानुसार फलभोग करानेके लिये सृष्टिके स्वामी नियन्त्रणकर्ता-की आवश्यकता है और वह नियन्त्रणकर्ता ईश्वर अवश्य है।

ईश्वरभजनकी आवश्यकता क्यों है ?

मान लिया जाय कि शुभाशुभ कर्मानुसार फल अवश्य ही ईश्वर

देता है और वह कम-ज्यादा भी नहीं कर सकता, फिर उसके भजनकी क्या आवश्यकता है? इसी प्रश्नपर अब विचार करना है। प्रथम तो यह बात है कि ईश्वरभजन एक सर्वोत्तम उपासनारूप कर्म है, परम साधन है, सबका शिरमौर है। इसके करनेसे इसीके अनुसार बुद्धिमें स्फुरणाएँ होती हैं और इस तरहकी स्फुरणासे बारंबार ईश्वर-भजन-स्मरण होने लगता है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञानका परम दिव्य प्रकाश चमक उठता है। ज्ञानाग्निसे सञ्चित कर्मराशि दग्ध होकर पुनर्जन्मके कारणको नष्ट कर डालती है। इसीलिये भजन करना परम आवश्यक है।

दूसरे यह समझकर भी भजन अवश्य करना चाहिये कि यही हमारे जीवनका परम कर्तव्य है। माता-पिताकी सेवा मनुष्य अपना कर्तव्य समझकर करते हैं। फिर जो माता-पिताका भी परमपिता है, जो परम सुहृद् है, जिसने हमें सब तरहकी सुविधाएँ दी हैं, जो निरन्तर हमपर अकारण ही कृपा रखता है, जिस कल्याणमय ईश्वरसे हम नित्य कल्याण-का आदेश पाते हैं, जो हमारे जीवनकी ज्योति है, अन्धेकी लकडी है, डूबते हुएका सहारा और पथभ्रष्ट नाविकका एकमात्र ध्रुवतारा है, उसका स्मरण करना तो हमारा प्रथम और अन्तिम कर्तव्य ही है।

ईश्वरका स्मरण न करना बड़ी कृतघ्नता है, हम जब माता, पिता, गुरुके उपकारका भी बदला नहीं चुका सकते, तब परम सुहृद् ईश्वरके उपकारोंका बदला तो कैसे चुकाया जा सकता है? ऐसी हालतमें उसे भूल जाना भारी कृतघ्नता—नीचातिनीच कार्य है।

ईश्वर सब कुछ कर सकता है 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ है,

परन्तु वह करता नहीं, अपने नियमोंकी आप रक्षा करता है, और हमें पापोंकी क्षमा और पुण्योंका फल पानेके लिये उसके भजनका उपयोग ही क्यों करना चाहिये ? पाप तो उनके भजनके प्रतापसे अपने आप नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्यके उदयाभासमात्रसे अन्धकार नष्ट हो जाता है।

सबहिं नाम मनमें धरयो, भयो पापको नास।
जैसे चिनगी आगकी, परी पुराने घास॥

परन्तु भगवान्‌का भजन करनेवालेको यह भावना नहीं रखनी चाहिये कि इस भजनसे पाप नाश हो जायगा। भगवान्‌के रहस्यको समझनेवाला भक्त अपराध क्षमा करानेके लिये भी उसके भजनका उपयोग नहीं करता। जिस ईश्वरभजनसे मायारूप संसार स्वयमेव नष्ट हो जाता है, क्या इस रहस्यको जाननेवाला पुरुष कभी तुच्छ सांसारिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भजनका उपयोग कर सकता है ? यदि करता है तो वह बड़ा भूल करता है। राजाको मित्र पाकर उससे दस रुपयेकी नालिशसे छुटकारा पानेकी प्रार्थना करनेके समान अत्यन्त हीन कार्य है। इसलिये भजनको किसी भी सांसारिक कार्यमें नहीं बर्तना चाहिये, परन्तु कर्तव्य समझकर ईश्वरभजन सदा-सर्वदा करते ही रहना चाहिये। क्योंकि भजनके आदि, मध्य और अन्तमें केवल कल्याण-ही-कल्याण भरा है।

मृत्यु-समयके उपचार

हिंदू-जातिमें मनुष्यके मरनेके समय घरवाले उसका परलोक सुधारनेके बहाने कुछ ऐसे काम कर बैठते हैं जिससे मरनेवाले मनुष्यको बडी पीडा होती है। अतएव निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये—

१—यदि रोगी दो-तीन मजिल ऊपर हो तो ऐसी हालतमें उसे नीचे लानेकी आवश्यकता नहीं।

२—खटियापर सोया हुआ हो तो वहीं रहने देना चाहिये।

३—यदि खटियापर मरनेमें कुछ वहम हो और नीचे उतारकर सुलानेकी आवश्यकता समझी जाय तो अनुमानसे मृत्युकालके दो-चार दिन पहलेसे ही उसे खाटसे नीचे उतारकर जमीनपर बालू बिछाकर सुला दे। बालू ऐसी नरम होनी चाहिये जो उसके शरीरमें कहीं गडे नहीं। दो-चार दिन

या दो-चार पहर पहलेका पता वैद्योंसे पूछकर, रोगीके लक्षण देखकर और बड़े-बूढ़े अनुभवी पुरुषोंसे सलाह करके अन्दाज कर ले। रोगी स्वस्थ हो जाय तो वापस खटियापर सुलानेमें कोई आपत्ति है ही नहीं, यदि अंदाजसे पहले उसका प्राणान्त हो गया तो भी कुछ हानि नहीं है, बल्कि मृत्युकालमें नीचे उतारकर सुलानेमें जो कष्ट होता है, उससे वह बच गया। दो चार दिन पहले रोगीको अनुमान हो जाय तो उसे स्वयं ही कह देना चाहिये कि मुझे नीचे सुला दो।

४–उस अवस्थामें मृत्युसे पहले उसे स्नान करानेकी कोई आवश्यकता नहीं, इससे व्यर्थमें उसका कष्ट बढ़ता है। मल वगैरह साफ करना हो तो गीले गमछेसे धीरे-धीरे पोंछकर साफ कर देना चाहिये।

५–इस अवस्थामें गङ्गाजल, तुलसी देना बड़ा उत्तम है, परन्तु उसे निगलनेमें क्लेश होता हो तो तुलसीका पत्ता पीसकर उसे गङ्गाजलमें मिलाकर पिला देना चाहिये। एक बारमें एक तोलेसे अधिक जल नहीं देना चाहिये। दस-पाँच मिनिट बाद फिर दिया जा सकता है। गङ्गाजल बहुत दिनोंका बिलाद न हो, पहले स्वयं चखकर फिर रोगीको देना चाहिये। जिसमें गन्ध आने लगी हो, जो कड़वा हो गया हो वह नहीं देना चाहिये। ताजा गङ्गाजल कहींसे ही मँगा लेना चाहिये। गङ्गाजलमें शुद्धि, अशुद्धि या स्पर्शास्पर्शका कोई विधान नहीं है। रोगी मुँह बंद कर ले तो उसे कुछ भी नहीं देना चाहिये।

६–रोगीके पास बैठकर घरका रोना नहीं रोना चाहिये और संसारकी

बातें उसे याद नहीं दिलानी चाहिये। माता, स्त्री, पति, पुत्र या और किसी स्नेहीको उसके पास बैठकर अपना दु:ख सुनाना या रोना नहीं चाहिये। उसके मनके अनुकूल उसकी हर तरहसे कल्याणमयी सेवा करनी चाहिये।

७—डाक्टरी या जिसमें अपवित्र पदार्थोंका संयोग हो ऐसी दवा नहीं खिलानी चाहिये।

८—जहाँतक चेत रहे वहाँतक श्रीगीताका पाठ और उसका अर्थ सुनाना चाहिये। चेत न रहनेपर भगवान्‌का नाम सुनाना उचित है। गीता पढ़नेवाला न हो तो पहलेसे ही भगवान्‌का नाम सुनावे।

९—यदि रोगी भगवान्‌के साकार या निराकार किसी रूपका प्रेमी हो तो साकारवालेको भगवान्‌की छबि या मूर्ति दिखलानी चाहिये और उसके रूप तथा प्रभावका वर्णन सुनाना चाहिये। निराकारके प्रेमीको निराकार ब्रह्मके शुद्ध, बोधस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्, चित्, घन, नित्य, अज, अविनाशी आदि विशेषणोंके साथ आनन्द शब्द जोड़कर उसे सुनाना चाहिये।

१०—यदि काशी आदि तीर्थोंमें ले जाना हो तो उसे पूछ ले। उसकी इच्छा हो, वहाँतक पहुँचनेमें शङ्का न हो, वैद्योंकी सम्मति मिल जाय, उतने रुपये खर्च करनेकी शक्ति हो तो वहाँ ले जाय।

११—प्राण निकलनेके बाद भी कम-से-कम पंद्रह-बीस मिनिटतक किसीको खबर न दे। भगवन्नामका कीर्तन करते रहें जिससे

दुखी होना मेरे लिये भी बड़े ही दु खकी बात होगी । हे भाई ! मेरे वनवासमें दैव ही प्रधान कारण है, नहीं तो जो कैकयी माता मुझपर इतना अधिक स्नेह रखती थी वह मेरे लिये वनवासका वरदान क्यों माँगती ? उसकी बुद्धि दैवने ही बिगाड़ी है । आजतक कौसल्या और कैकेयी आदि सभी माताओंने मेरे साथ एक-सा बर्ताव किया है । कैकयी मुझे कभी कटु वचन नहीं कह सकती, यदि वह प्रबल दैवके वशमें न होती । अतएव तुम मेरी बात मानकर दु खरहित हो अभिषेककी तैयारीको जल्दी-से-जल्दी हटवा दो ।

श्रीरामके वचन सुनकर कुछ देर तो लक्ष्मणने सिर नीचा करके कुछ सोचा परन्तु पुरुषार्थकी मूर्ति लक्ष्मणको रामकी यह दलील नहीं जँची, उनकी भौंहें चढ़ गयीं, सिरमें बल पड़ गया, वे क्रोधसे भरे साँपकी तरह साँस लेने लग और पृथ्वीपर हाथ पटककर बोले— आप ये भ्रमकी-सी बातें कैसे कह रहे हैं, आप तो महावीर हैं—

विक्लवो वीर्यहीनो य स दैवमनुवर्तते ।
वीरा सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ॥
दैवं पुरुषकारेण य समर्थः प्रबाधितुम् ।
न दैवेन विपन्नार्थ पुरुष सोऽवसीदति ॥
द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च ।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ताव्यक्तिर्भविष्यति ॥
(वा रा २।२३।१७-१९)

'भाई' वे तो वही पुकारा करते हैं जो पौरुषहीन और कायर हैं । जिन शूरवीरोंके पराक्रमकी जगत्‌में प्रसिद्धि है, वे यम

ऐसा नहीं करते । जो पुरुष अपने पुरुषार्थसे दैवको दबा सकते हैं उनके कार्य दैववश असफल होनेपर भी उन्हें दुःख नहीं होता । हे रघुनन्दन ! आज दैव और पुरुषार्थके पराक्रमको लोग देखेंगे, इनमें कौन बलवान् है, इस बातका आज पता लग जायगा ।'

अतएव हे आर्य—

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत्प्राणयशःसुहृज्जनैः ।
यथा तवेयं वसुधा वशा भवे-
त्तथैव मां शाधि तवास्मि किङ्करः ॥

(वा० रा० २ । २३ । ४१)

'मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपके किस शत्रुको आज प्राण, यश और मित्रोंसे अलग करूँ (मार डालूँ) । प्रभो ! मैं आपका किङ्कर हूँ, ऐसी आज्ञा दें जिससे इस सारी पृथ्वीपर आपका अधिकार हो जाय !' इतना कहकर लक्ष्मणजी राम-प्रेममें रोने लगे । भगवान् श्रीरामने अपने हाथोंसे उनके आँसू पोंछकर उन्हें बार-बार सान्त्वना देते हुए कहा कि 'भाई ! तुम निश्चय समझो कि माता-पिताकी आज्ञा मानना ही पुत्रका उत्तमोत्तम धर्म है, इसीलिये मैं पिताकी आज्ञा माननेको तैयार हुआ हूँ । फिर इस राज्यमें रक्खा ही क्या है, यह तो स्वप्नकी दृश्यावलिके सदृश है—

यदिदं दृश्यते सर्वं राज्यं देहादिकं च यत् ।
यदि सत्यं भवेत्तत्र आयासः सफलश्च ते ॥

भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चला ।
आयुरप्यग्निसन्तप्तलोहस्थजलबिन्दुवत् ॥
क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम् ।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज ॥
तस्माच्छान्तिं भजस्वाद्य शत्रुरेवं भवेन्न ते ।
देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यादिभ्यो विलक्षणः ॥
आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः ।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं नात्मनो विदुः ॥
तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुतैः ।
तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय ॥
(अ० रा० २ । ४ । १९, २, १६, १८-४)

'यदि यह सब राज्य और शरीरादि सत्य पदार्थ सत्य होते तो उसमें तुम्हारा परिश्रम कुछ सफल भी हो सकता, परन्तु ये इन्द्रियोंके भोग तो बादलोंके समूहमें बिजलीकी चमकके समान चञ्चल हैं और यह आयु अग्निसे तपे हुए लोहेपर जलकी बूँदके समान क्षणविनाशी है। भाई! यह क्रोध ही मानसिक सन्तापकी जड़ है, क्रोधसे ही संसारका बन्धन होता है, क्रोध धर्मका नाश कर डालता है, अतएव इस क्रोधको त्याग कर शान्तिका सेवन करो, फिर संसारमें तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है। आत्मा तो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि सबसे विलक्षण ही है। यह आत्मा शुद्ध स्वयंप्रकाश, निर्विकार और निराकार है। जबतक यह पुरुष आत्माको देह, इन्द्रिय, प्राण आदिसे अलग नहीं जानता, तबतक उसे संसारके जन्म-मृत्यु-जनित दुःख-

समूहसे पीडित होना पड़ता है, अतएव हे लक्ष्मण ! तुम अपने हृदयमें आत्माको सदा-सर्वदा इनसे पृथक् (इनका द्रष्टा) समझो !'

× × ×

श्रीराम वन जानेको तैयार हो गये, सीताजी भी साथ जाती हैं, अब लक्ष्मणजीका क्रोध तो शान्त है, परन्तु वे श्रीरामके साथ जानेके लिये व्याकुल हैं, दौडकर श्रीरामके चरणोंमें लोट जाते हैं और रोते हुए कहते हैं—'हे रघुनन्दन ! आपने मुझसे कहा था कि तू मेरे विचारका अनुसरण कर, फिर आज आप मुझे छोडकर क्यों जा रहे हैं—

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे ।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥

(वा० रा० २ । ३१ । ५)

'हे भाई ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, मोक्ष या संसारका कोई ऐश्वर्य नहीं चाहता ।' कहाँ तो लक्ष्मणकी वह तेजोमयी विकराल मूर्ति और कहाँ यह माताके सामने बच्चेकी-सी फरियाद ! यही तो लक्ष्मणके भ्रातृ-प्रेमकी विशेषता है । श्रीरामजी भाई लक्ष्मणके इस व्यवहारसे मुग्ध हो गये और उन्हें छातीसे लगाकर बोले—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः ।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे ॥

(वा० रा० २ । ३१ । १०)

'भाई ! तुम मेरे स्नेही हो, धर्मपरायण, धीर, सदा सन्मार्गमें स्थित हो, मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो, मेरे वशवर्ती हो, मेरे आज्ञाकारी हो और मेरे मित्र हो !' इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है,

परन्तु तुम्हें साथ ले चलनेसे यहाँ दुखी पिता और शोकपीड़ित माताओंको कौन सान्त्वना देगा ?

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ ॥
अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई ।
करहु मातु पितु पद सेवकाई ॥
रहहु करहु सब कर परितोषू ।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू ॥

बड़ी ही शुभ शिक्षा है, परन्तु चातक तो मेघकी स्वातिबूँदको छोड़कर गङ्गाकी ओर भी नहीं ताकना चाहता, एकनिष्ठ लक्ष्मण एक बार तो सहम गये, प्रेमवश कुछ बोल न सके, फिर अकुलाकर चरणोंमें गिर पड़े और आँसुओंसे चरण धोते हुए बोले—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं ।
लागि अगम अपनी कदराईं ॥
नरबर धीर धरम धुर धारी ।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला ।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू ।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई ।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥

मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई।
कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

भगवान्‌ने देखा कि अब लक्ष्मण नहीं रहेंगे, तब उन्हें आज्ञा दी, अच्छा—

मागहु बिदा मातु सन जाई।
आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

लक्ष्मण डरते-से माता सुमित्राजीके पास गये कि कहीं माता रोक न दें। परन्तु वह भी लक्ष्मणकी ही माँ थीं, उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥
(वा० रा० २। ४०। ९)

'जाओ बेटा! सुखसे वनको जाओ, श्रीरामको दशरथ, सीताको माता और वनको अयोध्या समझना।'

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू।
लेहु तात जग जीवन लाहू॥

पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी।
राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

लक्ष्मणका मनचाहा हो गया, वे दौड़कर श्रीरामके पास पहुँच गये और सीताके साथ दोनों भाई अयोध्यावासियोंको रुलाकर वनकी ओर चल दिये।

× × ×

एक दिनकी बात है, वनमें चलते-चलते सन्ध्या हो गयी। कभी पैदल चलनेका किसीको अभ्यास नहीं था, तीनों जने थके हुए थे, वनमें चारों ओर काले साँप घूम रहे थे। लक्ष्मणने जगह साफकर एक पेड़के नीचे कोमल पत्ते बिछा दिये। श्रीराम-सीता उसपर बैठ गये। लक्ष्मणजीने भोजनका सामान जुटाया। श्रीराम इस कष्टको देखकर स्नेहवश लक्ष्मणसे बार-बार कहने लगे कि 'भाई! तुम अयोध्या लौट जाओ, वहाँ जाकर माताओंको सान्त्वना दो। यहाँके कष्ट मुझको और सीताको ही भोगने दो।' इसके उत्तरमें लक्ष्मणने बड़े ही मार्मिक शब्द कहे—

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥

न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप ।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना ॥

(वा० रा० २ । ५३ । ३१-३२)

'हे रघुनन्दन ! सीताजी और मैं आपसे अलग रहकर उसी तरह घडीभर भी नहीं जी सकते, जैसे जलसे निकलनेपर मछलियाँ नहीं जी सकतीं । हे शत्रुनाशन ! आपको छोडकर मैं माता, पिता, भाई शत्रुघ्न और स्वर्गको भी नहीं देखना चाहता ।' धन्य भ्रातृ-प्रेम !

जिस समय निषादराज गुहके यहाँ श्रीराम-सीता रातके समय लक्ष्मणजीके द्वारा तैयार की हुई घास-पत्तोंकी शय्यापर सोते हैं, उस समय श्रीलक्ष्मण कुछ दूरपर खडे पहरा दे रहे हैं । गुह आकर कहता है 'आपको जागनेका अभ्यास नहीं है, आप सो जाइये । मैंने पहरेका सारा प्रबन्ध कर दिया है ।' इस बातको सुनकर श्रीलक्ष्मणजी कहने लगे—

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया ।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितानि सुखानि वा ॥

(वा० रा० २ । ८६ । १०)

'दशरथनन्दन श्रीराम सीताके साथ जमीनपर सो रहे हैं । फिर मुझे कैसे तो नींद आ सकती है और कैसे जीवन तथा सुख अच्छा लग सकता है ।'

वनमें श्रीलक्ष्मणजी हर तरहसे श्रीराम-सीताकी सेवा करते हैं । चित्रकूटमें काठ और पत्ते इकट्ठे करके लक्ष्मणने ही कुदारसे मिट्टी खोदकर सुन्दर कुटिया बनायी थी । फल-मूल लाना, हवनकी सामग्री इकट्ठी करनी, सीताके गहने-कपडोंकी बाँसकी पेटी तथा शस्त्रास्त्रोंको

उठाकर चलना, जाड़ेकी रातमें दूरसे खेतोंमेंसे होकर पानी भरकर लाना। रास्ता पहचाननेके लिये पेड़ों-पत्थरोंपर पुरान कपड़े लपेट रखना, झाड़ू देना, चौका देना, बैठनेके लिये वेदी बनाना, जलानेके लिये काठ-ईंधन इकट्ठा करना और रातभर जागकर पहरा देते रहना, ये सारे काम लक्ष्मणजीके जिम्मे हैं और बड़े चावसे वे सब कार्य सुचारुरूपसे करते हैं।

सेवहिं लखनु करम मन बानी।
जाइ न सीलु सनेहु बखानी॥
सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

आज्ञाकारितामें तो लक्ष्मणजी बड़े ही आदर्श हैं। कितनी भी विपरीत आज्ञा क्यों न हो, वे बिना 'किन्तु-परन्तु' किये चुपचाप उसे सिर चढ़ा लेते हैं, आज्ञा-पालनके कुछ दृष्टान्त देखिये—

१—वनवासके समय आपने आज्ञा मानकर अपनेकी सारी इच्छा एकदम छोड़ दी।

२—भरतके चित्रकूट आनेके समय बड़ा गुस्सा आया, परन्तु श्रीरामकी आज्ञा होते ही सत्य समझकर शान्त हो गये।

३—खर-दूषणसे युद्ध करनेके समय श्रीरामने आज्ञा दी कि 'मैं इनके साथ युद्ध करता हूँ, तुम सीताजीको साथ ले जाकर पर्वत-गुफामें जा बैठो।' लक्ष्मण-सरीखे तेजस्वी वीरके लिये लड़ाईके मैदानसे हटनेकी यह आज्ञा बहुत ही कड़ी थी परन्तु उन्होंने चुपचाप इसे स्वीकार कर लिया।

४—श्रीसीताजी अशोकवाटिकासे पालकीमें आ रही थीं। श्रीरामने पैदल लानेकी विभीषणको आज्ञा दी, इससे लक्ष्मणजीको एक बार दुःख हुआ, परन्तु कुछ भी नहीं बोले।

५—श्रीरामके द्वारा तिरस्कार पायी हुई सीताने जब चिता जलानेके लिये लक्ष्मणजीको आज्ञा दी, तब श्रीरामका इशारा पाकर मर्म-वेदनाके साथ इन्होंने चिता तैयार कर दी!

६—सीता-वनवासके समय श्रीरामकी आज्ञासे पत्थरका-सा कलेजा बनाकर अन्तरके दुःखसे दग्ध होते हुए भी सीताजीको वनमें छोड़ आये।

इनके जीवनमें राम-आज्ञा-भङ्गके सिर्फ दो प्रसङ्ग आते हैं, जिनमें प्रथम तो, सीताको अकेले पर्णकुटीमें छोड़कर मायामृगको पकड़नेके लिये गये हुए श्रीरामके पास जाना और दूसरा मुनि दुर्वासाके शापसे राज्यको बचानेके लिये अपने त्यागे जानेका महान् कष्ट स्वीकार करते हुए भी दुर्वासाको श्रीरामके पास जाने देना। परन्तु ये दोनों ही अवसर अपवादस्वरूप हैं।

सीताजीके कटु वचन कहनेपर लक्ष्मणने उन्हें समझाया कि माता! ये शब्द मायावी मारीचके हैं। श्रीरामको त्रिभुवनमें कोई नहीं जीत सकता, आप धैर्य रक्खें। मैं रामकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर आपको अकेली छोड़कर नहीं जा सकता। इतनेपर भी जब उन्होंने तमककर कहा कि 'मैं समझती हूँ, तू भरतका दूत है, तेरे मनमे काम-विकार है, तू मुझे प्राप्त करना चाहता है, मैं आगमें जल मरूँगी, परन्तु तेरे और भरतके हाथ नहीं आ सकती।' इन

वचन-बाणोंसे पवित्र-हृदय जितेन्द्रिय लक्ष्मणका हृदय बिंध गया। उन्होंने कहा हे माता वैदेही! आप मेरे लिये देवस्वरूप हैं, इससे मैं आपको कुछ भी कह नहीं सकता, परन्तु मैं आपके शब्दोंको सहन करनेमें असमर्थ हूँ। हे वनदेवताओ! आप सब साक्षी हैं, मैं अपने बड़े भाई रामकी आज्ञामें रहता हूँ, तिसपर भी माता सीता स्त्री-स्वभावसे मुझपर सन्देह करती हैं। मैं समझता हूँ कि कोई भारी संकट आनेवाला है। माता! आपका कल्याण हो, वनदेवता आपकी रक्षा करें। मैं जाता हूँ।' इस अवस्थामें लक्ष्मणका वहाँसे जाना दोषावह नहीं माना जा सकता।

दूसरे प्रसङ्गमें तो लक्ष्मणने कुटुम्बसहित भाईको और भाईके साम्राज्यको शापसे बचानेके लिये ही आज्ञाका त्याग किया था।

कुछ लोग कहते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी रामसे ही प्रेम करते थे, भरतके प्रति तो उनका विद्वेष बना ही रहा, परन्तु यह बात ठीक नहीं। रामकी अवज्ञा करनेवालेको अवश्य ही वे क्षमा नहीं कर सकते थे, परन्तु जब उन्हें मालूम हो गया कि भरत दोषी नहीं हैं, तब लक्ष्मणके अन्तःकरणमें अपनी कृतिपर बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और वे भरतपर पूर्ववत् श्रद्धा तथा स्नेह करने लगे। एक समय जाड़ेकी ऋतुमें वनके अंदर शीतकी भयानकताको देखकर लक्ष्मणजी नन्दिग्रामनिवासी भरतकी चिन्ता करते हुए कहते हैं—

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥

त्यक्त्वा राज्यञ्च मानञ्च भोगांश्च विविधान् बहून् ।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले ॥
सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः ।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम् ॥
अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः ।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते ॥
पद्मपत्रेक्षणः श्यामः श्रीमान्निरुदरो महान् ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेधो जितेन्द्रियः ॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिन्दमः ।
सन्त्यज्य विविधान्सौख्यानार्यं सर्वात्मनाश्रितः ॥
जितः स्वर्गस्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना ।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते ॥

(वा० रा० ३ । १६ । २७—३३)

'हे पुरुषश्रेष्ठ ! ऐसे अत्यन्त शीतकालमें धर्मात्मा भरत आपके प्रेमके कारण कष्ट सहकर अयोध्यामें तप कर रहे होंगे । अहो ! नियमित आहार करनेवाले तपस्वी भरत राज्य, सम्मान और विविध प्रकारके भोग-विलासोंको त्यागकर इस शीतकालमें ठंडी जमीनपर सोते होंगे । अहो ! भरत भी इसी समय उठकर अपने साथियोंको लेकर सरयूमें नहाने जाते होंगे । अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार शरीरवाले शीतसे पीड़ित हुए भरत इतने तड़के सरयूके अत्यन्त शीतल जलमें कैसे स्नान करते होंगे ? कमलनयन श्यामसुन्दर भाई भरत सदा नीरोग, धर्मज्ञ, सत्यवादी, लज्जाशील, जितेन्द्रिय, प्रिय

और मधुर-भाषी और लंबी भुजाओंवाले शत्रुनाशन महात्मा हैं। अहा! भरतने सब प्रकारके सुखोंका त्यागकर सब प्रकारसे आपका ही आश्रय ले लिया है। हे आर्य! महात्मा भाई भरतने स्वर्गको भी जीत लिया, क्योंकि आप वनमें हैं इसलिये वे भी आपकी ही भाँति तपस्वी-धर्मका पालन कर आपका अनुसरण कर रहे हैं।

इन वचनोंको पढ़नेपर भी क्या यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मणका भरतके प्रति प्रेम नहीं था? इनमें तो उनका प्रेम टपका पड़ता है।

× × × ×

लक्ष्मणजी अपनी बुद्धिका भी कुछ घमण्ड न रखकर श्रीराम-सेवामें किस प्रकार अर्पित-प्राण थे, इस बातका पता तब लगता है कि जब पञ्चवटीमें भगवान् श्रीराम अच्छा-सा स्थान खोजकर पर्णकुटी तैयार करनेके लिये लक्ष्मणको आज्ञा देते हैं। तब सेवा-परायण लक्ष्मण हाथ जोड़कर भगवान्‌से कहते हैं कि हे प्रभो! मैं अपनी स्वतन्त्रतासे कुछ नहीं कर सकता।

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद॥

(वा० रा० ३।१५।७)

'हे काकुत्स्थ! चाहे सैकड़ों वर्ष बीत जायँ पर मैं तो आपके ही अधीन हूँ। आप ही पसंद करके उत्तम स्थान बतावें।'

इसका यह मतलब नहीं है कि लक्ष्मणजी विवेकहीन थे। वे बड़े बुद्धिमान् और विद्वान् थे एवं समय-समयपर रामकी सेवाके लिये बुद्धिका प्रयोग भी करते थे किन्तु जहाँ रामके लिये काममर

ही पूरा सन्तोष होता वहाँ वे कुछ भी नहीं बोलते थे। उनमें तेज और क्रोधके भाव थे, पर वे थे सब रामके लिये ही। लक्ष्मण विलाप करना, विह्वल होना, डिगना और रामविरोधीपर क्षमा करना नहीं जानते थे। इसीसे अन्य दृष्टिसे देखनेवाले लोग उनके चरित्रमें दोषोंकी कल्पना किया करते हैं, परन्तु लक्ष्मण सर्वथा निर्दोष, राम-प्रिय, रामरहस्यके ज्ञाता और आदर्श भ्राता हैं। इनके ज्ञानका नमूना देखना हो तो गुहके साथ इन्होंने एकान्तमें जो बातें की थीं, उन्हें पढ़ देखिये। जब निषादने विषादवश कैकेयीको बुरा-भला कहा और श्रीसीतारामजीके भूमि शयनको देखकर दुःख प्रकट किया तब लक्ष्मणजी नम्रताके साथ मधुर वाणीद्वारा उससे कहने लगे—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू।
संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू।
सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं
मोह मूल परमारथु नाहीं॥
सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

अस विचारि नहिं कीजिअ रोसू।
काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच वियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा।
जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा।
कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥
भगति भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥
सखा समुझि अस परिहरि मोहू।
सिय रघुबीर चरन रत होहू॥

श्रीलक्ष्मणजीकी महिमा कौन गा सकता है! इनके समान परमार्थ और प्रेमका, बुद्धिमत्ता और सरलताका, पराक्रम और

आज्ञाकारिताका, तेज और मैत्रीका विलक्षण समन्वय इन्हींके चरित्रमें है। सारा संसार श्रीरामका गुणगान करता है, श्रीराम भरतका गुण गाते हैं और भरत लक्ष्मणके भाग्यकी सराहना करते हैं। फिर हम किस गिनतीमें हैं, जो लक्ष्मणजीके गुणोंका सक्षेपमें वखान कर सकें!

श्रीशत्रुघ्नका भ्रातृ-प्रेम

रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥

रामदासानुदास श्रीशत्रुघ्नजी भगवान् श्रीराम और भरत-लक्ष्मणके परम प्रिय और आज्ञाकारी वन्धु थे। शत्रुघ्नजी मौनकर्मा, प्रेमी, सदाचारी, मितभाषी, सत्यवादी, विषय-विरागी, सरल, तेजपूर्ण, गुरुजनोंके अनुगामी, वीर और शत्रु-तापन थे। श्रीरामायणमें इनके सम्बन्धमें विशेष विवरण नहीं मिलता, परन्तु जो कुछ मिलता है, उसीसे इनकी महत्ताका अनुमान हो जाता है। जैसे श्रीलक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामके चिर-सगी थे, इसी प्रकार लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीकी सेवामें नियुक्त रहते थे। भरतजीके साथ ही आप उनके ननिहाल गये थे और पिताकी मृत्युपर साथ ही लौटे थे। अयोध्या पहुँचनेपर कैकेयीके द्वारा पितामरण और राम-सीतालक्ष्मणके वनवासका समाचार सुनकर इनको भी बडा भारी दु ख हुआ। भाई लक्ष्मणके शौर्यसे आप परिचित थे, अतएव इन्होंने शोकपूर्ण हृदयसे बड़े आश्चर्यके साथ भरतजीसे कहा—

> गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।
> स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम्॥

बलवान्वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥
(वा० रा० २ । ७८ । २१)

'श्रीराम, जो दु:खके समय सब भूतप्राणियोंके आश्रय हैं, फिर हम लोगोंके आश्रय हैं इसमें तो कहना ही क्या, ऐसे महाबलवान् राम एक स्त्री (कैकेयी) की प्रेरणासे ही वनमें चले गये ! अहो ! श्रीलक्ष्मण तो बलवान् और महापराक्रमी थे, उन्होंने पिताको डाँटकर रामको वन जानेसे क्यों नहीं रोका !' इस समय शत्रुघ्नजी दु:ख और क्रोधसे भरे थे, इतनेमें रामविरहसे दुखी एक द्वारपालने आकर कहा कि हे राजकुमार ! जिसके षड्यन्त्रसे श्रीरामको वन जाना पड़ा और महाराजकी मृत्यु हुई, वह क्रूरा पापिनी कुब्जा वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई खड़ी है, आप उचित समझें तो उसे कुछ शिक्षा दें ।' कुब्जा भरतजीसे इनाम लेने आ रही थी और उसे दरवाजेपर देखते ही द्वारपालने अंदर आकर शत्रुघ्नसे ऐसा कह दिया था । शत्रुघ्नको बड़ा गुस्सा आया, उन्होंने कुब्जा की चोटी पकड़कर उसे घसीटा, उसने जोरसे चीख मारी । यह दशा देखकर कुब्जाकी अन्य सखियाँ तो दौड़कर श्रीकौसल्याजीके पास चली गयीं, उन्होंने कहा कि अब मधुरभाषिणी, दयामयी कौसल्याकी शरण गये बिना शत्रुघ्न हमलोगोंको भी नहीं छोड़ेंगे । कैकेयी छुड़ाने आयी तो उनको भी फटकार दिया । आखिर भरतने आकर शत्रुघ्नसे कहा—भाई ! स्त्री-जाति अवध्य है, नहीं तो मैं ही कैकेयीको मार डालता—

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः ।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥

(वा० रा० २ । ७८ । २३)

'भाई ! यह कुब्जा भी यदि तुम्हारे हाथसे मारी जायगी तो धर्मात्मा श्रीराम इस बातको जानकर निश्चय ही तुमसे और मुझसे बोलना छोड देंगे ।' भरतजीके वचन सुनकर शत्रुघ्नजीने उसको छोड दिया । यहाँ यह पता लगता है कि प्रथम तो रामकी धर्म-नीतिमें स्त्री-जातिका कितना आदर था, स्त्री अवध्य समझी जाती थी । दूसरे, शोकाकुल भरतने इस अवस्थामें भी भाई शत्रुघ्नको भ्रातृ-प्रेमके कारण रामकी राजनीति बतलाकर अधर्मसे रोका और तीसरे, रोषमें भरे हुए शत्रुघ्नने भी तुरत भाईकी बात मान ली । इससे हमलोगोंको यथायोग्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये । जो लोग यह आक्षेप किया करते हैं कि प्राचीन कालमें भारतीय पुरुष स्त्रियोंको बहुत तुच्छ बुद्धिसे देखते थे, उनको इस प्रसंगसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।

× × × ×

इसके अनन्तर शत्रुघ्न भी भरतके साथ श्रीरामको लौटाने वन-में जाते हैं और वहाँ भरतकी आज्ञासे रामकी कुटिया ढूँढ़ते हैं । जब भरत दूरसे श्रीरामको देखकर दौड़ते हैं, तब श्रीरामदर्शनोत्सुक शत्रुघ्न भी पीछे-पीछे दौडे जाते हैं और—

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन् ॥
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत् ।

(वा० रा० २ । ९९ । ४०)

भी रोते हुए श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करते हैं, श्रीराम भी दोनों भाइयोंको छातीसे लगाकर रोने लगते हैं।' इसी प्रकार शत्रुघ्न अपने बड़े भाई लक्ष्मणजीसे भी मिलते हैं—

मेंटेउ लखन ललकि लघु भाई ।

इसके बाद श्रीराम-भरतके संवादमें लक्ष्मण-शत्रुघ्नका बीचमें बोलनेका कोई काम नहीं था। दोनोंके अपने-अपने नेता बड़े भाई मौजूद थे। शत्रुघ्नने तो भरतको अपना जीवन सौंप ही दिया था। इसीसे भरत कह रहे थे कि—

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ ।

शत्रुघ्नकी सम्मति न होती या शत्रुघ्नके भ्रातृ-प्रेमपर भरोसा न होता तो भरत ऐसा क्यों कह सकते ?

पादुका लेकर लौटनेके समय श्रीरामसे दोनों भाइ पुनः गले लगकर मिलते हैं। रामकी प्रदक्षिणा करते हैं। लक्ष्मणकी भाँति शत्रुघ्न भी कुछ तेज थे, कैकेयीके प्रति उनके मनमें रोष था, श्रीराम इस बातको समझते थे, इससे वनसे विदा होते समय श्रीरामने शत्रुघ्नको वात्सल्यताके कारण शिक्षा देते हुए कहा—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन ।

(वा० रा० २।११२।२७-२८)

'हे भाई ! तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है, तुम माता कैकेयी-के प्रति कुछ भी क्रोध न करके उनकी रक्षा करते रहना। इतना

कहनेपर उनकी आँखें प्रेमाश्रुओंसे भर गयीं ! इससे पता लगता है कि श्रीराम-शत्रुघ्नमे परस्पर कितना प्रेम था !

इसके बाद शत्रुघ्नजी भरतजीके साथ अयोध्या लौटकर उनके आज्ञानुसार राज और परिवारकी सेवामें रहते हैं तथा श्रीरामके अयोध्या लौट आनेपर प्रेमपूर्वक उनसे मिलते हैं—

पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन भेंटे हृदयँ लगाइ ।

तदनन्तर उनकी सेवामें लग जाते हैं । श्रीरामका राज्याभिषेक होता है और रामराज्यमें सबका जीवन सुख और धर्ममय बीतता है ।

एक समय ऋषियोंने आकर श्रीरामसे कहा कि 'लवणासुर नामक राक्षस बड़ा उपद्रव कर रहा है, वह प्राणिमात्रको—खास करके तपस्वियोंको पकड़कर खा जाता है । हम सब बड़े ही दुखी हैं ।' श्रीरामने उनसे कहा कि 'आप भय न करें, मैं उस राक्षसको मारनेका प्रबन्ध करता हूँ ।' तदनन्तर श्रीरामने अपने भाइयोंसे पूछा कि 'लवणासुरको मारने कौन जाता है ?' भरतजीने कहा, 'महाराज ! आपकी आज्ञा होगी तो मैं चला जाऊँगा ।' इसपर लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजीने नम्रतासे कहा—'हे रघुनाथजी ! आप जब वनमें थे, तब महात्मा भरतजीने बड़े-बड़े दुःख सहकर राज्यका पालन किया था, ये नगरसे बाहर नन्दिग्राममें रहते थे, कुशपर सोते थे, फल-मूल खाते थे और जटा-वल्कल धारण करते थे । अब मै दास जब सेवामें उपस्थित हूँ, तब इन्हें न भेजकर मुझे ही भेजना चाहिये ।' भगवान् श्रीरामने कहा—'अच्छी बात है, तुम्हारी इच्छा है तो ऐसा ही करो, मैं तुम्हारा मधुदैत्यके सुन्दर नगरका राज्याभिषेक करूँगा,

तुम शूरवीर हो, नगर बसा सकते हो, मधु राक्षसके पुत्र लवणासुर को मारकर धर्मबुद्धिसे यहाँका राज्य करो । मैंने जो कुछ कहा है, इसके बदलेमें कुछ भी न कहना, क्योंकि बड़ोंकी आज्ञा बालकोंको माननी चाहिये । गुरु वशिष्ठ तुम्हारा विधिवत् अभिषेक करेंगे, अतएव मेरी आज्ञासे तुम उसे स्वीकार करो ।' श्रीरामने अपने मुँहसे बड़ोंकी आज्ञाका महत्त्व इसीलिये बतलाया कि वे शत्रुघ्नकी त्याग-वृत्तिको जानते थे । श्रीराम ऐसा न कहते तो वे सहजमें राज्य स्वीकार न करते । इस बातका पता उनके उत्तरसे लगता है । शत्रुघ्नजी बोले—

हे नरेश्वर ! बड़े भाईकी उपस्थितिमें छोटेका राज्याभिषेक होना मैं अधर्म समझता हूँ । इधर आपकी आज्ञाका पालन भी अवश्य करना चाहिये । आपके द्वारा ही मैंने यह धर्म सुना है । श्रीभरतजी-के बीचमें मुझको कुछ भी नहीं बोलना चाहिये था—

> व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तास्मि लवणं मृधे ।
> तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ ॥
> उत्तरं न हि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः ।
> अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम् ॥
>
> (वा० रा० ७ । ६३ । ५-६)

'हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुष्ट लवणासुरको मैं रणमें मारूँगा' मैंने ये दुर्वचन कहे, इस अनधिकार बोलनेके कारण ही मेरी यह दुर्गति हुई । बड़ोंकी आज्ञा होनेपर तो प्रत्युत्तर भी नहीं करना चाहिये । ऐसा करना अधर्मयुक्त और परलोकका नाश करनेवाला है ।' धन्य शत्रुघ्नजी ! आप राज्य प्राप्तिको 'दुर्गति' समझते हैं ! कैसा आदर्श

त्याग है! आप फिर कहते हैं कि 'हे काकुत्स्थ! एक दण्ड तो मुझे मिल गया, अब आपके वचनोंपर कुछ बोलूँ तो कहीं दूसरा दण्ड न मिल जाय, अतएव मै कुछ भी नहीं कहता। आपके इच्छानुसार करनेको तैयार हूँ।'

भगवान्‌की आज्ञासे शत्रुघ्नका राज्याभिषेक हो गया, तदनन्तर उन्होंने लवणासुरपर चढाई की, श्रीरामने चार हजार घोड़े, दो हजार रथ, एक सौ उत्तम हाथी, क्रय-विक्रय करनेवाले व्यापारी, खर्चके लिये एक लाख स्वर्णमुद्राएँ साथ दीं और भाँति-भाँतिके सदुपदेश देकर शत्रुघ्नको विदा किया। इससे पता लगता है कि शत्रुघ्नजी श्रीरामको कितने प्यारे थे।

रास्तेमे ऋषियोंके आश्रमोंमें ठहरते हुए वे जाने लगे। वाल्मीकिजीके आश्रममें भी एक रात ठहरे, उसी रातको सीताजीके लव-कुशका जन्म हुआ था। अत वह रात शत्रुघ्नजीके लिये बड़े आनन्दकी रही। शत्रुघ्नजीने मधुपुर जाकर लवणासुरका वध किया। देवता और ऋषियोंने आशीर्वाद दिये। तदनन्तर बारह सालतक मधुपुरीमें रहकर शत्रुघ्नजी वापस श्रीरामदर्शनार्थ लौटे। रास्तेमें फिर वाल्मीकिजीके आश्रममे ठहरे। अब लव-कुश बारह वर्षके हो गये थे। मुनिने उनको रामायणका गान सिखला दिया था, अतएव मुनिकी आज्ञासे लव-कुशने शत्रुघ्नजीको रामायणका मनोहर और करुणोत्पादक गान सुनाया। राम-महिमाका गान सुनकर शत्रुघ्न मुग्ध हो गये—

श्रुत्वा पुरुषशार्दूलो विसंज्ञो बाष्पलोचन ।
स मुहूर्तमिवासंज्ञो निश्वसंस्च मुहुर्मुहुः ॥
(वा० रा० ७ । ७१ । १७)

'उस गानको सुनकर पुरुषसिंह शत्रुघ्नकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और वे बेहोश हो गये । उस बेहोशीमें दो घड़ीतक उनके जोर-जोरसे साँस चलते रहे ।' धन्य है !

इसके अनन्तर उन्होंने अयोध्या पहुँचकर श्रीरामसहित सब भाइयोंके दर्शन किये । फिर कुछ दिनों बाद मधुपुरी लौट गये ।

× × ×

परम धामके प्रयाणका समय आया, इन्द्रियविजयी शत्रुघ्नको पता लगते ही वह अपने पुत्रोंको राज्य सौंपकर दौड़े हुए श्रीरामके पास आये और चरणोंमें प्रणाम कर गद्गदकण्ठसे कहने लगे—

कृत्वाभिषेकं सुतयोर्द्वयो राघवनन्दन ।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥
न चान्यदत्र वक्तव्यमतो वीर न शासनम् ।
विहन्यमानमिच्छामि मद्विधेन विशेषतः ॥
(वा० रा० ७ । १०८ । १४-१५)

'हे रघुनन्दन ! हे राजन् ! आप ऐसे समझें कि मैं अपने दोनों पुत्रोंको राज्य सौंपकर आपके साथ जानेका निश्चय करके आया हूँ । हे वीर ! आज आप कृपाकर न तो दूसरी बात कहें और न दूसरी आज्ञा ही दें क्योंकि मैं इसलिये कह रहा हूँ कि खास तौरपर मुझ-जैसे पुरुषद्वारा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन होना

नहीं चाहिये । मतलब यह कि आप कहीं साथ छोडकर यहाँ रहनेकी आज्ञा न दे दें, जिससे मुझे आपकी आज्ञा भङ्ग करनी पड़े, जो मैंने आजतक नहीं की । धन्य है भ्रातृ-प्रेम !

भगवान्‌ने प्रार्थना स्वीकार की और सबने मिलकर श्रीरामके साथ रामधामको प्रयाण किया ।

उपसंहार

यह रामायणके चारों पूज्य पुरुषोंके आदर्श भ्रातृ-प्रेमका किञ्चित् दिग्दर्शन है । यह लेख विशेषरूपसे भ्रातृ-प्रेमपर ही लिखा गया है । अन्य वर्णन तो प्रसगवश आ गये हैं, अतएव दूसरे उपदेश-प्रद आदर्श विषयोंकी यथोचित चर्चा नहीं हो सकी है । इस लेखमें अधिकाश भाग वाल्मीकि, अध्यात्म और रामचरितमानसके आधार-पर लिखा गया है ।

वास्तवमें श्रीराम और उनके बन्धुओंके अगाध चरितकी थाह कौन पा सकता है ? मैंने तो अपने विनोदके लिये यह चेष्टा की है, त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करें । श्रीराम और उनके प्रिय बन्धुओं-के विमल और आदर्श चरितसे हमलोगोंको पूरा लाभ उठाना चाहिये । साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् होनेपर भी उन्होंने जीवनमें मनुष्यों-की भाँति लीलाएँ की है, जिनको आदर्श मानकर हम काममें ला सकते हैं ।

कुछ लोग कहा करते हैं कि 'श्रीराम जब साक्षात् भगवान् थे, तब उन्हें अवतार धारण करनेकी क्या आवश्यकता थी, वे अपनी शक्तिसे यों ही सब कुछ कर सकते थे । इसमें कोई

सदेह नहीं कि भगवान् सभी कुछ कर सकते हैं, करते हैं, उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, परंतु उन्होंने अवतार धारणकर ये आदर्श लीलाएँ इसीलिये की हैं कि हमलोग उनका गुणानुवाद गाकर और अनुकरण कर कृतार्थ हों। यदि वे अवतार धारणकर हमलोगोंकी शिक्षाके लिये ये लीलाएँ न करते तो हमलोगोंको आदर्श शिक्षा कहाँसे और कैसे मिलती? अब हमलोगोंका यही कर्तव्य है कि उनकी लीलाओंका श्रवण, मनन और अनुकरण कर उनके सच्चे भक्त बनें। लेख बहुत बड़ा हो गया है, इसलिये यहीं समाप्त किया जाता है।

श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि अखिल विश्वके स्त्री-चरित्रोंमें श्रीरामप्रिया जगज्जननी जानकीजीका चरित्र सबसे उत्कृष्ट है। रामायणके समस्त स्त्री-चरित्रोंमें तो सीताजीका चरित्र सर्वोत्तम, सर्वथा आदर्श और पद-पदपर अनुकरण करनेयोग्य है ही। भारत-ललनाओंके लिये सीताजीका चरित्र सन्मार्गपर चलनेके लिये पूर्ण मार्गदर्शक है। सीताजीके असाधारण पातिव्रत्य, त्याग, शील, अभय, शान्ति, क्षमा, सहनशीलता, धर्मपरायणता, नम्रता, सेवा, संयम, सद्‌व्यवहार, साहस, शौर्य आदि गुण एक साथ जगत्‌की विरली ही महिलामें मिल सकते हैं। श्रीसीताके पवित्र जीवन और अप्रतिम पातिव्रत्यधर्मके सदृश उदाहरण रामायणमें तो क्या जगत्‌के किसी भी इतिहासमें मिलना कठिन है। आरम्भसे लेकर अन्ततक सीताके जीवनकी सभी बातें—

केवल एक प्रसङ्गको छोड़कर—पवित्र और आदर्श है । ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे हमारी माँ-बहिनोंको सत् शिक्षा न मिले । संसारमे अबतक जितनी स्त्रियाँ हो चुकी हैं, श्रीसीताको पातिव्रत्यधर्ममें सर्वशिरोमणि कहा जा सकता है । किसी भी ऊँची-से-ऊँची स्त्रीके चरित्रकी सूक्ष्म आलोचना करनेसे ऐसी एक-न-एक बात मिल ही सकती है, जो अनुकरणके योग्य न हो, परन्तु सीताका ऐसा कोई भी आचरण नहीं मिलता ।

जिस एक प्रसङ्गको सीताके जीवनमे दोषयुक्त समझा जाता है, वह है मायामृगको पकड़नेके लिये श्रीरामके चले जाने और मारीचके मरते समय 'हा सीते ! हा लक्ष्मण !' की पुकार करनेपर सीताजीका घबराकर लक्ष्मणके प्रति यह कहना कि 'मैं समझती हूँ कि तू मुझे पानेके लिये अपने बड़े भाईकी मृत्यु देखना चाहता है । मेरे लोभसे ही तू अपने भाईकी रक्षा करनेको नहीं जाता ।' इस बर्तावके लिये सीताने आगे चलकर बहुत पश्चात्ताप किया । साधारण स्त्री चरित्रमे सीताजीका यह बर्ताव कोई विशेष दोषयुक्त नहीं है । स्वामीको संकटमे पड़े हुए समझकर आतुरता और प्रेमकी बाहुल्यतासे सीताजी यहाँपर नीतिका उल्लङ्घन कर गयी थीं । श्रीराम-सीताका अवतार मर्यादाकी रक्षाके लिये था, इसीसे सीताजीकी यह एक गलती समझी गयी और इसीलिये सीताजीने पश्चात्ताप किया था ।

नैहरमे प्रेम-व्यवहार

जनकपुरमें पिताके घर सीताजीका सबके साथ बड़े प्रेमका बर्ताव था । छोटे-बड़े सभी स्त्री-पुरुष सीताजीको हृदयसे चाहते थे । सीताजी आरम्भसे ही सलज्जा थीं । लज्जा ही स्त्रियोंका भूषण है । वे प्रतिदिन माता-पिताके

चरणोंमें प्रणाम किया करती थीं। घरके नौकर चाकरतक उनके व्यवहारसे परम प्रसन्न थे। सीताजीके प्रेमके बर्तावका कुछ दिग्दर्शन उस समयके वर्णनसे मिलता है जिस समय वे ससुरालके लिये विदा हो रही हैं—

पुनि धीरजु धरि कुऔंरि हँकारीं। बार बार भेटहिं महतारीं॥
पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी॥
पुनि पुनि मिलति सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई॥

प्रेम बिबस नर नारि सब सखिन्ह सहित रनिवासु।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुनाँ बिरहँ निवासु॥

सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरइ न केही॥
भए बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसें कहि जाती॥
बंधु समेत जनकु तब आए। प्रेम उमगि लोचन जल छाए॥
सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥
लीन्हि रायँ उर लाइ जानकी। मिटी महा मरजाद ग्यान की॥

जहाँ ज्ञानियोंके आचार्य जनकके ज्ञानकी मर्यादा मिट जाती है और पिंजरेके पखेरू तथा पशु-पक्षी भी 'सीता! सीता!!' पुकारकर व्याकुल हो उठते हैं, वहाँ कितना प्रेम है, इस बातका अनुमान पाठक कर लें। सीताके इस चरित्रसे स्त्रियोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि स्त्रीको नैहरमें छोटे-बड़े सभीके साथ ऐसा बर्ताव करना उचित है, जो सभीको प्रिय हो।

माता-पिताका आज्ञा-पालन

सीता अपने माता-पिताकी आज्ञा पालन करनेमें कभी नहीं चूकती थी । माता-पितासे उसे जो कुछ शिक्षा मिलती, उसपर वह बड़ा अमल करती थी । मिथिलासे विदा होते समय और चित्रकूटमें सीताजीको माता-पितासे जो कुछ शिक्षा मिली है, वह स्त्रीमात्रके लिये पालनीय है—

होएहु संतत पियहि पिआरी । चिरु अहिबात असीस हमारी ॥
सासु ससुर गुर सेवा करेहू । पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥

पतिसेवाके लिये प्रेमाग्रह

श्रीरामको राज्याभिषेकके बदले यकायक वनवास हो गया । सीताजीने यह समाचार सुनते ही तुरंत अपना कर्तव्य निश्चय कर लिया । नैहर-ससुराल, गहने-कपड़े, राज्य-परिवार, महल-बाग, दास-दासी और भोग-राग आदिसे कुछ मतलब नहीं । छायाकी तरह पतिके साथ रहना ही पत्नीका एकमात्र कर्तव्य है । इस निश्चयपर आकर सीताने श्रीरामके साथ वनगमनके लिये जैसा कुछ व्यवहार किया है, वह परम उज्ज्वल और अनुकरणीय है । श्रीसीताजीने प्रेमपूर्ण विनय और हठसे वनगमनके लिये पूरी कोशिश की । साम, दाम, नीति सभी वैध उपायोंका अवलम्बन किया और अन्तमें वह अपने प्रयत्नमें सफल हुई । उसका ध्येय था किसी भी उपायसे वनमें पतिके साथ रहकर पतिकी सेवा करना । इसीको वह परम धर्म समझती थी । इसीमें उसे परम आनन्दकी प्राप्ति होती थी । वह कहती है—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई । प्रिय परिवार सुहृद समुदाई ॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई । सुत सुंदर सुसील सुखदाई ॥

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥

वनके नाना क्लेशों और कुटुम्बके साथ रहनेके नाना प्रलोभनोंको सुनकर भी सीता अपने निश्चयपर अटल रहती है। वह पति-सेवाके सामने सब कुछ तुच्छ समझती है।

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

यहाँपर यह सिद्ध होता है कि सीताजीने एक बार प्राप्त हुई पति-आज्ञाको बदलकर दूसरी बार अपने मनोऽनुकूल आज्ञा प्राप्त करनेके लिये प्रेमाग्रह किया। यहाँतक कि, जब भगवान् श्रीराम किसी प्रकार भी नहीं माने तो हृदय विदीर्ण हो जानेतकका संकेत कर दिया—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

अध्यात्मरामायणके अनुसार तो श्रीसीताने यहाँतक स्पष्ट कह दिया कि—

रामायणानि बहुशः श्रुतानि बहुभिर्द्विजैः॥
सीतां विना वनं रामो गतः किं कुत्रचिद्वद।
अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी॥
यदि गच्छसि मां त्यक्त्वा प्राणांस्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः।
(२।४।७७—७९)

'मैंने भी ब्राह्मणोंके द्वारा रामायणकी अनेक कथाएँ सुनी हैं। कहीं भी ऐसा कहा गया हो तो बतलाइये कि किसी भी रामायणमें

श्रीराम सीताको अयोध्यामें छोड़कर वन गये हैं। इस वार ही यह नयी बात क्यों होती है ? मैं आपकी सेविका बनकर साथ चलूँगी। यदि किसी तरह भी आप मुझे नहीं ले चलेंगे तो मैं आपके सामने ही प्राण त्याग दूँगी।' पतिसेवाकी कामनासे सीताने इस प्रकार स्पष्ट-रूपसे अवतारविषयक अपनी बड़ाईके शब्द भी कह डाले।

वाल्मीकिरामायणके अनुसार सीताजीके अनेक रोने, गिडगिडाने, विविध प्रार्थना करने और प्राणत्यागपूर्वक परलोकमें पुन. मिलन होनेका निश्चय बतलानेपर भी जब श्रीराम उन्हें साथ ले जानेको राजी नहीं हुए, तब उनको बडा दु.ख हुआ और वे प्रेमकोपमें आँखोंसे गर्म-गर्म आँसुओंकी धारा बहाती हुई नीतिके नाते इस प्रकार कुछ कठोर वचन भी कह गयीं कि—'हे देव! आप-सरीखे आर्य पुरुष मुझ-जैसी अनुरक्त भक्त, दीन और सुख-दु'खको समान समझनेवाली सहधर्मिणीको अकेली छोड़कर जानेका विचार करें यह आपको शोभा नहीं देता। मेरे पिताने आपको पराक्रमी और मेरी रक्षा करनेमें समर्थ समझकर ही अपना दामाद बनाया था।' इस कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीराम लड़कपनसे अत्यन्त श्रेष्ठ पराक्रमी समझे जाते थे। इस प्रसङ्गमे श्रीवाल्मीकिजी और गोस्वामी तुलसीदासजीने सीता-रामके सवादमें जो कुछ कहा है सो प्रत्येक स्त्री-पुरुषके ध्यानपूर्वक पढ़ने और मनन करनेयोग्य है।

सीताजीके प्रेमकी विजय हुई, श्रीरामने उन्हें साथ ले चलना स्वीकार किया। इस कथानकसे यह सिद्ध होता है कि पत्नीको पति-सेवाके लिये—अपने सुखके लिये नहीं—पतिकी आज्ञाको दुहरानेका

अधिकार है। वह प्रेमसे पति-सुखके लिये ऐसा कर सकती है। सीताने तो यहाँतक कह दिया था 'यदि आप आज्ञा नहीं देंगे तो भी मैं तो साथ चलूँगी।' सीताजीके इस प्रेमाग्रहकी आजतक कोई भी निन्दा नहीं करता, क्योंकि सीता केवल पति-प्रेम और पति-सेवाहीके लिये समस्त सुखोंको तिलाञ्जलि देकर वन जानेको तैयार हुई थी, किसी इन्द्रियसुखरूप स्वार्थ-साधनके लिये नहीं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सीताका व्यवहार अनुचित या पतिव्रत-धर्मसे विरुद्ध था। स्त्रीको धर्मके लिये ही ऐसा व्यवहार करनेका अधिकार है। इससे पुरुषोंको भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सहधर्मिणी पतिव्रता पत्नीको बिना इच्छा उसे त्याग कर अन्यत्र चले जाना अनुचित है। इसी प्रकार स्त्रीको भी पति-सेवा और पति-सुखके लिये उसके साथ ही रहना चाहिये। पतिके विरोध करनेपर भी कष्ट और आपत्तिके समय पति-सेवाके लिये स्त्रीको उसके साथ रहना उचित है। अवश्य ही अवस्था देखकर कार्य करना चाहिये। सभी स्थितियोंमें सबके लिये एक-सी व्यवस्था नहीं हो सकती। सीताने भी अपनी साधुताके कारण सभी समय इस अधिकारका उपयोग नहीं किया था।

पति-सेवामें सुख

वनमें जाकर सीता पति-सेवामें सब कुछ भूलकर सब तरह सुखी रहती है। उसे राज-पाट, महल-बगीचे, धन-दौलत और दास-दासियोंकी कुछ भी स्मृति नहीं होती। रामको वनमें छोड़कर लौटा हुआ सुमन्त्र सीताके लिये विलाप करती हुई माता कौसल्यासे कहता है—'सीता निर्जन वनमें घरकी भाँति निर्भय होकर रहती है, वह श्रीराममें मन लगाकर उनका प्रेम प्राप्त

कर रही है। वनवाससे सीताको कुछ भी दुःख नहीं हुआ, मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि (श्रीरामके साथ) सीता वनवासके सर्वथा योग्य है। चन्द्रानना सती सीता जैसे पहले यहाँ बगीचोंमें जाकर खेलती थी, वैसे ही वहाँ निर्जन वनमें भी वह श्रीरामके साथ बालिकाके समान खेलती है। सीताका मन राममें है, उसका जीवन श्रीरामके अधीन है, अतएव श्रीरामके साथ सीताके लिये वन ही अयोध्या है और श्रीरामके बिना अयोध्या ही वन है।' धन्य पातिव्रत्य ! धन्य !

सास-सेवा

सीता पति-सेवाके लिये वन गयी, परन्तु उसको इस बातका बड़ा क्षोभ रहा कि सासुओंकी सेवासे उसे अलग होना पड़ रहा है। सीता सासके पैर छूकर सच्चे मनसे रोती हुई कहती है—

× × × × । सुनिअ माय मैं परम अभागी ॥
सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा।
मोर मनोरथु सफल न कीन्हा ॥
तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू।
करमु कठिन कछु दोसु न मोहू ॥

सास-पतोहूका यह व्यवहार आदर्श है। भारतीय ललनाएँ यदि आज कौसल्या और सीताका-सा व्यवहार करना सीख जायँ तो भारतीय गृहस्थ सब प्रकारसे सुखी हो जायँ। सास अपनी बधुओंको सुखी देखनेके लिये व्याकुल रहें और बहुएँ सासकी सेवाके लिये छटपटावें तो दोनों ओर ही सुखका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

सीताकी सहिष्णुताका एक उदाहरण देखिये । वन-गमनके समय जब कैकेयी सीताको वनवासके योग्य वस्त्र पहननेके लिये कहती है, तब वसिष्ठ-सरीखे महर्षिका मन भी क्षुब्ध हो उठता है; परन्तु सीता इस कथनको केवल चुपचाप सुन ही नहीं लेती, आज्ञानुसार वह वस्त्र धारण भी कर लेती है । इस प्रसंगसे भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सास या उसके समान नातेमें अपनेसे बड़ी कोई भी स्त्री जो कुछ कहे या बर्ताव करे, उसको खुशीसे सहन करना चाहिये और कभी पतिके साथ विदेश जाना पड़े तो सच्चे हृदयसे सासुओंको प्रणाम कर, उन्हें सन्तोष करवाकर, सेवासे वञ्चित होनेके लिये हार्दिक पश्चात्ताप करते हुए जाना चाहिये । इससे वधुओंको सासुओंका आशीर्वाद आप ही प्राप्त होगा ।

सहिष्णुता

सीता अपने समयमें लोकप्रसिद्ध पतिव्रता थी, उसे कोई पातिव्रत्यका क्या उपदेश करता ? परन्तु सीताका अपने पातिव्रत्यका कोई अभिमान नहीं था । अनसूयाजीके द्वारा किया हुआ पातिव्रत्यधर्मका उपदेश सीता बड़े आदरके साथ सुनती है और उनके चरणोंमें प्रणाम करती है । उसके मनमें यह भाव नहीं आता कि मैं सब कुछ जानती हूँ । बल्कि अनसूयाजी ही उससे कहती हैं—

निरभिमानता

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं ।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित ॥

इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि अपनेसे बड़े-बूढ़

जो कुछ उपदेश दें उसे अभिमान छोड़कर आदर और सम्मानके साथ सुनना चाहिये एवं यथासाध्य उसके अनुसार चलना चाहिये।

गुरुजन-सेवा और मर्यादा

बड़ोंकी सेवा और मर्यादामें सीताका मन कितना लगा रहता था, इस बातको समझनेके लिये महाराज जनककी चित्रकूट-यात्राके प्रसगको याद कीजिये। भरतके वन जानेपर राजा जनक भी रामसे मिलनेके लिये चित्रकूट पहुँचते हैं। सीताकी माता श्रीरामकी माताओंसे—सीताकी सासुओंसे मिलती है और सीताको साथ लेकर अपने डेरेपर आती है। सीताको तपस्विनीके वेषमें देखकर सबको विषाद होता है, पर महाराज जनक अपनी पुत्रीके इस आचरणपर बड़े ही सन्तुष्ट होते हैं और कहते हैं—

पुत्रि पबित्र किए कुल दोऊ।
सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ॥

माता-पिता बड़े प्रेमसे हृदयसे लगाकर अनेक प्रकारकी सीख और असीस देते हैं। बात करते-करते रात अधिक हो जाती है। सीता मनमें सोचती है कि सासुओंकी सेवा छोड़कर इस अवस्थामें रातको यहाँ रहना अनुचित है, किन्तु स्वभावसे ही लज्जाशीला सीता सङ्कोचवश मनकी बात माँ-बापसे कह नहीं सकती—

कहति न सीय सकुचि मन माहीं।
इहाँ बसब रजनीं भल नाहीं॥

चतुर माता सीताके मनका भाव जान लेती है और सीताके शील-स्वभावकी मन-ही-मन सराहना करते हुए माता-पिता सीताको

कौसल्याके डेरेमें भेज देते हैं । इस प्रसङ्गसे भी स्त्रियोंको सेवा और मर्यादाकी शिक्षा लेनी चाहिये ।

निर्भयता

सीताका तेज और उसकी निर्भयता देखिये । जिस दुर्दान्त रावणका नाम सुनकर देवता भी काँपते थे, उसीको सीता निर्भयताके साथ कैसे-कैसे वचन कहती थी । रावणके हाथोंमें पड़ी हुई सीता अति क्रोधसे उसका तिरस्कार करती हुई कहती है—'अरे दुष्ट निशाचर ! तेरी आयु पूरी हो गयी है, अरे मूर्ख ! तू श्रीरामचन्द्रकी सहधर्मिणीको हरणकर प्रज्वलित अग्निके साथ कपड़ा बाँधकर चलना चाहता है । तुझमें और रामचन्द्रमें उतना ही अन्तर है जितना सिंह और सियारमें, समुद्र और नालेमें, अमृत और काँजीमें, सोने और लोहेमें, चन्दन और कीचड़में, हाथी और बिलावमें, गरुड और कौवेमें तथा हंस और गीधमें होता है । मेरे अमित प्रभाववाले स्वामीके रहते तू मुझे हरण करेगा तो जैसे मक्खी घीके पीते ही मृत्युके वश हो जाती है, वैसे ही तू भी कालके गालमें चला जायगा ।' इससे यह सीखना चाहिये कि परमात्माके बलपर किसी भी अवस्थामें मनुष्यको डरना उचित नहीं । अन्यायका प्रतिवाद निर्भयताके साथ करना चाहिये । परमात्माके बलका सच्चा भरोसा होगा तो रावणका वध करके सीताको उसके चंगुलसे छुड़ानेकी भाँति भगवान् हमें भी विपत्तिसे छुड़ा देंगे ।

विपत्तिमें पड़कर भी कभी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये । इस विषयमें सीताका उदाहरण सर्वोत्तम है । लङ्काकी

धर्मके लिये प्राण-त्यागकी तैयारी

अशोक-वाटिकामें सीताका धर्म नाश करनेके लिये दुष्ट रावणकी ओरसे कम चेष्टाएँ नहीं हुईं ।

राक्षसियोंने सीताको भय और प्रलोभन दिखलाकर बहुत ही तंग किया, परन्तु सीता तो सीता ही थी। धर्मत्यागका प्रश्न तो वहाँ उठ ही नहीं सकता. सीताने तो छलसे भी अपने बाहरी बर्तावमें भी विपत्तिसे बचनेके हेतु कभी दोष नहीं आने दिया। उसके निर्मल और धर्मसे परिपूर्ण मनमें कभी बुरी स्फुरणा ही नहीं आ सकी। अपने धर्मपर अटल रहती हुई सीता दुष्ट रावणका सदा तीव्र और नीतियुक्त शब्दोंमें तिरस्कार ही करती रही। एक बार रावणके वाग्बाणोंको न सह सकनेके समय और रावणके द्वारा मायासे श्रीराम-लक्ष्मणको मरे हुए दिखला देनेके कारण वह मरनेको तैयार हो गयी; परन्तु धर्मसे डिगनेकी भावना स्वप्नमें भी कभी उसके मनमें नहीं उठी। वह दिन-रात भगवान् श्रीरामके चरणोंके ध्यानमें लगी रहती थी। सीताजीने श्रीरामको हनुमान्‌के द्वारा जो सन्देश कहलाया, उससे पता लग सकता है कि उनकी कैसी पवित्र स्थिति थी—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

इससे स्त्रियोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि पतिके वियोगमें भीषण आपत्तियाँ आनेपर भी पतिके चरणोंका ध्यान रहे। मनमें भगवान्‌के बलपर पूरी वीरता, धीरता और तेज रहे। स्वधर्मके पालनमें प्राणोंकी भी आहुति देनेको सदा तैयार रहे। धर्म जाकर प्राण रहनेमें कोई लाभ नहीं, परन्तु प्राण जाकर धर्म रहनेमें ही कल्याण है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' (गीता ३। ३५)

सीताजीकी सावधानी देखिये। जब हनुमान्‌जी अशोकवाटिकामें

सावधानी

सीताके पास आते हैं तब सीता अपने बुद्धिकौशलसे सब प्रकार उनकी परीक्षा करती है। जबतक उसे यह विश्वास नहीं हो जाता कि हनुमान् वास्तवमें श्रीरामचन्द्रके दूत हैं, शक्तिसम्पन्न हैं और मेरी खोजमें ही यहाँ आये हैं तबतक खुलकर बात नहीं करती है।

जब पूरा विश्वास हो जाता है तब पहले स्वामी और देवरकी

हृदयस्थ-प्रेम

कुशल पूछती है, फिर आँसू बहाती हुई करुणापूर्ण शब्दोंमें कहती है—'हनुमन्! रघुनाथजीका चित्त तो बड़ा ही कोमल है। कृपा करना तो उनका स्वभाव ही है; फिर मुझसे वह इतनी निष्ठुरता क्यों कर रहे हैं! वह तो स्वभावसे ही सेवकको सुख देनेवाले हैं, फिर मुझे उन्होंने क्यों विसार दिया है? क्या श्रीरघुनाथजी कभी मुझे याद भी करते हैं! हे भाई! कभी उस स्यामसुन्दरके कोमल मुखकमलको देखकर मेरी ये आँखें शीतल होंगी! अहो! नाथने मुझको बिलकुल भुला दिया!' इतना कहकर सीता रोने लगी, उसकी वाणी रुक गयी!!

बचनु न आव नयन भरे बारी।
अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

इसके बाद हनुमान्‌जीने जब श्रीरामका प्रेम-सन्देश सुनाते हुए यह कहा कि माता! श्रीरामका प्रेम तुमसे दुगुना है। उन्होंने कहलाया है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा ।
जानत प्रिया एकु मनु मोरा ॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं ।
जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं ॥

यह सुनकर सीता गद्गद हो जाती है । श्रीसीता-रामका परस्पर कैसा आदर्श प्रेम है ! जगत्‌के स्त्री-पुरुष यदि इस प्रेमको आदर्श बनाकर परस्पर ऐसा ही प्रेम करने लगें तो गृहस्थ सुखमय बन जाय ।

सीताजीने जयन्तकी घटना याद दिलाते हुए कहा कि 'हे कपिवर ! तू ही बता, मैं इस अवस्थामें कैसे जी सकती हूँ ?

पर-पुरुषसे परहेज

शत्रुको तपानेवाले श्रीराम-लक्ष्मण समर्थ होनेपर भी मेरी सुधि नहीं लेते, इससे माऌम होता है अभी मेरा दु:खभोग शेष नहीं हुआ है ।' यों कहते-कहते जब सीताके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी तब हनुमान्‌ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि 'माता ! कुछ दिन धीरज रक्खो । शत्रुओंके संहार करनेवाले कृतात्मा श्रीराम और लक्ष्मण थोड़े ही समयमें यहाँ आकर रावणका वध कर तुम्हें अवधपुरीमें ले जायँगे । तुम चिन्ता न करो । यदि तुम्हारी विशेष इच्छा हो और मुझे आज्ञा दो तो मैं भगवान् श्रीरामकी और तुम्हारी दयासे रावणका वध कर और लंकाको नष्टकर तुमको प्रभु श्रीरामचन्द्रके समीप ले जा सकता हूँ । अथवा हे देवि ! तुम मेरी पीठपर बैठ जाओ, मैं आकाश-मार्गसे होकर महासागरको लाँघ जाऊँगा । यहाँके राक्षस मुझे नहीं पकड़ सकेंगे । मैं शीघ्र ही तुम्हें श्रीरामचन्द्रके समीप ले जाऊँगा ।' हनुमान्‌के वचन सुनकर उनके

बल-पराक्रमकी परीक्षा लेनेके बाद सीता कहने लगी—हे वानरश्रेष्ठ ! पति-भक्तिका सम्यक् पालन करनेवाली मैं अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रको छोड़कर स्वेच्छासे किसी भी अन्य पुरुषके अङ्गका स्पर्श करना नहीं चाहती—

> भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर ।
> नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम ॥
> (वा० रा० ५ । ३७ । ६२)

दुष्ट रावणने बलात्कारसे हरण करनेके समय मुझको स्पर्श किया था, उस समय तो मैं पराधीन थी, मेरा कुछ भी वश नहीं चलता था। अब तो श्रीराम स्वयं यहाँ आवें और राक्षसोंसहित रावणका वध करके मुझे अपने साथ ले जायँ, तभी उनकी अत्यन्त कीर्तिकी शोभा है।

भला विचारिये, हनुमान्-सरीखा सेवक, जो सीताजीको सच्चे हृदयसे मातासे बढ़कर समझता है और सीता-रामकी भक्ति करना ही अपने जीवनका परम ध्येय मानता है, सीता पातिव्रत्य-धर्मकी रक्षाके लिये, इतने घोर विपत्तिकालमें अपने स्वामीके पास जानेके लिये भी उसका स्पर्श नहीं करना चाहती ! कैसा अद्भुत चमत्कार आदर्श है ! इससे यह सीखना चाहिये कि भारी आपत्तिके समय भी स्त्रीको यथासाध्य परपुरुषके अङ्गोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये !

भगवान् श्रीराममें सीताका कितना प्रेम था और उनसे मिलनेके लिये उसके हृदयमें कितनी अधिक व्याकुलता थी, इस बातका कुछ पता हरणके समयसे लेकर लङ्का-विजयपर्यन्त सीताके विविध वचनोंसे लगता है,

रिहोंमें व्याकुलता

उस प्रसंगको पढ़ते-पढ़ते ऐसा कौन है, जिसका हृदय करुणासे न भर जाय ? परन्तु सीताजीकी सच्ची व्याकुलताका सबसे बढ़कर प्रमाण तो यह है कि श्रीरघुनाथजी महाराज उसके लिये विरहव्याकुल स्त्रैण मनुष्यकी भाँति विह्वल होकर उन्मत्तवत् रोते और विलाप करते हुए ऋषिकुमारों, सूर्य, पवन, पशु-पक्षी और जड वृक्ष-लताओंसे सीताका पता पूछते फिरते हैं—

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् ।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा शंसस्व मे शोकहतस्य सर्वम् ॥
लोकेषु सर्वेषु न चास्ति किञ्चिद्यत्तेन नित्यं विदितं भवेत्तत् ।
शंसस्व वायो कुलपालिनीं तां मृता हृता वा पथि वर्तते वा ॥

(वा० रा० ३ । ६३ । १६-१७)

'लोकोंके कृत्याकृत्यको जाननेवाले हे सूर्यदेव ! तू सत्य और असत्य कर्मोंका साक्षी है । मेरी प्रियाको कोई हर ले गया है या वह कहीं चली गयी है, इस बातको तू भलीभाँति जानता है । अतएव मुझ शोकपीड़ितको सारा हाल बतला । हे वायुदेव ! तीनों लोकोंमें तुझसे कुछ भी छिपा नहीं है, तेरी सर्वत्र गति है । हमारे कुलकी मर्यादाकी रक्षा करनेवाली सीता मर गयी, हरी गयी या कहीं मार्गमें भटक रही है, जो कुछ हो सो यथार्थ कह ।'

हा गुन खानि जानकी सीता ।
रूप सील ब्रत नेम पुनीता ॥
लछिमन समुझाए बहु भाँती ।
पूछत चले लता तरु पाँती ॥

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥
× × × ×
एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी।
मनहुँ महा बिरही अति कामी॥

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान् श्रीराम 'महा विरही और अतिकामी' थे। सीताजीका श्रीरामके प्रति इतना प्रेम था और वह उनके लिये इतनी व्याकुल थी कि श्रीरामको भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ा। भगवान्का यह प्रण है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४। ११)

श्रीरामने 'महाविरही और अतिकामी' के सदृश लीला कर इस सिद्धान्तको चरितार्थ कर दिया। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि हम भगवान्को पानेके लिये व्याकुल होंगे तो भगवान् भी हमारे लिये वैसे ही व्याकुल होंगे। अतएव हम सबको परमात्माके लिये इसी प्रकार व्याकुल होना चाहिये।

अग्नि-परीक्षा रावणका वध हो गया, प्रभु श्रीरामकी आज्ञासे सीताको स्नान करवाकर और वस्त्राभूषण पहनाकर विभीषण श्रीराम के पास लाते हैं। बहुत दिनोंके बाद प्रियपति श्रीरघुवीरके पूर्णिमाके चन्द्र-सदृश मुखको देखकर सीताका सारा दुःख नाश हो गया और उसका मुख निर्मल चन्द्रमाकी भाँति चमक उठा। परन्तु श्रीरामने यह स्पष्ट कह दिया—'मैंने अपने कर्तव्यका

पालन किया। रावणका वधकर तुझको दुष्टके चंगुलसे छुडाया, परन्तु तू रावणके घरमें रह चुकी है, रावणने तुझको बुरी नजरसे देखा है, अतएव अब मुझे तेरी आवश्यकता नहीं। तू अपने इच्छा-नुसार चाहे जहाँ चली जा। मैं तुझे ग्रहण नहीं कर सकता।'

नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति ॥

(वा० रा० ६।११५।२१)

श्रीरामके इन अश्रुतपूर्व कठोर और भयंकर वचनोंको सुनकर दिव्य सती सीताकी जो कुछ दशा हुई उसका वर्णन नहीं हो सकता। स्वामीके वचन-बाणोंसे सीताके समस्त अङ्गोंमें भीषण घाव हो गये। वह फूट-फूटकर रोने लगी। फिर करुणाको भी करुणासागरमें डुबो देनेवाले शब्दोंमें उसने धीरे-धीरे गद्गद वाणीसे कहा—

'हे स्वामी! आप साधारण मनुष्योंकी भाँति मुझे क्यों ऐसे कठोर और अनुचित शब्द कहते हैं? मैं अपने शीलकी शपथ करके कहती हूँ कि आप मुझपर विश्वास रक्खें। हे प्राणनाथ! रावणने हरण करनेके समय जब मेरे शरीरका स्पर्श किया था, तब मैं परवश थी। इसमें तो दैवका ही दोष है। यदि आपको यही करना था, तो हनुमान्‌को जब मेरे पास भेजा था तभी मेरा त्याग कर दिये होते तो अबतक मैं अपने प्राण ही छोड़ देती!' श्रीसीताजीने बहुत-सी बातें कहीं परन्तु श्रीरामने कोई जवाब नहीं दिया, तब वे दीनता और चिन्तासे भरे हुए लक्ष्मणसे बोलीं—'हे सौमित्रे! ऐसे मिथ्यापवादसे कलङ्कित होकर मैं जीना नहीं चाहती। मेरे दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम यहीं अग्नि-चिता तैयार कर दो। मेरे प्रिय

पतिने मेरे गुणोंसे अप्रसन्न होकर जनसमुदायके मध्य मेरा त्याग किया है, अब मैं अग्निप्रवेश करके इस जीवनका अन्त करना चाहती हूँ।' वैदेही सीताके वचन सुनकर लक्ष्मणने कोपभरी लाल-लाल आँखोंसे एक बार श्रीरामचन्द्रकी ओर देखा, परन्तु रामकी रुचिके अधीन रहनेवाले लक्ष्मणने आकार और संकेतसे श्रीरामका रुख समझकर उनके इच्छानुसार चिता तैयार कर दी। सीताने प्रज्वलित अग्निके पास जाकर देवता और ब्राह्मणोंको प्रणाम कर दोनों हाथ जोड़कर कहा—

> यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
> तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
> यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
> तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
> (वा० रा० ६। ११६। २५ २६)

'हे अग्निदेव! यदि मेरा मन कभी भी श्रीरामचन्द्रसे चलायमान न हुआ हो तो तुम मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो। श्रीरघुनाथजी महाराज मुझ शुद्ध चरित्रवाली या दुष्टाको जिस प्रकार यथार्थ जान सकें वैसे ही मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो, क्योंकि तुम सब लोकोंके साक्षी हो।' इतना कहकर अग्निकी प्रदक्षिणाकर सीता निःशङ्क हृदयसे अग्निमें प्रवेश कर गयी। सब ओर हाहाकार मच गया। ब्रह्मा, शिव, कुबेर, इन्द्र, यमराज और वरुण आदि देवता आकर श्रीरामको समझाने लगे। ब्रह्माजीने बहुत कुछ रहस्यकी बातें कहीं।

इतनेमें सर्वलोकोंके साक्षी भगवान् अग्निदेव सीताको गोदमें

लेकर अकस्मात् प्रकट हो गये और वैदेहीको श्रीरामके प्रति अर्पण करते हुए बोले—

एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा ।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्ये न त्वामत्यचरच्छुभा ॥
रावणेनापनीतैषा वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा ।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती ॥
रुद्धा चान्तःपुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा ।
रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरबुद्धिभिः ॥
प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमाना च मैथिली ।
नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गतेनान्तरात्मना ॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम् ।
न किञ्चिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते ॥

(वा० रा० ६ । ११८ । ५—१०)

'हे राम ! इस अपनी वैदेही सीताको ग्रहण करो । इसमें कोई भी पाप नहीं है । हे चरित्राभिमानी राम ! इस शुभलक्षणा सीताने वाणी, मन, बुद्धि या नेत्रोंसे कभी तुम्हारा उल्लङ्घन नहीं किया । निर्जन वनमें जब तुम इसके पास नहीं थे तब यह बेचारी निरुपाय और विवश थी । इसीसे बलगर्वित रावण इसे बलात्कारसे हर ले गया था । यद्यपि इसको अन्तःपुरमें रक्खा गया था और क्रूर-से-क्रूर स्वभाववाली राक्षसियाँ पहरा देती थीं, अनेक प्रकारके प्रलोभन दिये जाते थे और तिरस्कार भी किया जाता था, परन्तु

तुम्हारेमें मन लगानेवाली, तुम्हारे परायण हुई सीताने तुम्हारे सिवा दूसरेका कभी मनसे विचार ही नहीं किया। इसका अन्तःकरण शुद्ध है, यह निष्पाप है, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम किसी प्रकारकी शङ्का न करके इसको ग्रहण करो।'

अग्निदेवके वचन सुनकर मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए, उनके नेत्र हर्षसे भर आये और उन्होंने कहा—

'हे अग्निदेव! इस प्रकार सीताकी शुद्धि आवश्यक थी, मैं यों ही ग्रहण कर लेता तो लोग कहते कि दशरथपुत्र राम मूर्ख और कामी है। (कुछ लोग सीताके शीलपर भी सन्देह करते जिससे उसका गौरव घटता, आज इस अग्निपरीक्षासे सीताका और मेरा दोनोंका मुख उज्ज्वल हो गया है।) मैं जानता हूँ कि जनक-नन्दिनी सीता अनन्यहृदया और सर्वदा मेरे इच्छानुसार चलनेवाली है। जैसे समुद्र अपनी मर्यादाका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भी अपने तेजसे मर्यादामें रहनेवाली है। दुरात्मा रावण प्रदीप्त अग्निकी ज्वालाके समान अप्राप्य इस सीताका स्पर्श नहीं कर सकता था। सूर्यकान्ति-सदृश सीता मुझसे अभिन्न है। जैसे आत्म-वान् पुरुष कीर्तिका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार मैं भी तीनों लोकोंमें विशुद्ध इस सीताका वास्तवमें कभी त्याग नहीं कर सकता।'

इतना कहकर भगवान् श्रीराम प्रिया सती सीताको ग्रहणकर आनन्दमें निमग्न हो गये। इस प्रसङ्गसे यह सीखना चाहिये कि स्त्री किसी भी हालतमें पतिपर नाराज न हो और उसे सन्तोष करानेके लिये आवश्यक उचित चेष्टा करे।

सीता अपने स्वामी और देवरके साथ अयोध्या लौट आती है।

गृहस्थ-धर्म

बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों और सभी सासुओंके चरणोंमें प्रणाम करती है। सब ओर सुख छा जाता है। अब सीता अपनी सासुओंकी सेवामे लगती है और उनकी ऐसी सेवा करती है कि सबको मुग्ध हो जाना पडता है। सीताजी गृहस्थका सारा काम सुचारुरूपसे करती हैं जिससे सभी सन्तुष्ट हैं। इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि विदेशसे लौटते ही सास और सभी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंको प्रणाम करना और सास आदिकी सच्चे मनसे सेवा करनी चाहिये एव गृहस्थका सारा कार्य सुचारुरूपसे करना चाहिये।

समान व्यवहार

श्रीसीताजी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन देवरोंके साथ पुत्रवत् वर्ताव करती थीं और खानपान आदिमें किसी प्रकारका भी भेद नहीं रखती थीं। स्वामी श्रीरामके लिये जैसा भोजन बनता था ठीक वैसा ही सीताजी अपने देवरोंके लिये बनाती थीं। देखनेमें यह बात छोटी-सी माल्रम होती है किन्तु इसी वर्तावमें दोप आ जानेके कारण केवल खानेकी वस्तुओंमें भेद रखनेसे आज भारतमें हजारों सम्मिलित कुटुम्बोंकी बुरी दशा हो रही है। सीताजीके इस वर्तावसे स्त्रियोंको खानपानमें समान व्यवहार रखनेकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

सीता परित्याग

एक समय भगवान् राम गुप्तचरोंके द्वारा सीताके सम्बन्धमें लोकापवाद सुनकर बहुत ही शोक करते हुए लक्ष्मणसे कहने लगे कि 'भाई! मैं जानता हूँ कि सीता पवित्र और यशस्विनी है, लङ्कामें उसने तेरे सामने जलती

हुई अग्निमें प्रवेश करके अपनी परीक्षा दी थी और सर्वलोकसाक्षी अग्नि देवताने स्वयं प्रकट होकर समस्त देवता और ऋषियोंके सामने सीताके पापरहित होनेकी घोषणा की थी तथापि इस लोकापवादके कारण मैंने सीताके त्यागका निश्चय कर लिया है। इसलिये तू कल प्रातःकाल ही सुमन्त सारथिके रथमें बैठाकर सीताको गङ्गाके उस पार तमसा नदीके तीरपर महात्मा वाल्मीकिके आश्रमके पास निर्जन वनमें छोड़कर चला आ। तुझे मेरे चरणोंकी और जीवनकी शपथ है, इस सम्बन्धमें तू मुझसे कुछ भी न कहना। सीतासे भी अभी कुछ न कहना।' लक्ष्मणने दुःखभरे हृदयसे मौन होकर आज्ञा स्वीकार की और प्रातःकाल ही सुमन्तसे कहकर रथ जुतवा लिया।

सीताजीने एक बार मुनियोंके आश्रमोंमें जानेके लिये श्रीराम से प्रार्थना की थी, अतएव लक्ष्मणके द्वारा वन जानेकी बात सुनकर सीताजीने यही समझा कि स्वामीने ऋषियोंके आश्रमोंमें जानेकी आज्ञा दी है और वह ऋषिपत्नियोंको बाँटनेके लिये बहुमूल्य गहने कपड़े और विविध प्रकारकी वस्तुएँ लेकर वनके लिये विदा हो गयी। मार्गमें अपशकुन होते देखकर सीताने लक्ष्मणसे पूछा— 'भाई! अपने नगर और घरमें सब प्रसन्न तो हैं न ?' लक्ष्मणने कहा—'सब कुशल है।' यहाँतक तो लक्ष्मणने सहन किया, परन्तु गङ्गाके तीरपर पहुँचते ही मर्मवेदनासे लक्ष्मणका हृदय भर आया और वह दीनकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगा। संयमशील धर्मज्ञ लक्ष्मणको रोते देखकर सीता कहने लगी—'भाई! तुम रोते क्यों हो? हमलोग गङ्गातीर ऋषियोंके आश्रमोंके समीप आ गये

हैं, यहाँ तो हर्ष होना चाहिये, तुम उल्टा खेद कर रहे हो। तुम तो रात-दिन श्रीरामचन्द्रजीके पास ही रहते हो, क्या दो रात्रिके वियोगमें ही शोक करने लगे ? हे पुरुषश्रेष्ठ ! मुझको भी राम प्राणाधिक प्रिय हैं, पर मैं तो शोक नहीं करती, इस लड़कपनको छोड़ो और गङ्गाके उस पार चलकर मुझे तपस्वियोंके दर्शन कराओ। महात्माओंको भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बाँटकर और यथायोग्य उनकी पूजाकर एक ही रात रह हमलोग वापस लौट आवेंगे। मेरा मन भी कमलनेत्र, सिंहसदृश वक्षःस्थलवाले, आनन्ददाताओंमें श्रेष्ठ श्रीरामको देखनेके लिये उतावला हो रहा है।'

लक्ष्मणने इन वचनोंका कोई उत्तर नहीं दिया और सीताके साथ नौकापर सवार हो गङ्गाके उस पार पहुँचकर फिर उच्च स्वरसे रोना शुरू कर दिया। सीताजीके बारबार पूछने और आज्ञा देनेपर लक्ष्मणने सिर नीचा करके गद्गद वाणीसे लोकापवादका प्रसङ्ग वर्णन करते हुए कहा—'सीते ! तुम निर्दोष हो, किन्तु श्रीरामने तुमको त्याग दिया है। अब तुम श्रीरामको हृदयमें धारण करके पातिव्रत्य-धर्मका पालन करती हुई वाल्मीकिमुनिके आश्रममें रहो।'

लक्ष्मणके इन दारुण वचनोंको सुनते ही सीता मूर्च्छित-सी होकर गिर पड़ी। थोड़ी देरके बाद होश आनेपर रोकर विलाप करने लगी और बोली—'हे लक्ष्मण ! विधाताने मेरे शरीरको दुःख भोगनेके लिये रचा है। मालूम नहीं, मैंने कितनी जोड़ियोंको बिछुड़ाया था जिससे आज मैं शुद्ध आचरणवाली सती होनेपर भी धर्मात्मा प्रिय पति रामके द्वारा त्यागी जाती हूँ। हे लक्ष्मण ! पूर्वकालमें जब मैं

वनमें थी तब तो स्वामीकी सेवाका सौभाग्य मिलनेके कारण वनके दु:खोंमें भी सुख मानती थी, परन्तु हे सौम्य! अब प्रियतमके वियोगमें मैं आश्रममें कैसे रह सकूँगी ? मन्द-दु:खिनी मैं अपना दुखड़ा किसको सुनाऊँगी। हे प्रभो! महात्मा, ऋषि, मुनि जब मुझे यह पूछेंगे कि तुमको श्रीरघुनाथजीने क्यों त्याग दिया, क्या तुमने कोई बुरा कर्म किया था ? तो मैं क्या जवाब दूँगी। हे सौमित्रे! मैं अभी ही इस भागीरथीमें डूबकर अपना प्राण दे देती, परन्तु मेरे अंदर श्रीरामका वंशबीज है, यदि मैं डूब मरूँ तो मेरे स्वामीका वंश नाश हो जायगा। इसलिये मैं मर भी नहीं सकती। हे लक्ष्मण! तुमको राजाज्ञा है तो तुम मुझ अभागिनीको यहाँ छोड़कर चले जाओ, परन्तु मेरी कुछ बातें सुनते जाओ।'

'मेरी ओरसे मेरी सारी सासुओंका हाथ जोड़कर चरणवन्दन करना और फिर महाराजको मेरा प्रणाम कहकर कुशल पूछना। हे लक्ष्मण! सबके सामने सिर नवाकर मेरा प्रणाम कहना। और धर्ममें सदा सावधान रहनेवाले महाराजसे मेरी ओरसे यह निवेदन करना—

जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः॥
अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवाद समुत्थितः॥
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः।
वक्तव्यश्चैव नृपतिर्धर्मेण सुसमाहितः॥

यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा ।
परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा ॥
यत्तु पौरजने राजन् धर्मेण समवाप्नुयात् ।
अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ ॥
यथापवादः पौराणां तथैव रघुनन्दन ।
पतिर्हि देवता नार्य्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ॥
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्त्तुः कार्यं विशेषतः ।

(वा० रा० ७ । ४८ । १२—१८)

'हे राघव ! आप जिस प्रकार मुझको तत्त्वसे शुद्ध समझते हैं उसी प्रकार नित्य अपनेमें भक्तिवाली और अनुरक्त चित्तवाली भी समझियेगा । हे वीर ! मैं जानती हूँ कि आपने लोकापवादको दूर करने और अपने कुलकी कीर्ति कायम रखनेके लिये ही मुझको त्याग दिया है, परन्तु मेरे तो आप ही परमगति हैं । हे महाराज ! आप जिस प्रकार अपने भाइयोंके साथ बर्ताव करते हैं, प्रजाके साथ भी वही बर्ताव कीजियेगा । हे राघव ! यही आपका परम धर्म है और इसीसे उत्तम कीर्ति मिलती है । हे स्वामिन् ! प्रजापर धर्मयुक्त शासन करनेसे ही पुण्य प्राप्त होता है । अतएव ऐसा कोई बर्ताव न कीजियेगा जिससे प्रजामें अपवाद हो । हे रघुनन्दन ! मुझे अपने शरीरके लिये तनिक भी शोक नहीं है, क्योंकि स्त्रीके लिये पति ही परम देवता है, पति ही परम बन्धु है और पति ही परम गुरु है । नित्य प्राणाधिक प्रिय पतिका प्रिय कार्य करना और उसीमें प्रसन्न रहना, स्त्रीका यह स्वाभाविक धर्म ही है ।' क्या ही मार्मिक शब्द हैं । धन्य सती सीता, धन्य धर्मप्रेम

और प्रजावत्सलता ! धन्य भारतका सती-धर्म !! धन्य भारतीय देवियोंका अपूर्व त्याग !!!

सीताजी कहने लगीं—'हे लक्ष्मण ! मेरा यह सन्देश महाराजसे कह देना । भाई ! एक बात और है, मैं इस समय गर्भवती हूँ तुम मेरी ओर देखकर इस बातका निश्चय करते जाओ, कहीं संसारमें लोग यह अपवाद न करें कि सीता वनमें जाकर सन्तान प्रसव करती है ।'

सीताके इन वचनोंको सुनकर दीनचित्त लक्ष्मण व्याकुल हो उठे और सिर झुकाकर सीताके पैरोंमें गिर फुफकार मारकर जोर-जोर से रोने लगे । फिर उठकर सीताजीकी प्रदक्षिणा की और दो घड़ीतक ध्यान करनेके बाद बोले—'माता ! हे पापरहिता सीते ! तुम क्या कह रही हो ? मैंने आजतक तुम्हारे चरणोंका ही दर्शन किया है, कभी स्वरूप नहीं देखा । आज भगवान् रामके परोक्ष मैं तुम्हारी ओर कैसे ताक सकता हूँ ?' तदनन्तर प्रणाम करके यह रोते हुए नावपर सवार होकर लौट गये और इधर सीता—दुःखभारसे पीड़िता आदर्श पतिव्रता सती सीता अरण्यमें गला फाड़कर रोने लगी । सीताजीके रुदनको सुनकर वाल्मीकिजी उसे अपने आश्रममें ले गये ।

इस प्रसंगसे जो कुछ सीख आ सकता है वही भारतीय देवियों-का परम धर्म है । सीताजीके उपर्युक्त शब्दोंका नित्य पाठ करना चाहिये और उनके रहस्यको अपने जीवनमें उतारना चाहिये । लक्ष्मणजीके बर्तावसे भी हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि पदमें माताके समान होनेपर भी पुरुष किसी भी स्त्रीके अङ्ग न देखे । इसी प्रकार स्त्रियाँ भी अपने अङ्ग किसीको न दिखावें । वाल्मीकिजीके

आश्रममें सीता ऋषिकी आज्ञासे अन्त पुरमे ऋषिपत्नीके पास रही, इससे यह सीखना चाहिये कि यदि कभी दूसरोंके घर रहनेका अवसर आवे तो स्त्रियोंको अन्त पुरमें रहना चाहिये । और इसी प्रकार किसी दूसरी स्त्रीको अपने यहाँ रखना हो तो स्त्रियोंके साथ अन्तःपुरमें ही रखना चाहिये ।

पाताल-प्रवेश

जो स्त्री अपने धर्मका प्राणपणसे पालन करती है, अन्तमें उसका परिणाम अच्छा ही होता है । जब भगवान् श्रीरामचन्द्र अश्वमेध-यज्ञ करते हैं और लव-कुशके द्वारा रामायणका गान सुनकर मुग्ध हो जाते हैं तब लव-कुशकी पहचान होती है और श्रीरामकी आज्ञासे सीता वहाँ बुलायी जाती है । सीता श्रीरामका ध्यान करती हुई सिर नीचा किये हाथ जोड़कर वाल्मीकि ऋषिके पीछे-पीछे रोती हुई आ रही है । वाल्मीकि मुनि सभामें आकर जो कुछ कहते हैं उससे सारा लोकापवाद मिट जाता है और सारा देश सीतारामके जय-जयकारसे ध्वनित हो उठता है । वाल्मीकिने सीताके निष्पाप होनेकी बात कहते हुए यहाँतक कह डाला कि 'मैंने हजारों वर्षोंतक तप किया है, मैं उस तपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि सीता दुष्ट आचरणवाली हो तो मेरे तपके सारे फल नष्ट हो जायँ । मैं अपनी दिव्यदृष्टि और ज्ञानदृष्टिद्वारा विश्वास दिलाता हूँ कि सीता परम शुद्धा है ।' वाल्मीकिकी प्रतिज्ञा-को सुनकर और सीताको सभामें आयी हुई देखकर भगवान् श्रीराम गद्गद हो गये और कहने लगे कि 'हे महाभाग ! मैं जानता हूँ कि जानकी शुद्धा है, लव कुश मेरे ही पुत्र हैं, मैं राजधर्म-पालनके लिये ही

प्रिया सीताका त्याग करनेको बाध्य हुआ था। अतएव आप मुझे क्षमा करें।

उस सभामें ब्रह्मा, आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, वायु, साध्य, महर्षि, नाग, सुपर्ण और सिद्ध आदि बैठे हुए हैं। उन सबके सामने राम फिर यह कहते हैं कि 'इस जगत्‌में वैदेही शुद्ध है और इसपर मेरा पूर्ण प्रेम है'—

शुद्धायां जगतो मध्ये वैदेह्यां प्रीतिरस्तु मे ॥

(वा० रा० ७। ९७। ५)

इतनेमें काषायवस्त्र धारण किये हुए सती सीता नीची गर्दन कर श्रीरामका ध्यान करती हुई भूमिकी ओर देखने लगी और बोली—

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥

(वा० रा० ७। ९७। १४-१६)

'यदि मैंने रामको छोड़कर किसी दूसरेका कभी मनसे भी चिन्तन न किया हो तो हे माधवी देवी! तू मुझे अपनेमें ले ले, हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे। यदि मैंने मन, कर्म और वाणीसे केवल रामका ही पूजन किया हो तो हे माधवी देवी! मुझे अपनेमें ले ले, हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे। यदि मैं रामके सिवा और किसीको भी न जानती

होऊँ यानी केवल रामको ही भजनेवाली हूँ यह सत्य हो तो हे माधवी देवी! मुझे अपनेमें स्थान दे और हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे।'

इन तीन शपथोंके करते ही अकस्मात् धरती फट गयी, उसमेंसे एक उत्तम और दिव्य सिंहासन निकला, दिव्य सिंहासनको दिव्य देह और दिव्य वस्त्राभूषणधारी नागोंने अपने मस्तकपर उठा रक्खा था और उसपर पृथ्वी देवी बैठी हुई थीं। पृथ्वी देवीने सीता-का दोनों हाथोंसे आलिङ्गन किया और 'हे पुत्री! तेरा कल्याण हो' कहकर उसे गोदमें बैठा लिया। इतनेमें सबके देखते-देखते सिंहासन रसातलमें प्रवेश कर गया। सती सीताके जय-जयकारसे त्रिभुवन भर गया।

सीता-परित्याग-के हेतु

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'भगवान् श्रीराम बड़े दयालु और न्यायकारी थे, उन्होंने निर्दोष जानकर भी सीताका त्याग क्यों किया?' इसमें प्रधानतः निम्नलिखित पाँच कारण हैं, इन कारणोंपर ध्यान देनेसे सिद्ध हो जायगा कि रामका यह कार्य सर्वथा उचित था—

१—रामके समीप इस प्रकारकी बात आयी थी—

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजा तमनुवर्तते॥

(वा० रा० ७। ४३। १९)

—कि 'रामने रावणके घरमें रहकर आयी हुई सीताको घरमें रख लिया इसलिये अब यदि हमारी स्त्रियाँ भी दूसरोंके यहाँ रह आवेंगी तो हम भी इस बातको सह लेंगे, क्योंकि राजा जो कुछ करता

है प्रजा उसीका अनुसरण करती है ।' प्रजाकी इस भावनासे भगवान्‌ने यह सोचा कि सीताका निर्दोष होना मेरी बुद्धिमें है । साधारण लोग इस बातको नहीं जानते । वे तो इससे यही शिक्षा लेंगे कि परपुरुषके घर बिना बाधा स्त्री रह सकती है, ऐसा होनेसे स्त्री धर्म बिल्कुल बिगड़ जायगा, प्रजामें वर्णसंकरताकी वृद्धि होगी, अतएव प्रजाके धर्मकी रक्षाके लिये प्राणाधिका सीताका त्याग कर देना चाहिये । सीताके त्यागमें रामको बड़ा दुःख था, उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था । उनके हृदयकी दशाका पूरा अनुभव तो कोई कर ही नहीं सकता, किन्तु वाल्मीकि-रामायण और उत्तररामचरितको पढ़नेसे किञ्चित् दिग्दर्शन हो सकता है । श्रीरामने यहाँ प्रजाधर्मकी रक्षाके लिये व्यक्तिधर्मका बलिदान कर दिया । प्रजारञ्जनके यज्ञानलमें आत्मस्वरूपा सीताकी आहुति दे डाली । इससे उनके प्रजाप्रेमका पता लगता है । सीता राम हैं और राम सीता हैं, शक्ति और शक्तिमान् मिलकर ही जगत्‌का नियन्त्रण करते हैं अतएव सीताके त्यागमें कोई आपत्ति नहीं । इस लोकसंग्रहके हेतुसे भी सीताका त्याग उचित है ।

२–चाहे थोड़ी ही संख्यामें हो सीताका झूठा अपवाद करनेवाले लोग थे । यह अपवाद त्यागके बिना मिट नहीं सकता था, और यदि सीता वाल्मीकिके आश्रममें रहकर उनके द्वारा प्रतिज्ञाके साथ शुद्ध न बतायी जाती और पृथ्वीमें न समाती तो शायद यह अपवाद मिटता भी नहीं, सम्भव है और बढ़ जाता और सीताका नाम आज जिस भावसे लिया जाता है शायद वैसे न लिया जाता । इस हेतुसे भी सीताका त्याग उचित है ।

३–सीता श्रीरामकी परम भक्ता थी, उनकी आश्रिता थी, उनकी परम प्यारी अर्द्धाङ्गिनी थी, ऐसी परम पुनीता सतीको निष्ठुरताके साथ त्यागनेका दोष भगवान् श्रीरामने अपने ऊपर इसीलिये ले लिया कि इससे सीताके गौरवकी वृद्धि हुई, सीताका झूठा कलंक भी मिट गया और सीता जगत्पूज्या बन गयी। भगवान् अपने भक्तोंका गौरव बढ़ानेके लिये अपने ऊपर दोष ले लिया करते हैं और यही यहाँपर भी हुआ।

४–अवतारका लीलाकार्य प्रायः समाप्त हो चुका था, देवतागण सीताजीको इस बातका सङ्केत कर गये थे। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि 'दस हजार वर्षतक मायामनुष्यरूपधारी भगवान् विधिपूर्वक राज्य करते रहे और सब लोग उनके चरणकमलोंको पूजते रहे। भगवान् श्रीराम राजर्षि परम पवित्र एकपत्नीव्रती थे और लोकसंग्रहके लिये गृहस्थके सब धर्मोंका यथाविधि पालन करते थे। पतिप्राणा सीताजी प्रेम, अनुकूल आचरण, नम्रता, इन्द्रियोंका दमन, लज्जा और प्रतिकूल आचरणमें भय आदि गुणोंके द्वारा भगवान्का भाव समझकर उनके मनको प्रसन्न करती थीं। एक समय श्रीराम पुष्पवाटिकामें बैठे हुए थे और सीताजी उनके कोमल चरणोंको दबा रही थीं। सीताजीने एकान्त देखकर भगवान्से कहा कि 'हे देवदेव! आप जगत्के स्वामी, परमात्मा, सनातन, सच्चिदानन्दघन और आदिमध्यान्तरहित तथा सबके कारण हैं। हे देव! उस दिन इन्द्रादि देवताओंने मेरे पास आकर स्तुति करते हुए यह कहा कि 'हे जगन्माता! तुम भगवान्की चित्-शक्ति हो, तुम पहले वैकुण्ठ पधारनेकी कृपा

करो तो भगवान् राम भी वैकुण्ठ पधारकर हमलोगोंको सनाथ करेंगे।' देवताओंने जो कुछ कहा था सो मैंने निवेदन कर दिया है। मैं कोई आज्ञा नहीं करती, आप जैसा उचित समझें वैसा करें।' क्षणभर सोचकर भगवान्‌ने कहा कि—

> देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते।
> कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम्॥
> त्यजामि त्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः।
> भविष्यतः कुमारौ द्वौ वाल्मीकेराश्रमान्तिके॥
> इदानीं दृश्यते गर्भः पुनरागत्य मेऽन्तिकम्।
> लोकानां प्रत्ययार्थं त्वं कृत्वा शपथमादरात्॥
> भूमेर्विवरमात्रेण वैकुण्ठं यास्यसि द्रुतम्।
> पश्चादहं गमिष्यामि एष एव सुनिश्चयः॥
> (अ० रा० ७।४।४१-४४)

'हे देवि! मैं सब कुछ जानता हूँ और तुमको एक उपाय बतलाता हूँ। हे सीते! मैं तुम्हारे लोकापवादका बहाना रचकर साधारण मनुष्यकी तरह लोकापवादके भयसे तुमको वनमें त्याग दूँगा। वहाँ वाल्मीकिके आश्रममें तुम्हारे दो पुत्र होंगे, क्योंकि इस समय तुम्हारे गर्भ है। तदनन्तर तुम मेरे पास आ लोगोंको विश्वास दिलानेके लिये बड़े आदरसे—शपथ खा पृथ्वीके विवरमें प्रवेश कर तुरंत वैकुण्ठको चली जाओगी और पीछेसे मैं भी आ जाऊँगा। यही निश्चय है।' यह भी सीताके त्यागका एक कारण है।

५—पूर्वकालमें एक समय युद्धमें देवताओंसे हारकर भागे हुए दैत्य भृगुजीकी स्त्रीके आश्रममें चले गये और ऋषिपत्नीसे अभय

प्राप्तकर निर्भय हो वहाँ रहने लगे थे । 'दैत्योंको भृगुपत्नीने आश्रय दिया' इस बातसे कुपित होकर भगवान् विष्णुने उसका चक्रसे सिर काट डाला था । पत्नीको इस प्रकार मारे जाते देखकर भृगु ऋषिने क्रोधमें हतज्ञान होकर भगवान्‌को शाप दिया था कि हे जनार्दन ! आपने कुपित होकर मेरी अवध्य पत्नीको मार डाला । इसलिये आपको मनुष्यलोकमें जन्म लेना होगा और दीर्घकालतक पत्नी-वियोग सहना पड़ेगा ।' भगवान्‌ने लोकहितके लिये इस शापको स्वीकार किया और उसी शापको सत्य करनेके लिये अपनी अभिन्न शक्ति सीताको लीलासे ही वनमें भेज दिया ।

इत्यादि अनेक कारणोंसे सीताका निर्वासन रामके लिये उचित ही था । असली बात तो यह है कि भगवान् राम और सीता साक्षात् नारायण और शक्ति हैं । एक ही महान् तत्त्वके दो रूप हैं । उनकी लीला वे ही जानें, हमलोगोंको आलोचना करनेका कोई अधिकार नहीं । हमें तो चाहिये कि उनकी दिव्य लीलाओंसे लाभ उठावें और अपने मनुष्य-जीवनको पवित्र करें ।

मानव-लीलामें श्रीसीताजी इस बातको प्रमाणित कर गयीं कि बिना दोष भी यदि स्वामी स्त्रीको त्याग दे तो स्त्रीका कर्तव्य है कि इस विपत्तिमें दुःखमय जीवन बिताकर भी अपने पातिव्रत्यधर्मकी रक्षा करे, परिणाम उसका कल्याण ही होगा ।

उपसंहार

सत्य और न्याय अन्तमें अवश्य ही शुभ फल देंगे, सीताने अपने जीवनमें कठोर परीक्षाएँ देकर स्त्रीमात्रके लिये यह मर्यादा स्थापित कर दी कि जो स्त्री

आपत्तिकालमें सीताकी भाँति धर्मका पालन करेगी उसकी कीर्ति संसारमें सदाके लिये प्रकाशित हो जायगी । सीतामें पतिभक्ति, सीताका भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नके साथ निर्दोष वात्सल्य-प्रेम, सासुओंके प्रति सेवाभाव, सेवकोंके साथ प्रेमका बर्ताव, नैहर और ससुरालमें सबके साथ आदर्श प्रीति और सबका सम्मान करनेकी चेष्टा, ऋषियोंकी सेवा, लव-कुश जैसे वीर पुत्रोंका मातृत्व, उनको शिक्षा देनेकी पटुता, साहस, धैर्य, तप, वीरत्व और आदर्श धर्मपरायणता आदि सभी गुण पूर्ण विकसित और सर्वथा अनुकरणीय हैं । हमारी जो माताएँ और बहिनें प्रमाद, मोह और आसक्तिको त्याग कर सीताके चरित्रका अनुकरण करेंगी उनके अपने कल्याणमें तो शङ्का ही क्या है, वे अपने पति और पुत्रोंको भी तार सकती हैं । अधिक क्या जिसपर उनकी दया हो जायगी उसका भी कल्याण होना सम्भव है । ऐसा सती-शिरोमणि पतिव्रता ही दर्शन और पूजनके योग्य है । मनुष्योंके द्वारा ही नहीं बल्कि देवताओंके द्वारा भी वह पूजनीय है और अपने चरित्रसे त्रिलोकीको पवित्र करनेवाली है ।

यद्यपि श्रीसीताजी साक्षात् भगवती और परमात्माकी शक्ति थीं तथापि उन्होंने अपने मनुष्य-जीवनमें लोकशिक्षाके लिये जो चरित्र किया है वे सब ऐसे हैं कि जिनका अनुकरण सभी स्त्रियाँ कर सकती हैं । संसारकी मर्यादाके लिये ही सीता-रामका अवतार था । अतएव उनके चरित्र और उपदेश अलौकिक न होकर ऐसे व्यावहारिक थे कि जिनको काममें लाकर हमलोग लाभ उठा सकते हैं । जो स्त्री या पुरुष यह कहकर कर्तव्यसे छूटना चाहते हैं कि

'श्रीसीता-राम साक्षात् शक्ति और ईश्वर थे, हम उनके चरित्रोंका अनुकरण नहीं कर सकते।' वे कायर और अभक्त हैं। वे श्रीराम-को ईश्वरका अवतार केवल कथनभरके लिये ही मानते हैं। सच्चे भक्तोंको तो श्रीराम-सीताके चरित्रका यथार्थ अनुकरण ही करना चाहिये।

तेईस प्रश्न

एक सज्जनके प्रश्न हैं-(प्रश्नोंकी भाषा कुछ सुधार दी गयी है, भाव वही हैं। लेख बड़ा होनेसे बचनेके लिये उत्तर संक्षेपमें ही दिया गया है)।

प्र०-जीव कितनी जातिके होते हैं और जीवोंके कितने भेद हैं?

उ०-आत्मरूपसे जीव एक ही है, परन्तु शरीरोंके सम्बन्धभेदसे उसकी अनन्त जातियाँ हैं। शास्त्रोंमे स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुजभेदसे चौरासी लाख जातियाँ मानी गयी हैं।

प्र०-जीवके कर्ता-हर्ता भगवान् हैं या नहीं?

उ०-शरीरके कर्ता हर्ता तो ईश्वर हैं। जीव आत्मरूपसे अनादि है, उसका कोई कर्ता नहीं।

प्र०-जीव और कर्म एक ही वस्तु है या भिन्न-भिन्न?

उ०-जीव और कर्म भिन्न-भिन्न वस्तु है। जीव चेतन और नित्य है। कर्म जड़ और अनित्य है।

प्र०—जीवके कर्म साथ हैं या नहीं ?

उ०—जीवके कर्म अनादि हैं और जबतक उसको सम्यक् ज्ञान नहीं हो जाता, तबतक साथ रहते हैं।

प्र०—जीवके कर्म जन्मसे साथ हैं या अनादि हैं ?

उ०—इस प्रश्नका उत्तर चौथे उत्तरमें दिया जा चुका है। विशेष देखना हो तो 'तत्त्व-चिन्तामणि भाग १' में प्रकाशित 'मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?' 'कर्मका रहस्य' शीर्षक लेख देखने चाहिये।

प्र०—पुण्य और धर्म एक ही वस्तु है या दो ?

उ०—पुण्य और धर्म भिन्न-भिन्न है। पुण्य उस सुकृतको कहते हैं जो धर्मका एक प्रधान अङ्ग है और धर्म कर्तव्य-पालनको कहते हैं। धर्मके सम्बन्धमें विशेष जानना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'धर्म क्या है ?' नामकी पुस्तिका देखनी चाहिये।

प्र०—पाप और अधर्म एक ही वस्तु है या दो ?

उ०—पाप और अधर्म भिन्न-भिन्न है। दुष्कृत यानी निषिद्ध कर्मको पाप कहते हैं जो अधर्मका एक प्रधान अङ्ग है और कर्तव्य-विरुद्ध कर्म करने अथवा कर्तव्यके परित्याग करनेको अधर्म कहते हैं।

प्र०—धर्म हिंसामें है या अहिंसामें ?

उ०—धर्म अहिंसामें है, परन्तु ऐसी क्रिया जो देखनेमें हिंसाके सदृश प्रतीत होती है, पर जो निःस्वार्थभावसे परिणाममें

(जिसके प्रति हिंसा-सी दीखती है) उस व्यक्तिके हितके लिये अथवा लोक-हितके लिये की जाती है, वह वास्तवमें हिंसा नहीं है।

प्र०—दया कितने प्रकारकी होती है तथा कौन-सी दयाके पालनसे पुण्य होता है?

उ०—मेरी समझसे दया मुख्यतः एक ही प्रकारकी होती है। दुखी जीवोंका किसी प्रकारसे भी हित हो, ऐसे विशुद्ध भावका नाम दया है।

प्र०--किन लक्षणोंवाले ब्राह्मणको दान देनेसे पुण्य होता है?

उ०—शास्त्रोंके ज्ञाता और गीताकथित ब्राह्मणके स्वाभाविक लक्षणोंसे युक्त ब्राह्मण सब प्रकारसे दानके पात्र हैं। गीतामें ब्राह्मणके लक्षण यह बतलाये हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

(१८।४२)

'अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि, धर्मके लिये कष्टसहनरूप तप, क्षमा, मन-इन्द्रियाँ और शरीरकी सरलता, आस्तिक-बुद्धि, शास्त्र-ज्ञान और परमात्म-तत्त्वका अनुभव—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।'

प्र०—सुपात्र साधुके लक्षण क्या हैं, और उनके कैसे कर्म होते हैं?

उ०—साधुके लक्षण और कर्म ऐसे होने चाहिये—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

(गीता १३ । ७-११)

'श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, प्राणिमात्रको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणीकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव, अहङ्कारका अभाव, जन्म-मृत्यु-जरा-रोग आदिमें बारंबार दुःख-दोषोंका विचार करना, प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना अर्थात् मनके अनुकूल तथा प्रतिकूलकी प्राप्तिमें हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना। परमेश्वरमें एकीभावसे स्थितिरूप ध्यानयोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति* एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव, विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेम न होना अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना—ये ज्ञानके (साधन) हैं जो इससे

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके श्रद्धा और भावसहित परम प्रेमसे भगवान्का निरन्तर चिन्तन करना अव्यभिचारिणी भक्ति है।

विपरीत है, वही अज्ञान है, ऐसा कहा गया है। इनके अतिरिक्त भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्तोंके निम्नलिखित लक्षण और कर्म बतलाये हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। १३–२०)

'(जो पुरुष) सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी, हेतुरहित दयालु, ममतासे रहित, अहंकारादिसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें

सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मुझ (भगवान्) में दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन और बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, ईर्ष्या, भय और उद्वेगसे रहित है, वह भक्त मुझको प्रिय है। जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं जो पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है वह सर्व आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी, शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी, मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है। जो शत्रु-मित्र और मान-अपमानमें सम है तथा जो सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है, जो जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है, अपने रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर-बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है। जो मेरे परायण हुए श्रद्धायुक्त पुरुष इस उपर्युक्त धर्ममय अमृतको निष्कामभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।

ऐसे भगवान्के प्यारे पुरुष ही वास्तवमें सर्वथा सुपात्र साधु हैं।

प्र०—भगवान् किसे कहते हैं? भगवान्‌के क्या लक्षण हैं?

उ०—भगवान् वास्तवमें अनिर्वचनीय हैं। जिसको भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्वसे ज्ञान है, वही उनको जानता है, परन्तु वह भी वाणीसे उनका वर्णन नहीं कर सकता। भगवान्‌के सम्बन्धमें विस्तारसे जानना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'भगवान् क्या हैं?' नामक पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

प्र०—सुपात्र मनुष्यके क्या लक्षण हैं?

उ०—सुपात्र मनुष्य वही है, जिसमें दैवी सम्पदाके गुण विकसित हों। दैवी-सम्पत्तिके गुणोंके विषयमें भगवान्‌ने कहा है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६। १–३)

'हे अर्जुन! सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवत्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट-सहन, शरीर और इन्द्रियों-सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार

भी किसीको कष्ट नहीं देना, सबसे यथार्थ और प्रियभाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोध न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा आदि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरण करनेमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी शुद्धि, किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव, दैवी-सम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषके ये (२६) लक्षण हैं।'

प्र०—मुक्ति-धर्म और सांसारिक धर्म एक है या दो ? मनुष्यको कौन-से धर्मका पालन करना चाहिये, जिससे मुक्तिकी प्राप्ति हो ?

उ०—क्रियाके स्वरूपसे अलग-अलग है। सांसारिक धर्म भी निष्कामभावसे किया जाय तो वह भी मुक्तिदायक हो सकता है। मुक्ति-धर्म तो मुक्तिदायक है ही। वर्णभेदके अनुसार सांसारिक धर्मका स्वरूप और निष्कामभावसे भगवत्-पूजाके रूपमें किये जानेपर परमसिद्धिरूप परमात्माकी प्राप्तिका विवेचन गीता १८ वें अध्यायके श्लोक ४१ से ४६ तक और मुक्ति-धर्म यानी ज्ञाननिष्ठाका स्वरूप १८ वें अध्यायके श्लोक ४९से ५५ तक देखना चाहिये।

प्र०—यज्ञ और देवताओंका भजन एक ही है या दो ?

उ०—एक ही है देवताओंके भिन्न भिन्न लोकोंको ही यज्ञ कहते हैं।

प्र०—किन-किन देवताओंका स्मरण करना चाहिये, जिससे जीवका निस्तार हो ?

उ०—परम दयालु, परम सुहृद्, परम प्रेमी, परम उदार, विज्ञानानन्द-मय, नित्य, चेतन, अनन्त, शान्त, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिकर्ता परमात्मदेव एक ही है। उसीको लोग ब्रह्म, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, शक्ति, गणेश, अरिहन्त, बुद्ध, अल्लाह, जिहोवा, गॉड आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। इस भावनासे ऐसे परमात्माके किसी भी नाम-रूपका स्मरण-पूजन करनेसे जीवका निस्तार हो सकता है।

प्र०—जीव कौन-कौन-सी गतिमें जाते हैं ?

उ०—नीच कर्म करनेवाले तामसी पापी जीव नरकोंमें जाते हैं। नारकीय गतिके दो भेद हैं—स्थानविशेष और योनि-विशेष। रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंमें यमराज-के द्वारा जो यातना मिलती है, वह स्थानविशेषकी गति है और देव, पितर, मनुष्यके अतिरिक्त पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदिमें जन्म लेना योनिविशेषकी गति मानी जाती है। राजसी कर्म करनेवाले मनुष्य-योनिको प्राप्त होते हैं और सात्त्विक पुरुष ऊँची गति—देवयोनिमें जाते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(१४।१८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस मनुष्य अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं।'

प्र०—स्वर्गमें गया हुआ जीव वापस आता है या नहीं ? क्या कोई वापस आया है ?

उ०—मुक्त होनेपर जीव वापस नहीं आते। स्वर्गमें गये हुए जीव वापस आते हैं। गीतामें कहा है—'तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्म करनेवाले, सोमरसका पान करनेवाले, स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिबन्धक देवऋणरूप पापसे मुक्त हुए पुरुष मुझको यज्ञोंद्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं और वे उस विशाल स्वर्ग-लोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए भोगोंकी कामनावाले पुरुष बारंबार आने-जानेमें ही लगे रहते हैं।' (९। २०२१) इससे वापस आना सिद्ध है। प्राचीन कालमें महाराजा त्रिशङ्कु, ययाति नहुष आदि अनेक वापस आये हैं।

प्र०—महाकालमें गया हुआ जीव फिर इस संसारमें जन्म ले सकता है या नहीं ?

उ०—निष्काम साधक जो अर्चिमार्गसे ब्रह्मलोकमें जाते हैं, वापस नहीं आते। वे क्रममुक्तिके द्वारा परमात्माके परमधाममें पहुँच जाते हैं। परंतु धूममार्गसे जानेवाले सकामी वापस आते हैं (गीता अध्याय ८ श्लोक २४ से २६ देखना चाहिये)। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद्में भी इसका विस्तारसे वर्णन है। विशेषरूपसे यह विषय समझना हो तो 'जीव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर' शीर्षक लेख इसी पुस्तकमें आगे देखना चाहिये।

प्र०—मान लीजिये, किसी बीमार आदमीका रोग दो कबूतरोंका खून व्यवहार करनेसे दूर होता हो, इसमें कबूतर मारकर खून लगाना बतलानेवाले और मारकर खून लगानेवाले, इन दोनोंमेंसे किसको पुण्य हुआ और किसको पाप?

उ०—बीमारी आदिके लिये किसीके भी जीवकी हिंसा करनेवाले बतलानेवाले और हिंसासे मिली हुई वस्तु काममें लानेवाले तीनों ही आसक्ति और स्वार्थ होनेके कारण पापके भागी होते हैं।

प्र०—एक अविवाहित मनुष्य पर-स्त्रीके पास जाता है, उसको पर-स्त्रीसे छुड़ाकर कोई उसका विवाह करा दे तो विवाह कराने और करनेवालेमेंसे कौन-सा पापका भागी हुआ और कौन-सा पुण्यका?

उ०—विवाहके योग्य पुरुषका शास्त्रानुकूल विवाह हो और विवाहके पश्चात् स्त्री-पुरुष न्याययुक्त गृहस्थाश्रमका पालन करें तो विवाह करने-करानेवाले दोनों ही पुण्यके भागी होते हैं।

प्र०—गति कितने प्रकारकी होती है ?

उ०—गति अर्थात् मुक्ति दो प्रकारकी होती है। शरीर रहते भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त होनेपर जीवन्मुक्ति हो सकती है, जीता हुआ ही यह पुरुष मुक्त हो जाता है। इसीलिये उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। और उसके शरीरका कार्य भी प्रारब्धानुसार चलता रहता है। ऐसे जीवन्मुक्तकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं— हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिका तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा समझता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा ही करता है। जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा समझता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है, उस स्थितिसे कभी चलायमान नहीं होता और जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय-अप्रियको बराबर समझता है, अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है, मान अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है। (गीता १४ । २२–२५) यह गुणातीत ही जीवन्मुक्त है। दूसरी विदेहमुक्ति मरणके अनन्तर होती है। अत्यन्त ऊँची स्थितिमें मरनेवालेकी यही गति होती है। गीतामें कहा है—

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥'

(२ । ७२)

'अन्तकालमें भी इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ।'

प्र०—दान देनेवाले और दान लेनेवाले—इन दोनोंमें किसको पुण्य होता है और किसको पाप होता है ?

उ०—आसक्ति और स्वार्थको त्यागकर सत्पात्रमें जो दान दिया-लिया जाता है, उसमें देने और लेनेवाले दोनोंको ही परम धर्म-लाभ होता है । स्वार्थबुद्धिसे लेनेवाले सुपात्रका पुण्य क्षय होता है और कुपात्रको नरककी प्राप्ति होती है । इसी प्रकार स्वार्थबुद्धिसे सुपात्रके प्रति दान देनेवालेको पुण्य और कुपात्रके प्रति देनेवालेको पाप होता है ।

शङ्का-समाधान

प्र०—उद्देश्यहीनता एव निष्काम कर्ममें क्या अन्तर है ?

उ०—उद्देश्यहीन कर्म एवं निष्काम कर्म दो पृथक् वस्तु हैं । उद्देश्यहीन कर्म व्यर्थ होनेके कारण प्रमादस्वरूप, तमोगुणके कार्य एव आत्माको हानि पहुँचानेवाले हैं । शास्त्रोंमें इनका निपेध किया गया है । पर निष्काम कर्म अन्त करणको पवित्र करनेवाले, परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक एव कर्मबन्धनसे छुडानेवाले हैं । निष्काम कर्म उद्देश्यहीन नहीं, पर फलेच्छारहित

अवश्य होते हैं। जिस प्रकार एक नौकर स्वामीकी आज्ञापालन को कर्तव्य जानकर, स्वामीको प्रसन्न करनेके लिये कर्म करता है, उसका उद्देश्य केवल मालिकको प्रसन्न करना और उसकी आज्ञा पालन करना है। इसके अतिरिक्त वह कर्मके किसी फलसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। फलका भागी तो मालिक ही होता है। इसी प्रकार परम पिता परमेश्वरकी आज्ञा पालन करते हुए, कर्मफलकी इच्छाको त्याग करके केवल भगवत्प्रीत्यर्थ कर्तव्यपालनस्वरूप किये हुए कर्म निष्काम कर्म होते हैं, इनमें आसक्ति और ममताको स्थान नहीं रहता।

प्र०—गन्तव्य स्थानके निश्चय बिना राह चलना कैसे सम्भव है? क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि कोई भी कार्य लक्ष्य स्थिर किये बिना नहीं होते।

उ०—उत्तम उद्देश्य यानी परमात्माकी प्रसन्नताका लक्ष्य रखकर कर्म करने चाहिये। उद्देश्य रखना पाप नहीं। इच्छा, कामना, आसक्ति और ममता ही पापका मूल है।

प्र०—यदि कोई ईश्वरसे किसी वस्तुकी याचना न करके केवल ईश्वर भक्ति और ईश्वर-प्रेमकी ही याचना करता है तो क्या इसको कामना नहीं कहेंगे? क्या यह माँग निष्काम कहलायगी? धन धान्यके याचक कौड़ीके याचक हैं और भक्त अमूल्य रत्नके याचक हैं। भक्तोंके लिये भक्ति सुख है और धन चाहनेवालेके लिये धन सुख है। हुए तो दोनों याचक ही, फिर भक्तोंमें निष्कामता कहाँ रही?

३०—जो प्रेम केवल प्रेमके लिये ही होता है वही विशुद्ध प्रेम है, उसके समान ससारमें और कोई पदार्थ नहीं है। इसी प्रेमका लक्ष्य कर जो स्वार्थरहित हो परमेश्वरसे प्रेम करता है, मुक्ति तो बिना चाहे ही उसके चरणोंमें लोटती है। इस प्रेमकी कामना निर्मल पवित्र कामना है, इस उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्म सकाम नहीं होते। क्योंकि ईश्वरमें प्रेम होना किसी भी कर्मका फल नहीं है, यह तो कर्मोंके फलत्यागका फल है, निष्कामकर्मा कर्मोंके फलका त्याग करता है, पर वह त्यागके फलका त्याग नहीं करता। श्रीभरत और श्रीहनूमान् आदिने ईश्वरमें प्रेम होनेकी याचना की थी। अवश्य ही यह याचना थी, पर कर्मोंके फलकी याचना नहीं थी, इसीसे उनकी निष्कामतामें कोई दोष नहीं आया, वे सकाम नहीं समझे गये। क्योंकि सकाम कर्मोंका फल तो पुत्र-धनादि या स्वर्गादिकी प्राप्ति है जो ससारमें फँसानेवाले हैं, ईश्वर-प्रेम या ईश्वर-प्राप्ति ससारसे उद्धार करनेवाले हैं।

हाँ, त्यागके फलका त्याग और भी श्रेष्ठ है, पर वह साधककी समझमें आना कठिन है, उसे तो सिद्ध पुरुष ही समझ सकते हैं। ऐसा त्याग ईश्वर और ईश्वर-प्राप्त भक्त ही कर सकते हैं। तुलसीदासजीने कहा भी है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

अत प्रेमका भिखारी बननेमें कोई आपत्ति नहीं, प्रेमका भिखारी तो हम भगवान्‌को भी कह सकते हैं। कोई मनुष्य किसीसे किसी

बालककी इच्छा न रखकर हेतुरहित प्रेम करे तो वह प्रशंसाका ही पात्र है, फिर उस परम प्यारे परमेश्वरमें प्रेम करना तो बहुत ही प्रशंसनीय है। इस प्रेमके त्यागकी बात भगवान्‌ने यहाँ नहीं कही, इसे तो धारण करने योग्य ही बतलाया गया है।

प्र०—गीतामें 'महि शत्रुम्' इत्यादि वचनोंमें भगवान् इच्छाको शत्रुवत् बतलाते हैं, पर 'धर्माविरुद्धो भूतेषु' इत्यादिमें धर्मानुकूल इच्छाको विधेय भी कहते हैं एवं बिना इच्छाके कार्य हो नहीं सकते, क्योंकि विद्याध्ययनकी इच्छाके बिना पढ़ा नहीं जाता, भूखके बिना खाया नहीं जाता, तो फिर धार्मिक कार्योंकी भी इच्छा करनी चाहिये या नहीं? यदि करनी चाहिये तो 'यक्ष्ये दास्यामि' इसको गीतामें अनुचित क्यों बतलाते हैं? क्या दान करना धर्म नहीं है? यदि सकाम कर्म मुक्तिदायक नहीं है तो 'धर्माविरुद्ध' यह क्यों कहा गया?

उ०—उद्देश्यपूर्तिके लिये की हुई इच्छा और फलप्राप्तिकी इच्छामें बहुत अन्तर है। उद्देश्यपूर्तिकी इच्छा फलेच्छा नहीं है। निष्काम कर्मोंमें फलकी इच्छाका त्याग है, कर्म करनेकी इच्छाका त्याग नहीं, अतः धार्मिक कर्म करनेकी इच्छा करनेमें कोई दोष नहीं, पर उन कर्मोंके फलकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
(१८।६)

'हे पार्थ ! यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म, आसक्तिको और फलोंको त्याग कर अवश्य करने चाहिये, ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।'

स्वार्थरहित उत्तम कर्म करनेकी इच्छा निर्मल पवित्र इच्छा है, यह कर्मोंको सकाम नहीं बनाती । इसको सकाम मानकर कर्म न करना तो भ्रममें पड़ना है, फिर उत्तम कर्म होंगे ही कैसे ? 'जहि शत्रुम्' इस श्लोकमें भगवान्‌ने जिस इच्छाका निषेध किया है, वह संशय और रागद्वेषमूलक इच्छा है, जिसका परिणाम पाप है । इस श्लोकके पूर्वका श्लोक 'अथ केन' (३ । ३६) जिसमें अर्जुनने शङ्का की है, देखनेसे ही इस बातका साफ पता चल जाता है । यह निन्दनीय इच्छा है, पर 'धर्माविरुद्धो' इस श्लोकके अनुसार जो धर्मानुकूल कामना है, उसकी भगवान्‌ने प्रशंसा ही की है । भगवान्‌मे प्रेम करनेकी इच्छा या भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये कर्म करनेकी इच्छा विशुद्ध इच्छा है, एव भगवत्-प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप ही बतलाया है । स्वार्थरहित धर्मपालनकी इच्छा विधेय है और उसके फलकी इच्छा त्याज्य है । अत. विवेक-पूर्वक विचार करनेसे गीताका कथन कहीं असगत प्रतीत नहीं होता । केवल श्लोकोंके अर्थभेदको न समझनेके कारण ही विरोध-सा प्रतीत होता है, समझ लेनेपर विरोध नहीं रहता ।

'यक्ष्ये दास्यामि' इस श्लोकमें यज्ञ-दान आदिके करनेकी इच्छा-को निन्दनीय नहीं बतलाया गया है । अभिमान और अहकारपूर्वक दम्भसे यज्ञ-दानादि करनेके भाव प्रकाशित करनेवाले आसुरी प्रकृतिके

मनुष्योंकी निन्दा की गयी है। यज्ञ, दान अवश्य करने चाहिये, पर उनका विधिपूर्वक करना कर्तव्य है, केवल दिखौवा दम्भपूर्वक किये हुए यज्ञ-दानादि कर्म धर्म नहीं हैं। अत इस श्लोकमें आसुरी भाववाले मनुष्योंकी निन्दा की गयी है, यज्ञ-दानादिकी नहीं।

सकामकर्म धर्मानुकूल होनेपर भी मुक्तिदायक नहीं—यह ठीक है, परन्तु कामनारूप दोष निकाल देनेपर वे मुक्तिदायक हो जाते हैं। ऐसा ही करनेके लिये भगवान्‌ने कहा है। एवं धर्म-पालनकी इच्छा भगवान्‌का स्वरूप ही है। अत 'धर्माविरुद्धो—'इस श्लोकमें कोई दोष नहीं आता।

प्र०—प्राय देखा जाता है कि मन जिस ओर जाता है इन्द्रियाँ भी उसी ओर जाती हैं, मनके बिना कर्मेन्द्रियाँ कोई काम नहीं कर सकतीं, यदि किया भी जाता है तो ठीक नहीं होता। यदि मन ही ईश्वरमें लग रहा तो इन्द्रियाँ सांसारिक काम कैसे कर सकेंगी? फिर 'तनसे काम, मनसे राम' 'मच्चित्ता मद्गत प्राणा' के साथ 'युध्यस्व' कैसे होगा?

उ०—यद्यपि आरम्भमें 'तनसे काम, मनसे राम' होना बहुत ही कठिन है, क्योंकि यह स्वाभाविक बात है कि इन्द्रियाँ जिस ओर जाती हैं, मन भी दौड़कर उसी तरफ चला जाता है, पर विशेष अभ्यास करनेसे इस स्वभावका परिवर्तन हो सकता है—यह आदत बदली जा सकती है। जिस प्रकार नटी अपने पैरोंके तलुओंमें सींग बाँधकर बाँसपर चढ़ जाती है और नटी-बजायी हुई रस्सीको हिलाते हुए उसी रस्सीपरसे दूसरे बाँसपर

चली जाती है, उसके प्राय सब इन्द्रियोंसे ही अलग-अलग काम होते हुए भी मन पैरोंमें रहता है, यह उसकी साधनाका फल है। इसी प्रकार अभ्यास करनेसे मनुष्यका मन भी परमेश्वरमें रह सकता है एव इन्द्रियोंके कार्योंमें बाधा उपस्थित नहीं होती। भगवान्ने गीतामें कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

'हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ, नि.सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यदि ऐसा सम्भव न होता तो भगवान् इसका निर्देश ही कैसे करते? भगवान् तो यहाँ मन-बुद्धितक अर्पण करके युद्ध करनेको कह रहे हैं। यदि युद्ध करते हुए भी भगवान्में मन-बुद्धि लगाये जा सकते हैं तो दूसरे कामोंको करते हुए भगवान्में मन-बुद्धि लगानेमें कठिनता ही क्या है?

मनकी मुख्य वृत्तिको ईश्वरमें लगाकर गौणवृत्तिसे अन्य कार्यों-का करना तो साधारण बात है, सहजसाध्य है। क्योंकि मनुष्योंमें प्राय देखा जाता है कि वे मन दूसरी जगह रहते हुए पुस्तक पढ़ते रहते एव सुनकर लिखते रहते हैं अत. इन्द्रियोंका कार्य मन दूसरी जगह रहते हुए भी हो सकता है। ईश्वरका तत्त्व जान लेने-पर तो ईश्वरमें नित्य-निरन्तर चित्त रहते हुए सम्पूर्ण इन्द्रियोंका कार्य

सुनारुरूपसे होनेमें कोई आपत्ति ही नहीं आती। जिस प्रकार सुवर्णके अनेक आभूषणोंको अनेक प्रकारसे देखते हुए भी सुनारकी सुवर्णबुद्धि नित्य बनी रहती है वैसे ही परमेश्वरको जाननेवाले पुरुषकी सर्वत्र परमेश्वरबुद्धि निरन्तर बनी रहती है। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
(६।३१)

'इस प्रकार जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें बर्तता है, क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

प्र०—क्या प्रारब्धके प्रकोपसे कर्म-स्वातन्त्र्यमें बाधा नहीं पड़ती? जीवसे 'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि' इसके अनुसार जबरदस्ती काम करवाकर सजा क्यों दी जाती है? इसमें उसका क्या दोष है?

क्या गोस्वामीजीके—

'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि'

एवं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥

क्या इन दोनोंमें आपसमें विरोध नहीं पड़ता?

उ०—प्रारब्धके प्रकोपसे कर्मस्वातन्त्र्यमें विशेष बाधा नहीं पडती, क्योंकि सुख-दु ख आदिकी प्राप्तिमें हेतुभूत स्त्री-पुत्रादिकी प्राप्ति और नाशमें ही प्रारब्धकी प्रधानता है। नवीन पुण्य-पापके करनेमें प्रारब्धकी प्रधानता नहीं समझी जाती।

'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि' 'मतिरुत्पद्यते तादृग् यादृशी भवितव्यता' 'करतलगतमपि नश्यति यस्य भवितव्यता नास्ति'—ये कथन प्रारब्धकृत सुख-दु.खादिके भोग करानेके विषयहीमें कहे गये हैं। नवीन कर्मोंसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। नवीन कर्म करनेमें तो राग-द्वेषादि ही हेतु हैं और उनका चेष्टा करनेसे नाश हो सकता है। अत नवीन कर्मोंमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है और इसीलिये यह उनके फलका भागी समझा जाता है। ईश्वर या प्रारब्धकी इसमें कोई जबरदस्ती नहीं है।

तुलसीदासजीके दोनों दोहे युक्तिसगत एव न्याययुक्त हैं। इन दोनोंका आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं है। 'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि' यह प्रारब्धभोगके विषयमें एव 'सो परत्र दुख पावइ' कर्तव्यपालनके विषयमें है। जो मनुष्य कर्तव्यपालन नहीं करता उसको अवश्य ही कष्ट उठाना पड़ता है। अत इनमें कोई विरोध नहीं है।

प्र०—यदि ईश्वर सर्वद्रष्टा, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् है तो फिर अन्धेको गिरनेसे क्यों नहीं बचाता, निर्बलकी रक्षा क्यों नहीं करता, मूर्खको विष खानेसे क्यों नहीं रोकता ? यदि वह न्यायपरायण और शरणागतवत्सल है तो निर्बल, अन्धे, मूर्ख

जीवको इन शत्रुओंसे रक्षा क्यों नहीं करता ? क्या दयावान् होते हुए बिना पूछ रक्षा करना मना है ? क्यों वह जीवोंके दुःख दर्दोंको देखता रहता है ?

२४ ईश्वर सहृद, सर्वान्तर्यामी, न्यायकर्ता और सर्वशक्तिमान् है इसमें कोई सन्देह नहीं है। वह अन्धेको बचानेके लिये, जीवकी रक्षाके लिये, मूर्खको गिर जानेसे रोकनेके लिये महात्माओं एवं शास्त्रोंद्वारा बराबर चेष्टा करता है। हृदयमें स्थित रहकर बराबर सचेत करता रहता है। इसपर भी यदि मनुष्य शास्त्र और महात्माओंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके, हृदयस्थित ईश्वरकी दी हुई सत्-परामर्शको न मानकर जबरदस्ती विष भोजन करे, गड्ढेमें पड़े एवं निषिद्ध कर्मोंका आचरण करे तो उसको उन नियमोंके भङ्ग करनेसे बलपूर्वक रोकनेका नियम ईश्वरके न्यायालयमें नहीं है।

जीव मोहवश अन्धा एवं निर्बल-सा हो रहा है। इसीलिये काम-क्रोधादि प्रबल शत्रु इसे सताते हैं, फिर भी यह अभागा उस ईश्वरकी दयाका और सहायता नहीं करता। जो ईश्वर बार-बार इसको सचेत करता एवं इन शत्रुओंसे बचनेके लिये बराबर सत्परामर्श देता रहता है, उस सर्वज्ञसे इस जीवकी परिस्थिति छिपी नहीं है। वह सर्वशक्तिमान् तथा न्यायकर्ता भी है। जीवोंको बचानेके लिये न्यायानुकूल सहायता भी देता है, पद-पदमें सावधान करता रहता है पर अज्ञताके कारण जीव न समझे तो इसमें उस ईश्वरका क्या दोष ? यदि सूर्यके प्रकाशमें नेत्रोंके दोषके कारण उल्लूको अन्धकार मालूम हो तो सूर्यका क्या दोष ?

परमेश्वर बिना पूछे मार्ग बतलानेवाला एव हेतुरहित प्रेम करनेवाला है। वह तो शास्त्र एव महात्माओंद्वारा सत्परामर्श और सत्-शिक्षा देता है, जीवोंको दु ख देकर तमाशा देखना उस दयालु-के प्रेमी स्वभावसे बाहरकी बात है। ये जीव अज्ञानवश अपने आप भूलसे दु ख पाते हैं। वह दयालु परमेश्वर तो इन दुखी जीवोंको पूर्णतया सहायता करनेके लिये सब प्रकारसे तैयार है। पर पापी जीव अश्रद्धा और अज्ञानके कारण उस परमेश्वरसे लाभ नहीं उठाते। जिस प्रकार दीपकके पास पतगोंको देखकर दयालु पुरुष उन पतगों-को बचानेकी अनेक चेष्टा करते हैं, पर इस रहस्यको वे पतग नहीं समझ सकते, जबरन जल ही मरते हैं। उसी प्रकार ईश्वरके बार-बार बचानेपर भी ये अभागे जीव ससारके इस अनित्य तुच्छ विषय-जन्य सुखकी लोभनीय चमकमें चौंधियाकर उस अतुलनीय आनन्द-दाताकी दयाको भूल जाते हैं एव इसीमें फँस मरते हैं।

प्र०—भगवान् जिनके लिये 'योगक्षेम वहाम्यहम्' (९ । २२), 'ददामि बुद्धियोग तम्' (१० । १०), 'नचिरात् मृत्युससार-सागरात् उद्धर्ता' (१२ । ७), 'गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवास: शरण सुहृत्' (९ । १८), 'अभय सर्वभूतेभ्यो ददामि' (वा० रा० ६ । १८ । ३३) आदि कहते हैं, उनके सदृश भगवान्-का कृपापात्र मनुष्य कैसे बने ? क्या मनमें काम क्रोधादि विकारोंको भरे रखनेवाले मनुष्य भी ईश्वरके कृपापात्र माने जायँ ? एव ईश्वरके मित्र रहते हुए भी क्या राग-द्वेषादि चोर-डाकू जीवोंकी फजीहत करते हैं ?

उ०—ऐसा कृपापात्र बननेका उपाय भगवान्‌ने इन श्लोकोंके पहले श्लोकोंमें ही बतलाया है। जैसे—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
(गीता १०।९)

'वे निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले और मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन, सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
(गीता १२।६)

'जो मेरे परायण हुए भक्तजन, सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं।'

इन उपायोंका साधन करना चाहिये। इनका साधन करनेसे मनुष्य भगवान्‌की पूर्ण दयाका पात्र बन जाता है। उसको भगवान् अपना वास्तविक तत्त्व बना देते हैं। तुलसीदासजीका यह कहना बहुत ही ठीक है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।

जिसके मनमें काम-क्रोधादि विकार भरे हुए हैं वह भी ईश्वर

-की दयाका समानभावसे अवश्य पात्र है, पर अज्ञानवश वह भगवद्-दयाका लाभ नहीं उठा सकता। जिस प्रकार अज्ञानी पुरुषको गङ्गा-के किनारे रहते हुए भी बिना ज्ञानके उससे लाभ नहीं होता, दरिद्र मनुष्यको घरमें पारस रहते हुए भी उसको पत्थर समझनेके कारण लाभ नहीं मिलता। इसी प्रकार ईश्वरका तत्त्व न जाननेके कारण अज्ञानी उससे लाभ नहीं उठा सकता, क्योंकि ईश्वरके विषयमें जो जितना जानता है वह उतना ही लाभ उठा सकता है।

यद्यपि ईश्वर सबका प्रेमी, सुहृद् और रक्षक है पर जो ईश्वर-को प्रेमी और मित्र समझता है, परमेश्वर उसीकी सब प्रकार रक्षा करता है। जो उसको ऐसा नहीं समझता उसकी रक्षाका भार ईश्वरपर न होनेके कारण उसे ये काम-क्रोधादि डाकू लूटते रहते हैं, क्योंकि जो ईश्वरको नहीं मानता या उससे सहायता नहीं चाहता, ईश्वर उसकी सहायता करनेके लिये बाध्य नहीं है। ईश्वर न्यायप्रिय है एवं न्यायपरायणताको रखते हुए ही दयालु है।

प्र०—वह कौन-सा उपाय है जिसमें ईश्वर प्राणसे भी बढ़कर प्यारा लगे?

उ०—'ईश्वर क्या है?' इस बातका रहस्य जान लेनेपर अर्थात् ईश्वरको यथार्थरूपसे जान लेनेपर ईश्वर प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा लग सकता है।

प्र०—तुलसीदासजीने कहा है कि 'ईश्वरका कृपापात्र उसीको समझना चाहिये जिसके मनोविकार दूर हो गये हों एवं

जिसके प्रभु, साक्षी, गति, सुहृद् हों ।' मैं तो ईश्वरको अपना हितैषी तभी समझूँ जब वे मेरी राग-द्वेषादिसे रक्षा करें ।

उ०—ईश्वर समान भावसे सबका प्रभु, सुहृद् साक्षी होते हुए भी जो उसको वैसा समझ लेता है उसीके लिये ये गुण फलीभूत होते हैं । जिस क्षण आप ईश्वरको परम हितैषी, प्राणोंसे बढ़कर प्यारा समझ लेंगे, उसी क्षण आपके मनोविकार राग-द्वेषादि डाकू समूल नाश हो जायँगे । उसी समय आप ईश्वरकी विशेष दयाके पात्र समझे जायँगे । इसी भावको सामने रखकर तुलसीदासजीने कहा है—उसीको ईश्वरका कृपापात्र समझना चाहिये, जिसके मनोविकार दूर हो गये हों ।

प्र०—विविध साधनमार्गोंमें अर्थात् ज्ञान, योग, धर्माचरण, भक्ति आदि सभी साधनोंमें प्रेमयोगको श्रेष्ठ बतलाया गया है; क्योंकि गीताके 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' (७ । १९) इस कथनके अनुसार दूसरे साधन दीर्घकालके बाद परम पद देते हैं । जो सिद्धि प्रेमोपासक नामदेवजीको तीन बार दिनमें ही प्राप्त हो गयी, वही ज्ञानियोंको बहुत जन्मोंके बाद मिलती है । क्या यह ठीक है ?

उ०—ज्ञान, योग धर्माचरण, भक्ति आदि सभी साधनोंमें प्रधान प्रेमयोग है । यानी प्रेमसे—अनन्य भक्तिसे भगवान् बहुत शीघ्र प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं और वे तत्त्वसे जाने भी जाते हैं । गीतामें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(११ । ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्यभक्ति करके तो, इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

इसमें कोई सन्देह नहीं, पर आपने जो अन्य साधनोंको बहुत कालके बाद मोक्षफल देनेवाले बतलाते हुए 'बहूना जन्मनामन्ते' इस गीताके श्लोकका उदाहरण दिया सो ठीक नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान और भक्तिके साधनके फलका भेद नहीं बतलाता, परन्तु भक्तिके फलका ही वर्णन करता है । चार प्रकारके भक्तोंमेंसे ज्ञानी भक्तको श्रेष्ठ और दुर्लभ बतलानेके लिये यह श्लोक कहा गया है । अत. इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये कि बहुत जन्मोंके बादके अन्तिम जन्ममें मनुष्य भगवान् वासुदेवको सर्वरूप समझकर प्राप्त करता है ।

प्र०—आत्महत्या किसे कहते हैं ? क्या ऋषि शरभग, कुमारिल भट्ट आदिकी मृत्यु आत्महत्या नहीं कहलायगी ? क्या ईश्वरके लिये विवश होकर प्राण त्याग करना आत्महत्या नहीं कहलायगी ?

उ०—आत्महत्या दो प्रकारकी होती है—एक न्यायविरुद्ध काम, क्रोध, लोभ आदिके वशमें होकर प्रयत्न करके हठपूर्वक देहसे प्राणोंका वियोग करना एवं दूसरी मनुष्य-जन्म पाकर आत्माके उद्धारके लिये प्रयत्न न करनेके कारण पुनः संसारके जन्म-मरणरूप चक्करमें पड़ जाना ।

भृगि शरभंगका चितामें प्रवेश, कुमारिल भट्टका तुषमें जलना आत्महत्या नहीं कहलाती, क्योंकि इनका कार्य न्यायोचित था।

ईश्वरके लिये विवश होकर प्राणत्याग करनेवालेकी भी मृत्यु 'आत्महत्या' नहीं कहलायगी, पर शास्त्रोंमें ऐसे हठको ईश्वर-प्राप्तिका साधन नहीं बतलाया है।

ईश्वर और संसार

एक सज्जन निम्नलिखित प्रश्न करते हैं—

प्र०—वेद, पुराण, शास्त्र तथा अन्यान्य मतोंके ग्रन्थोंके देखनेसे प्रायः यही पता लगता है कि कर्मके अनुसार ही जीवात्मा एक योनिसे दूसरी योनिमें जन्म लेता है। यदि ऐसा ही है तो आरम्भमें जब संसार बना और प्रकृतिके भिन्न भिन्न साँचों (देहों) में शुद्ध, निर्मल, कर्मशून्य आत्माका प्रवेश हुआ, उस समय आत्माको कौन-सा कर्म लगा हुआ? यदि आत्माका आना जाना स्वाभाविक है तो भक्तिकी क्या आवश्यकता?

उ०—गुणों और कर्मोंके अनुसार ही जीवात्मा सदासे चौरासी लाख योनियोंमें जन्म लेता फिरता है। मनुष्य कीट, पतंग आदि प्रकृतिरचित योनियाँ सृष्टिके आदिमें प्रकट होती हैं और सृष्टिके अन्तमें उसी प्रकृतिमें वैसे ही लय हो जाती हैं जैसे नाना प्रकारके आभूषण स्वर्णसे उत्पन्न होकर अन्तमें स्वर्णमें ही लय हो जाते हैं। कारणरूप प्रकृति अनादि है। जिसको जीवात्मा

या व्यष्टिचेतन कहते हैं उसका इस प्रकृतिके साथ अनादि-कालसे सम्बन्ध चला आ रहा है। अवश्य ही यह सम्बन्ध अनादि होनेपर भी प्रयत्न करनेसे छूट सकता है। इस सम्बन्ध-विच्छेदको ही मुक्ति कहते हैं और इस मुक्तिके लिये ही भक्ति, कर्म और ज्ञानादि साधन बतलाये गये हैं।

आत्माका आना-जाना ऐसा स्वाभाविक नहीं है। जिसके रुकनेका कोई उपाय ही न हो। यदि यह कहा जाय कि 'जीवात्माका आना-जाना जब सदासे ही स्वाभावसिद्ध है तो फिर वह सदा ही रहना भी चाहिये, क्योंकि जो वस्तु अनादि होती है वह सदा ही रहती है।' परन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जीवात्माका आना-जाना अज्ञानजनित है। अज्ञान या भूल ही एक ऐसी वस्तु है जो अनादि होनेपर भी यथार्थ ज्ञान होनेके साथ ही नष्ट हो जाती है। यह बात सभी विषयोंमें प्रसिद्ध है। एक मनुष्यको जब किसी नये विषयका ज्ञान होता है तो उस विषयमें उसका पूर्वका अज्ञान नष्ट हो जाता है, परन्तु वह अज्ञान यथार्थ ज्ञान न होनेतक तो अनादि ही था, उसके आरम्भकी कोई भी तिथि नहीं थी। जब भौतिक ज्ञानसे भी भौतिक अज्ञान नष्ट हो जाता है तब परमार्थविषयक यथार्थ ज्ञान होनेपर अनादिकालसे रहनेवाले अज्ञानके नष्ट हो जानेमें आश्चर्य ही क्या है? प्रत्युत इसमें एक विशेषता है कि परमात्मा नित्य होनेके कारण तद्विषयक ज्ञान भी नित्य है। इसी ज्ञानके लिये भक्ति आदि साधन करने चाहिये।

प्र०—आरम्भमें जब ससार बना और इसमें मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदिके साँचे (शरीर) बने, वे कैसे बने? क्या तत्त्वोंके परस्पर

संयोगसे आप-ही-आप सब कुछ बन गया ! यदि ऐसा ही माना जाय तो इस समय भी प्रकृति, तत्त्व और आत्मा तो सभी हैं किन्तु आप-से-आप कोई साँचा नहीं बनता । यदि यह माना जाय कि स्वयं शुद्ध-बुद्ध परमात्माने स्थूल शरीर धारण कर अपने हाथोंसे प्रत्येक साँचे (शरीर) को गढ़ा है तो सबोंने परमात्माको निराकार क्यों बतलाया है ! स्त्री-पुरुषके संयोग बिना स्थूल शरीर बनना भी सम्भव नहीं । यदि किसी प्रकार बन भी जाय तो वह एकदेशीय व्यक्ति सर्वव्यापी नहीं हो सकता।

उ०—प्रकृतिकी शुरुआतका बनाया हुआ कोई भी संसार नहीं माना जा सकता । शुरुआत माननेसे यह सिद्ध हो जायगा कि पहले संसार नहीं था, परन्तु ऐसी बात नहीं है । उत्पत्ति-विनाश स्वरूप प्रवाहमय संसार सदासे ही है, ऐसा माना गया है । यदि यह मान लें कि शुरू शुरूमें तो किसी भी कालमें संसार बना ही होगा तो इससे शास्त्रकथित संसारका अनादित्व मिथ्या हो जायगा । केवल शास्त्रोंकी ही बात नहीं, तर्कसे भी यह सिद्ध नहीं हो सकता । पूर्वमें यदि एक ही शुद्ध वस्तु थी, संसारका कोई बीज नहीं था तो वह किस कारणसे, कैसे और क्यों बनता ! अवश्य ही यह सत्य है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर अनहोनी बात भी कर सकता है, परन्तु बिना ही कारण जीवोंके कोई भी कर्म न रहनेपर भी भिन्न-भिन्न स्थितियुक्त संसारको ईश्वर क्यों रचता ! यदि बिना ही कारण ईश्वरने यह भेदपूर्ण सृष्टि रची तो इससे ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्यका दोष आता है जो ईश्वरमें कदापि सम्भव नहीं !

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर-सकाशके बिना ही केवल प्रकृतिसे ही संसारकी रचना हो गयी तो प्रथम तो प्रकृतिके जड़ होनेसे ऐसा सम्भव नहीं, दूसरे जब पहले प्रकृति शुद्ध थी तो पीछेसे किसी कालमें स्वभावसे उसमें नाना प्रकारकी विकृति, बिना ही बीज और बिना ही हेतुके कैसे उत्पन्न हो गयी ? यदि प्रकृतिका स्वभाव ही ऐसा है तो वह पहले भी वैसा ही होना चाहिये और यदि पहले भी ऐसा ही था तो विकृति-प्रकृति यानी संसार अनादि ठहर ही जाता है। अतएव 'पहले प्रकृति शुद्ध थी, स्वभावसे या ईश्वरकी इच्छासे अकारण ही संसारकी उत्पत्ति हो गयी' यह बात शास्त्र और तर्कसे सिद्ध नहीं होती। इससे यही समझना चाहिये कि परमात्मा, जीव, प्रकृति और प्रकृतिका कार्य चराचर योनियोंसहित संसार-कर्म और इनका परस्पर सम्बन्ध—ये अनादि हैं। इनमें प्रकृतिका कार्य-रूप संसार और कर्म तो उत्पत्ति-विनाशके प्रवाहरूपमें अनादि हैं। इनका स्थायी एक-सा स्वरूप नहीं रहता। इसलिये प्रकृतिके कार्य-रूप संसार और कर्मको आदि-अन्तवाले, क्षणभंगुर, अनित्य और नाशवान् बतलाया है। प्रकृति और प्रकृतिका जीवके साथ सम्बन्ध अनादि है, परन्तु सान्त है। इस विषयका विशेष वर्णन 'तत्त्व-चिन्तामणि भाग १' लेख-संख्या ३ में 'भ्रम अनादि और सान्त है' शीर्षक लेखमें देखना चाहिये।

बहुत सूक्ष्म विचार और शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका मनन करनेसे प्रकृति भी अनादि और सान्त ही ठहरती है। वेदान्त-शास्त्र प्रकृति-को परमेश्वरके एक अंशमें अध्यारोपित मानता है। वेदान्तके

संयोगसे आप-ही-आप सब कुछ बन गया ? यदि ऐसा ही माना जाय तो इस समय भी प्रकृति, तत्त्व और आत्मा तो यही हैं किन्तु आप-से-आप कोई साँचा नहीं बनता । यदि यह माना जाय कि स्वयं शुद्ध-बुद्ध परमात्माने स्थूल शरीर धारण कर अपने हाथोंसे प्रत्येक साँचे (शरीर) को गढ़ा है तो संतोंने परमात्माको निराकार क्यों बतलाया है ? स्त्री-पुरुषके संयोग बिना स्थूल शरीर बनना भी सम्भव नहीं । यदि किसी प्रकार बन भी जाय तो वह एकदेशीय व्यक्ति सर्वव्यापी नहीं हो सकता।

उ०—प्रकृतिकी शुरुआतका बनाया हुआ कोई भी संसार नहीं माना जा सकता । शुरुआत माननेसे यह सिद्ध हो जायगा कि पहले संसार नहीं था, परन्तु ऐसी बात नहीं है । उत्पत्ति-विनाश-स्वरूप प्रवाहमय संसार सदासे ही है, ऐसा माना गया है । यदि यह मान लें कि शुरू शुरूमें तो किसी भी कालमें संसार बना ही होगा तो इससे शास्त्रकथित संसारका अनादित्व मिथ्या हो जायगा । केवल शास्त्रोंकी ही बात नहीं, तर्कसे भी यह सिद्ध नहीं हो सकता । पूर्वमें यदि एक ही शुद्ध वस्तु थी, संसारका कोई बीज नहीं था तो यह किस कारणसे, कैसे और क्यों बनता ? अवश्य ही यह सत्य है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर अनहोनी बात भी कर सकता है, परन्तु बिना ही कारण जीवोंके कोई भी कर्म न रहनेपर भी भिन्न-भिन्न स्थितियुक्त संसारको ईश्वर क्यों रचता ? यदि बिना ही कारण ईश्वरने यह भेदपूर्ण सृष्टि रची तो इससे ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्यका दोष आता है जो ईश्वरमें कदापि सम्भव नहीं ।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर-सकाशके बिना ही केवल प्रकृतिसे ही संसारकी रचना हो गयी तो प्रथम तो प्रकृतिके जड़ होनेसे ऐसा सम्भव नहीं, दूसरे जब पहले प्रकृति शुद्ध थी तो पीछेसे किसी कालमें स्वभावसे उसमें नाना प्रकारकी विकृति, बिना ही बीज और बिना ही हेतुके कैसे उत्पन्न हो गयी ? यदि प्रकृतिका स्वभाव ही ऐसा है तो वह पहले भी वैसा ही होना चाहिये और यदि पहले भी ऐसा ही था तो विकृति-प्रकृति यानी संसार अनादि ठहर ही जाता है। अतएव 'पहले प्रकृति शुद्ध थी, स्वभावसे या ईश्वरकी इच्छासे अकारण ही संसारकी उत्पत्ति हो गयी' यह बात शास्त्र और तर्कसे सिद्ध नहीं होती। इससे यही समझना चाहिये कि परमात्मा, जीव, प्रकृति और प्रकृतिका कार्य चराचर योनियोंसहित संसार-कर्म और इनका परस्पर सम्बन्ध—ये अनादि हैं। इनमें प्रकृतिका कार्य-रूप संसार और कर्म तो उत्पत्ति-विनाशके प्रवाहरूपमें अनादि हैं। इनका स्थायी एक-सा स्वरूप नहीं रहता। इसलिये प्रकृतिके कार्य-रूप संसार और कर्मको आदि-अन्तवाले, क्षणभंगुर, अनित्य और नाशवान् बतलाया है। प्रकृति और प्रकृतिका जीवके साथ सम्बन्ध अनादि है, परन्तु सान्त है। इस विषयका विशेष वर्णन 'तत्त्व-चिन्तामणि भाग १' लेख-संख्या ३ में 'भ्रम अनादि और सान्त है' शीर्षक लेखमें देखना चाहिये।

बहुत सूक्ष्म विचार और शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका मनन करनेसे प्रकृति भी अनादि और सान्त ही ठहरती है। वेदान्त-शास्त्र प्रकृति-को परमेश्वरके एक अंशमें अध्यारोपित मानता है। वेदान्तके

सिद्धान्तसे ज्ञान होनेपर अनादि प्रकृतिका भी अभाव हो जाता है। सांख्य और योगशास्त्र, जो अत्यन्त तर्कयुक्त दर्शन हैं और जो प्रकृति पुरुषको अनादि और नित्य माननेवाले हैं, वे भी प्रकृति पुरुषके संयोगको तो अनादि और सान्त मानते हैं। इनके संयोगके अभावको ही दुःखोंका अभाव मानते हैं और उसीको मुक्ति कहते हैं और यह भी मानते हैं कि जो जीव मुक्त या कृतकृत्य हो जाता है उसके लिये प्रकृतिका विनाश हो गया। प्रकृति उन्हींके लिये रहती है, जिनको ज्ञान नहीं है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।
(योग २।२२)

इन दर्शनोंने यह भी माना है कि प्रकृति और पुरुषकी पृथक्-पृथक् उपलब्धि संयोगके हेतुसे होती है। इस संयोगका हेतु अज्ञान है। ज्ञान होनेपर तो उस आत्माकी 'कैवल्य' अवस्था बतलायी गयी है, यदि सबकी मुक्ति हो जाय तो इनके सिद्धान्तसे भी प्रकृतिका अभाव सम्भव है क्योंकि मुक्त ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृतिका नाश हो जाता है। अज्ञानके कारण अज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृति रहती है। परन्तु अज्ञानीकी दृष्टिका कोई मूल्य नहीं। ज्ञानीकी दृष्टि ही वास्तवमें सत्य है। अतएव सबको ज्ञान हो जानेपर किसी भी दृष्टिसे प्रकृति का रहना सिद्ध नहीं हो सकता। इन सब सूक्ष्म विचारोंसे यही सिद्ध होता है कि प्रकृति और जीवोंके कर्म भी अज्ञानकी भाँति अनादि और सान्त ही हैं। ऐसी परम वस्तु तो एक आत्मा ही है जो अनादि नित्य और सत् है।

न्याय और वैशेषिकके सिद्धान्तसे अनेक पदार्थोंको सत्य माना जाता है, परन्तु उनकी सत्ता और सिद्धि तो थोड़े-से विचारमे ही उड जाती है। जैसे वर्षासे बालूकी भीत वह जाती है या जैसे स्वप्नमें देखे हुए अनेक पदार्थोंकी सत्ता जागनेके बाद भिन्न-भिन्न नहीं रहकर एक द्रष्टा ही रह जाता है, ऐसे ही विचार करनेपर भिन्न भिन्न सत्ताओंका अभाव होकर एक आत्मसत्ता ही शेप रह जाती है। दूसरी सत्ताको स्थान दिया जाय तो स्वभाव या जिसे प्रकृति कहते हैं, उसको जगह मिल जाती है, परन्तु वह ज्ञान न होनेतक ही रहती है। जिसको स्वप्न आता है, उस पुरुषके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। स्वप्नसे जागनेके बाद स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीकी जो सत्ता ठहरती है, वही सत्ता इस संसारसे जागनेके बाद स्थूल आकाशादि-की ठहरती है, अतएव यह सोचना चाहिये कि स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीके परमाणुओंकी पृथक्-पृथक् सत्ता किस मूल भित्तिपर स्थित है?

यह तो सिद्ध हो गया कि साँचे या शरीर उत्पत्ति-विनाशरूपसे अनादि हैं। अब यह प्रश्न रह जाता है कि सृष्टिके आदिमें सर्वप्रथम ये कैसे बने? अपने आप बने या निराकार परमेश्वरने साकाररूपसे प्रकट होकर इनको बनाया अथवा निराकाररूपके द्वारा ही वे साकार साँचे ढल गये? यदि निराकार ईश्वर साकार बना तो वह एकदेशी होनेपर सर्वव्यापी कैसे रहा?

यह प्रश्न ऐसा नहीं है जिसपर बहुत सोचनेकी आवश्यकता-

सिद्धान्तसे ज्ञान होनेपर अनादि प्रकृतिका भी अभाव हो जाता है। सांख्य और योगशास्त्र, जो अत्यन्त तर्कयुक्त दर्शन हैं और जो प्रकृति पुरुषको अनादि और नित्य माननेवाले हैं, वे भी प्रकृति पुरुषके संयोगको तो अनादि और सान्त मानते हैं। इनके संयोगके अभावको ही दु:खोंका अभाव मानते हैं और उसीको मुक्ति कहते हैं और यह भी मानते हैं कि जो जीव मुक्त या कृतकृत्य हो जाता है उसके लिये प्रकृतिका विनाश हो गया। प्रकृति उन्हींके लिये रहती है, जिनको ज्ञान नहीं है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।
(योग २।२२)

इन दर्शनोंने यह भी माना है कि प्रकृति और पुरुषकी पृथक्-पृथक् उपलब्धि संयोगके हेतुसे होती है। इस संयोगका हेतु अज्ञान है। ज्ञान होनेपर तो उस आत्माकी 'कैवल्य' अवस्था बतलायी गयी है, यदि सबकी मुक्ति हो जाय तो इनके सिद्धान्तसे भी प्रकृतिका अभाव सम्भव है; क्योंकि मुक्त ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृतिका नाश हो जाता है। अज्ञानके कारण अज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृति रहती है। परन्तु अज्ञानीकी दृष्टिका कोई मूल्य नहीं। ज्ञानीकी दृष्टि ही वास्तवमें सत्य है। अतएव सबको ज्ञान हो जानेपर किसी भी दृष्टिसे प्रकृतिका रहना सिद्ध नहीं हो सकता। इन सब सूक्ष्म विचारोंसे यही सिद्ध होता है कि प्रकृति और जीवोंके कर्म भी अज्ञानकी भाँति अनादि और सान्त ही हैं। ऐसी परम वस्तु तो एक आत्मा ही है जो अनादि, नित्य और सत् है।

न्याय और वैशेषिकके सिद्धान्तसे अनेक पदार्थोंको सत्य माना जाता है, परन्तु उनकी सत्ता और सिद्धि तो थोड़े-से विचारमे ही उड़ जाती है। जैसे वर्षासे बालूकी भीत बह जाती है या जैसे स्वप्नमें देखे हुए अनेक पदार्थोंकी सत्ता जागनेके बाद भिन्न-भिन्न नहीं रहकर एक द्रष्टा ही रह जाता है, ऐसे ही विचार करनेपर भिन्न भिन्न सत्ताओंका अभाव होकर एक आत्मसत्ता ही शेष रह जाती है। दूसरी सत्ताको स्थान दिया जाय तो स्वभाव या जिसे प्रकृति कहते हैं, उसको जगह मिल जाती है, परन्तु वह ज्ञान न होनेतक ही रहती है। जिसको स्वप्न आता है, उस पुरुषके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। स्वप्नसे जागनेके बाद स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीकी जो सत्ता ठहरती है, वही सत्ता इस संसारसे जागनेके बाद स्थूल आकाशादिकी ठहरती है, अतएव यह सोचना चाहिये कि स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीके परमाणुओंकी पृथक्-पृथक् सत्ता किस मूल भित्तिपर स्थित है?

यह तो सिद्ध हो गया कि साँचे या शरीर उत्पत्ति विनाशरूपसे अनादि हैं। अब यह प्रश्न रह जाता है कि सृष्टिके आदिमें सर्वप्रथम ये कैसे बने? अपने आप बने या निराकार परमेश्वरने साकाररूपसे प्रकट होकर इनको बनाया अथवा निराकाररूपके द्वारा ही वे साकार साँचे ढल गये? यदि निराकार ईश्वर साकार बना तो वह एकदेशी होनेपर सर्वव्यापी कैसे रहा?

यह प्रश्न ऐसा नहीं है जिसपर बहुत सोचनेकी आवश्यकता

हो। शान्तिपूर्वक विचार करनेपर इसका समाधान तो अनायास ही हो सकता है। महासर्गके आदिमें परमेश्वररूप पिता और प्रकृतिरूप माताके संयोगसे सब जीवोंके गुण-कर्मानुसार शरीर उत्पन्न होते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥
(१४।३४)

'हे अर्जुन! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है, अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ, इस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है तथा हे अर्जुन! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

यदि यह पूछा जाय कि दोनों पदार्थ आरम्भमें निराकार थे फिर इन दोनोंके सम्बन्धसे स्थूल देहोंकी उत्पत्ति कैसे हो गयी? इसका उत्तर यह है कि जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंमें निराकार रूपसे जल स्थित है, वही अव्यक्त सूक्ष्म जल वायुके संघर्षणसे धूमरूपको प्राप्त हो फिर बादलके रूपमें परिणत होकर स्पष्ट रूपसे व्यक्त द्रव जलके रूपमें होकर अन्तमें बर्फका पिण्ड बन जाता

है, वैसे ही इस सृष्टिके आदिमें प्रकृतिमें लयरूपसे स्थित ससार भी प्रकृति और परमेश्वरके सघर्षणसे बर्फ-पिण्डकी भाँति मूर्तरूपमें प्रकट हो जाता है। यह तो मानना ही होगा कि आकाशमें बर्फके पिण्ड स्थित नहीं हैं, होते तो वहाँ ठहर ही नहीं सकते। आकाशकी निराकारता भी स्पष्ट देखनेमें आती है, पर देखते-ही-देखते निर्मल आकाशमें मेघोंकी उत्पत्ति हो जाती है। विज्ञान और विचारसे यह सिद्ध है कि सूर्यकी किरणोंमें स्थित निराकार परमाणुरूप जल ही मेघ और स्थूल जलके रूपमें परिणत होता है। इसी प्रकार आकाशमें निराकाररूपसे रहनेवाली अग्नि कभी-कभी बादलोंके अदर बिजलीके रूपमें चमकती हुई दीखती है। कभी कहीं गिरती है तो उस स्थानको जलाकर तहस-नहस कर डालती है। जब अग्नि और जल आदि स्थूल पदार्थ भी निराकारसे साकार बन जाते हैं तब निराकार ईश्वर और प्रकृतिके सयोगसे निराकार ससारका साकार-रूपमें आना कौन बडी बात है?

यह भी समझनेकी बात है कि जो साकार वस्तु जिससे उत्पन्न होती है वह लय भी उसीमे होती है। वायुके द्वारा निर्मल निराकार आकाशमे बिजली उत्पन्न होती है और फिर उसी आकाशमें शान्त हो जाती है। तेजके संघर्षणसे जलकी उत्पत्ति होती है, शीतसे उसका पिण्ड बन जाता है। फिर वही जल तेजसे तपाये जानेपर द्रव होकर भाफके रूपमें परिणत होता हुआ अन्तमें आकाशमें जाकर रम जाता है। इसी प्रकार जीवोंके शरीर भी सृष्टिके आदिमें गुण-कर्मानुसार प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें फिर उसीमें लीन हो जाते हैं यह आदि-अन्तका प्रवाह अनादि है।

प्रकृतिका रूप किसी समय सक्रिय होता है और किसी समय अक्रिय, यह उसका स्वभाव है। जिस समय सत्त्व, रज, तम तीनों गुण साम्यावस्थामें स्थित रहते हैं तब यह गुणमयी प्रकृति अक्रिय-रूपमें रहती है और जब तीनों गुण विषमावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं, तब प्रकृतिका रूप सक्रिय बन जाता है। सक्रिय प्रकृति ईश्वरके सम्बन्धसे गर्भस्थ जीवोंका मूर्तरूपमें प्रकट करती है। भगवान् कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९।१०)

'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित समस्त जगत्को रचती है और इसी उपर्युक्त हेतुसे यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है।'

परमेश्वर निराकार रहते हुए भी साकार-रूप धारणकर किस प्रकार सर्वव्यापी रहता है, इस बातको समझनेके लिये अग्निका उदाहरण सामने रखना चाहिये। एक निराकार अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, वही हमारे शरीरके अंदर भी है जो खाये हुए अन्नको पचा देती है। अग्नि न हो तो अन्न पचे नहीं और यदि वह व्यक्त हो तो शरीरको भस्म कर दे। इससे सिद्ध होता है कि हमारे अंदर अव्यक्त अग्नि है। यही सर्वत्र व्याप्त निराकार अव्यक्त अग्नि ईंधन और संघर्षणसे साकार बन जाती है। जिस समय अग्निका साकार रूप नहीं होता उस समय भी वह काठ आदिमें निराकाररूपसे रहती है। न रहती तो संघर्षणसे प्रकट कैसे होती? फिर वही अग्नि

जब शान्त कर दी जाती है तब फिर निराकाररूपमें परिणत हो जाती है। जिस समय वह ज्वालाके रूपमें एक स्थानमें प्रकट होती है, उस समय कोई भी यह नहीं कह सकता कि जब अग्नि यहाँ प्रकट हो गयी तो अन्यान्य स्थानोंमें नहीं है। यह निश्चित बात है कि एक या अनेक जगह एक ही साथ प्रकट होनेपर भी निराकार अग्नि व्यापकरूपसे सभी जगह वर्तमान रहती है। इसी प्रकार परमात्मा भी मायाके सम्बन्धसे एक या अनेक जगह साकाररूपसे प्रकट होकर भी उसी कालमें निराकार व्यापकरूपसे सर्वव्यापी रहता है। उसकी सर्वव्यापकता और पूर्णतामें कभी कोई कमी नहीं हो सकती। अग्निका उदाहरण भी केवल समझानेके लिये ही दिया गया है। वास्तवमें परमात्माकी सर्वव्यापकताके साथ अग्निकी सर्वव्यापकताकी तुलना नहीं हो सकती।

प्र०—ईश्वरने प्रकृति और ससारको बनाया, इसमें उसका क्या प्रयोजन था ?

उ०—प्रकृतिको ईश्वरने नहीं बनाया, प्रकृति तो उसी वस्तुका नाम है जो सदासे स्वाभाविक ही हो। अवश्य ही चराचर जगत्‌को भगवान्‌ने बनाया है। इसमें उन न्यायकारी, सर्वव्यापी, दयामय, परमात्माकी अहैतुकी दया ही समझनी चाहिये। जिन जीवोंके पूर्वमें जैसे गुण और कर्म थे, उन सब चराचर जीवोंको भगवान् उन्हींके गुण-कर्मानुसार देहसहित उत्पन्न करते हैं। स्वार्थ, आसक्ति और हेतुरहित न्यायकर्ता होनेके कारण जीवोंके गुण-कर्मानुसार रचयिता होनेपर भी

प्रकृतिका रूप किसी समय सक्रिय होता है और किसी समय अक्रिय, यह उसका स्वभाव है। जिस समय सत्त्व, रज, तम तीनों गुण साम्यावस्थामें स्थित रहते हैं तब यह गुणमयी प्रकृति अक्रिय-रूपमें रहती है और जब तीनों गुण विषमावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं, तब प्रकृतिका रूप सक्रिय बन जाता है। सक्रिय प्रकृति ईश्वरके सम्बन्धसे गर्भस्थ जीवोंको मूर्तरूपमें प्रकट करती है। भगवान् कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९।१०)

'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित समस्त जगत्को रचती है और इसी उपर्युक्त हेतुसे यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है।'

परमेश्वर निराकार रहते हुए भी साकार-रूप धारणकर किस प्रकार सर्वव्यापी रहता है, इस बातको समझनेके लिये अग्निका उदाहरण सामने रखना चाहिये। एक निराकार अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, यही हमारे शरीरके अंदर भी है जो खाये हुए अन्नको पचा देती है। अग्नि न हो तो अन्न पचे नहीं और यदि वह व्यक्त हो तो शरीरको भस्म कर दे। इससे सिद्ध होता है कि हमारे अंदर अव्यक्त अग्नि है। यही सर्वत्र व्याप्त निराकार अव्यक्त अग्नि ईंधन और संघर्षणसे साकार बन जाती है। जिस समय अग्निका साकार रूप नहीं होता, उस समय भी वह काठ आदिमें निराकाररूपसे रहती है। न रहती तो संघर्षणसे प्रकट कैसे होती? फिर वही अग्नि

इस विषयमें मनस्वियोंमें बड़ा मतभेद है, जो लोग जीवकी सत्ता केवल मृत्युतक ही समझते हैं और पुनर्जन्म आदि बिल्कुल नहीं मानते, उनकी तो कोई बात ही नहीं है, परन्तु पुनर्जन्म माननेवालोंमें भी मतभेदकी कमी नहीं है, इस अवस्थामे अमुक मत ही सर्वथा सत्य है, यह कहनेका मैं अपना कोई अधिकार नहीं समझता तथापि अपने विचारोंको नम्रताके साथ पाठकोंके सम्मुख इसीलिये रखता हूँ कि वे इस विषयका मनन अवश्य करें ।

वेदान्तके मतसे तो संसार मायाका कार्य होनेसे वास्तवमें गमनागमनका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता, परन्तु यह सिद्धान्त समझानेकी वस्तु नहीं है, यह तो वास्तविक स्थिति है, इस स्थिति-में स्थित पुरुष ही इसका यथार्थ रहस्य जानते हैं । जिस यथार्थतामें एक शुद्ध सत् चित् आनन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्यका सर्वथा अभाव है उसमें तो कुछ भी कहना-सुनना सम्भव नहीं होता, जहाँ व्यवहार है, वहाँ सृष्टि, जीव, जीवके कर्म, कर्मानुसार गमनागमन और भोग आदि सभी सत्य हैं । अतएव यही समझकर यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है ।

जीव अपनी पूर्वकी योनिसे योनिके अनुसार साधनोंद्वारा प्रारब्ध कर्मका फल भोगनेके लिये पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मराशिके अनन्त संस्कारोंको साथ लेकर सूक्ष्म शरीरसहित परवश नयी योनिमें आता है । गर्भसे पैदा होनेवाला जीव अपनी योनिका गर्भकाल पूरा होनेपर प्रसूतिरूप अपान-वायुकी प्रेरणासे बाहर निकलता है और मृत्युके समय प्राण निकलनेपर सूक्ष्म शरीर और शुभाशुभ कर्मराशिके

भगवान् अकर्ता ही माने जाते हैं। परन्तु जीवोंका दुःख दूर करनेको वे अपनी मर्यादाके अनुसार सदा-सर्वदा उनके लिये दयायुक्त विधान ही किया करते हैं। यहाँतक कि समय-समयपर अपनी प्रकृतिको वश करके सगुण-साकाररूपमें प्रकट होकर जीवोंके कल्याणार्थ प्रयत्न करते हैं। ऐसे अहैतुक दयालु और परम सुहृद् परमात्माका भजन करना ही जीवमात्रका कर्तव्य है।

जीव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

एक सज्जनका प्रश्न है कि इस देहमें जीव कहाँसे, कैसे और क्यों आता है, क्या-क्या वस्तुएँ साथ लाता है, गर्भसे बाहर कैसे निकलता है और प्राण निकलनेपर कहाँ, कैसे और क्यों जाता है तथा क्या-क्या वस्तुएँ साथ ले जाता है ?' प्रश्नकर्त्ताने शास्त्रप्रमाण और युक्तियोंसहित उत्तर लिखनेका अनुरोध किया है।

प्रश्न वास्तवमें बड़ा गहन है, इसका वास्तविक उत्तर तो सर्वज्ञ योगी-महात्मागण ही दे सकते हैं, मेरा तो इस विषयपर कुछ लिखना एक विनोदके सदृश है। मैं किसीको यह माननेके लिये बाध्य नहीं करता कि इस प्रश्नपर मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, सो सर्वथा निर्भ्रान्त और यथार्थ है, क्योंकि ऐसा कहनेका मैं कोई अधिकार नहीं रखता। अवश्य ही शास्त्र, संत-महात्माओंके प्रसादसे मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ समझा है, उसमें मुझे तनिक कोई शङ्का नहीं है।

इस विषयमें मनस्वियोंमे बड़ा मतभेद है, जो लोग जीवकी सत्ता केवल मृत्युतक ही समझते हैं और पुनर्जन्म आदि बिल्कुल नहीं मानते, उनकी तो कोई बात ही नहीं है, परन्तु पुनर्जन्म माननेवालोंमें भी मतभेदकी कमी नहीं है, इस अवस्थामें अमुक मत ही सर्वथा सत्य है, यह कहनेका मैं अपना कोई अधिकार नहीं समझता तथापि अपने विचारोंको नम्रताके साथ पाठकोंके सम्मुख इसीलिये रखता हूँ कि वे इस विषयका मनन अवश्य करें ।

वेदान्तके मतसे तो ससार मायाका कार्य होनेसे वास्तवमें गमनागमनका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता, परन्तु यह सिद्धान्त समझानेकी वस्तु नहीं है, यह तो वास्तविक स्थिति है, इस स्थितिमें स्थित पुरुष ही इसका यथार्थ रहस्य जानते हैं । जिस यथार्थतामें एक शुद्ध सत् चित् आनन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्यका सर्वथा अभाव है उसमें तो कुछ भी कहना-सुनना सम्भव नहीं होता, जहाँ व्यवहार है, वहाँ सृष्टि, जीव, जीवके कर्म, कर्मानुसार गमनागमन और भोग आदि सभी सत्य हैं । अतएव यही समझकर यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है ।

जीव अपनी पूर्वकी योनिसे योनिके अनुसार साधनोंद्वारा प्रारब्ध कर्मका फल भोगनेके लिये पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मराशिके अनन्त संस्कारोंको साथ लेकर सूक्ष्म शरीरसहित परवश नयी योनिमें आता है । गर्भसे पैदा होनेवाला जीव अपनी योनिका गर्भकाल पूरा होनेपर प्रसूतिरूप अपान-वायुकी प्रेरणासे बाहर निकलता है और मृत्युके समय प्राण निकलनेपर सूक्ष्म शरीर और शुभाशुभ कर्मराशिके

भगवान् अकर्ता ही माने जाते हैं। परन्तु जीवोंका दुःख दूर करनेको वे अपनी मर्यादाके अनुसार सदा-सर्वत्र उनके लिये दयायुक्त विधान ही किया करते हैं। यहाँतक कि समय-समयपर अपनी प्रकृतिको वश करके सगुण-साकाररूपमें प्रकट होकर जीवोंके कल्याणार्थ प्रयत्न करते हैं। ऐसे अहैतुक दयालु और परम सुहृद् परमात्माका भजन करना ही जीवमात्रका कर्तव्य है।

जीव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

एक सज्जनका प्रश्न है कि 'इस देहमें जीव कहाँसे, कैसे और क्यों आता है, क्या-क्या वस्तुएँ साथ लाता है, गर्भसे बाहर कैसे निकलता है और प्राण निकलनेपर कहाँ, कैसे और क्यों जाता है तथा क्या-क्या वस्तुएँ साथ ले जाता है?' प्रश्नकर्त्ताने शास्त्रप्रमाण और युक्तियोंसहित उत्तर लिखनेका अनुरोध किया है।

प्रश्न वास्तवमें बड़ा गहन है, इसका वास्तविक उत्तर तो सर्वज्ञ योगी-महात्मागण ही दे सकते हैं मेरा तो इस विषयपर कुछ लिखना एक विनोदके समान है। मैं किसीको यह माननेके लिये बाध्य नहीं करता कि इस प्रश्नपर मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, सो सर्वथा निर्भ्रान्त और यथार्थ है, क्योंकि ऐसा कहनेका मैं कोई अधिकार नहीं रखता। अवश्य ही शास्त्र, सत-महात्माओंके प्रसादसे मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ समझा है उसमें मुझे तत्त्वतः कोई शङ्का नहीं है।

इस विषयमें मनस्वियोंमें बड़ा मतभेद है, जो लोग जीवकी सत्ता केवल मृत्युतक ही समझते हैं और पुनर्जन्म आदि बिल्कुल नहीं मानते, उनकी तो कोई बात ही नहीं है, परन्तु पुनर्जन्म माननेवालोंमें भी मतभेदकी कमी नहीं है, इस अवस्थामें अमुक मत ही सर्वथा सत्य है, यह कहनेका मैं अपना कोई अधिकार नहीं समझता तथापि अपने विचारोंको नम्रताके साथ पाठकोंके सम्मुख इसीलिये रखता हूँ कि वे इस विषयका मनन अवश्य करें।

वेदान्तके मतसे तो संसार मायाका कार्य होनेसे वास्तवमें गमनागमनका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता, परन्तु यह सिद्धान्त समझानेकी वस्तु नहीं है, यह तो वास्तविक स्थिति है, इस स्थितिमें स्थित पुरुष ही इसका यथार्थ रहस्य जानते हैं। जिस यथार्थतामें एक शुद्ध सत् चित् आनन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्यका सर्वथा अभाव है उसमें तो कुछ भी कहना-सुनना सम्भव नहीं होता, जहाँ व्यवहार है, वहाँ सृष्टि, जीव, जीवके कर्म, कर्मानुसार गमनागमन और भोग आदि सभी सत्य हैं। अतएव यही समझकर यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

जीव अपनी पूर्वकी योनिसे योनिके अनुसार साधनोंद्वारा प्रारब्ध कर्मका फल भोगनेके लिये पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मराशिके अनन्त संस्कारोंको साथ लेकर सूक्ष्म शरीरसहित परवश नयी योनिमें आता है। गर्भसे पैदा होनेवाला जीव अपनी योनिका गर्भकाल पूरा होनेपर प्रसूतिरूप अपान-वायुकी प्रेरणासे बाहर निकलता है और मृत्युके समय प्राण निकलनेपर सूक्ष्म शरीर और शुभाशुभ कर्मराशिके

भगवान् अकर्ता ही माने जाते हैं। परन्तु जीवोंका दुःख दूर करनेको वे अपनी मर्यादाके अनुसार सदा-सर्वदा उनके लिये दयायुक्त विधान ही किया करते हैं। यहाँतक कि समय-समयपर अपनी प्रकृतिको वश करके सगुण-साकाररूपमें प्रकट होकर जीवोंके कल्याणार्थ प्रयत्न करते हैं। ऐसे अहैतुक दयालु और परम सुहृद् परमात्माका भजन करना ही जीवमात्रका कर्तव्य है।

जीव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

एक सज्जनका प्रश्न है कि 'इस देहमें जीव कहाँसे, कैसे और क्यों आता है क्या-क्या वस्तुएँ साथ लाता है, गर्भसे बाहर कैसे निकलता है और प्राण निकलनेपर कहाँ, कैसे और क्यों जाता है तथा क्या-क्या वस्तुएँ साथ ले जाता है?' प्रश्नकर्ताने शास्त्रप्रमाण और युक्तियोंसहित उत्तर लिखनेका अनुरोध किया है।

प्रश्न वास्तवमें बड़ा गहन है, इसका वास्तविक उत्तर तो सर्वज्ञ योगी-महात्मागण ही दे सकते हैं, मेरा तो इस विषयपर कुछ लिखना एक विनोदके सदृश है। मैं किसीको यह माननेके लिये आग्रह नहीं करता कि इस प्रश्नपर मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, वो सर्वथा निर्भ्रान्त और यथार्थ है, क्योंकि ऐसा कहनेका मैं कोई अधिकार नहीं रखता। अवश्य ही शास्त्र, सत-महात्माओंके प्रसादसे मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ समझा है, उसमें मुझे तनिक कोई शङ्का नहीं है।

इस विषयमें मनस्वियोंमें बड़ा मतभेद है, जो लोग जीवकी सत्ता केवल मृत्युतक ही समझते हैं और पुनर्जन्म आदि बिल्कुल नहीं मानते, उनकी तो कोई बात ही नहीं है, परन्तु पुनर्जन्म माननेवालोंमें भी मतभेदकी कमी नहीं है, इस अवस्थामें अमुक मत ही सर्वथा सत्य है, यह कहनेका मैं अपना कोई अधिकार नहीं समझता तथापि अपने विचारोंको नम्रताके साथ पाठकोंके सम्मुख इसीलिये रखता हूँ कि वे इस विषयका मनन अवश्य करें।

वेदान्तके मतसे तो संसार मायाका कार्य होनेसे वास्तवमें गमनागमनका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता, परन्तु यह सिद्धान्त समझानेकी वस्तु नहीं है, यह तो वास्तविक स्थिति है, इस स्थितिमें स्थित पुरुष ही इसका यथार्थ रहस्य जानते हैं। जिस यथार्थतामें एक शुद्ध सत् चित् आनन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्यका सर्वथा अभाव है उसमें तो कुछ भी कहना-सुनना सम्भव नहीं होता, जहाँ व्यवहार है, वहाँ सृष्टि, जीव, जीवके कर्म, कर्मानुसार गमनागमन और भोग आदि सभी सत्य हैं। अतएव यही समझकर यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

जीव अपनी पूर्वकी योनिसे योनिके अनुसार साधनोंद्वारा प्रारब्ध कर्मका फल भोगनेके लिये पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मराशिके अनन्त संस्कारोंको साथ लेकर सूक्ष्म शरीरसहित परवश नयी योनिमें आता है। गर्भसे पैदा होनेवाला जीव अपनी योनिका गर्भकाल पूरा होनेपर प्रसूतिरूप अपान-वायुकी प्रेरणासे बाहर निकलता है और मृत्युके समय प्राण निकलनेपर सूक्ष्म शरीर और शुभाशुभ कर्मराशिके

भगवान् अकर्ता ही माने जाते हैं। परन्तु जीवोंका दुःख दूर करनेको वे अपनी मर्यादाके अनुसार सदा-सर्वदा उनके लिये दयायुक्त विधान ही किया करते हैं। यहाँतक कि समय-समयपर अपनी प्रकृतिको वश करके सगुण-साकाररूपमें प्रकट होकर जीवोंके कल्याणार्थ प्रयत्न करते हैं। ऐसे अहैतुक दयालु और परम सुहृद् परमात्माका भजन करना ही जीवमात्रका कर्तव्य है।

जीव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

एक सज्जनका प्रश्न है कि 'इस देहमें जीव कहाँसे, कैसे और क्यों आता है, क्या-क्या वस्तुएँ साथ लाता है, गर्भसे बाहर कैसे निकलता है और प्राण निकलनेपर कहाँ, कैसे और क्यों जाता है तथा क्या-क्या वस्तुएँ साथ ले जाता है?' प्रश्नकर्ताने शास्त्रप्रमाण और युक्तियोंसहित उत्तर लिखनेका अनुरोध किया है।

प्रश्न वास्तवमें बड़ा गहन है; इसका वास्तविक उत्तर तो सर्वज्ञ योगी-महात्मागण ही दे सकते हैं मेरा तो इस विषयपर कुछ लिखना एक विनोदके सदृश है। मैं किसीको यह माननेके लिये आग्रह नहीं करता कि इस प्रश्नपर मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, सो सर्वथा निर्भ्रान्त और यथार्थ है, क्योंकि ऐसा कहनेका मैं कोई अधिकार नहीं रखता। अवश्य ही शास्त्र, संत-महात्माओंके प्रसादसे मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ समझा है, उसमें मुझे तनिक कोई शङ्का नहीं है।

पुरुषकी सङ्गति और कार्योंसे रजोगुण बढ़कर तम और सत्त्वको दबा लेता है तथा इसी प्रकार सत्त्वगुणी पुरुषकी सङ्गति और कार्योंसे सत्त्वगुण बढ़कर रज और तमको दबा लेता है (गीता १४ । १०) जिस समय जो गुण बढ़ा हुआ होता है, उसीमे मनुष्यकी स्थिति समझी जाती है और जिस स्थितिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार उसकी गति होती है । यह नियम है कि अन्तकालमें मनुष्य जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उसी प्रकारके भावको वह प्राप्त होता है (गीता ८ । ६) । सत्त्वगुणमें स्थिति होनेसे अन्तकालमें शुभ भावना या वासना होती है । शुभ वासनामें—सत्त्व-गुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेसे मनुष्य निर्मल ऊर्ध्वके लोकोंको जाता है ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि वासनाके अनुसार ही अच्छे-बुरे लोकोंकी प्राप्ति होती है तो कोई मनुष्य अशुभ वासना ही क्यों करेगा ? सभी कोई उत्तम लोकोंको पानेके लिये उत्तम वासना ही करेंगे ? इसका उत्तर यह है कि अन्तकालकी वासना या कामना अपने आप नहीं होती, वह प्राय उसके तात्कालिक कर्मोंके अनुसार ही हुआ करती है । आयुके शेषकालमें यानी अन्तकालके समय मनुष्य जैसे कर्मोंमें लिप्त रहता है, करीब-करीब उन्हींके अनुसार उसकी मरण-कालकी वासना होती है । मृत्युका कोई पता नहीं, कब आ जाय, इससे मनुष्यको सदा-सर्वदा उत्तम कर्मोंमें ही लगे रहना चाहिये । सर्वदा शुभ कर्मोंमें लगे रहनेसे ही वासना शुद्ध रहेगी, सर्वथा शुद्ध वासनाका रहना ही सत्त्वगुणी स्थिति है, क्योंकि देहके सभी द्वारोंमें चेतनता और बोधशक्तिका उत्पन्न होना ही सत्त्वगुणकी

संस्कारोंसहित कर्मानुसार भिन्न-भिन्न साधनों और मार्गोंद्वारा मरणकालकी कर्मजन्य वासनाके अनुसार परवशतासे भिन्न-भिन्न गतियोंको प्राप्त होता है। संक्षेपमें यही सिद्धान्त है। परन्तु इतने शब्दोंमें ही यह बात ठीक समझमें नहीं आती, शास्त्रोंके विविध प्रसङ्गोंमें भिन्न-भिन्न वर्णन पढ़कर भ्रम-सा हो जाता है, इसलिये कुछ विस्तारसे विवेचन किया जाता है—

तीन प्रकारकी गति

भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें मनुष्यकी तीन गतियाँ बतलायी हैं—अध, मध्य और ऊर्ध्व। तमोगुणसे नीची, रजोगुणसे बीचकी और सत्त्वगुणसे ऊँची गति प्राप्त होती है। भगवान्‌ने कहा है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(गीता १४। १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरुष, अधोगति अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको एवं नरकको प्राप्त होते हैं।' यह स्मरण रखना चाहिये कि तीनों गुणोंमेंसे किसी एक या दोका सर्वथा नाश नहीं होता, सङ्ग और कर्मोंके अनुसार कोई-सा एक गुण बढ़कर शेष दोनों गुणोंको दबा लेता है। तमोगुणी पुरुषोंकी सङ्गति और तमोगुणी कार्योंसे तमोगुण बढ़कर रज और सत्त्वको दबाता है रजोगुणी

पुरुषकी सङ्गति और कार्योंसे रजोगुण बढ़कर तम और सत्त्वको दबा लेता है तथा इसी प्रकार सत्त्वगुणी पुरुषकी सङ्गति और कार्योंसे सत्त्वगुण बढ़कर रज और तमको दबा लेता है (गीता १४ । १०) जिस समय जो गुण बढ़ा हुआ होता है, उसीमें मनुष्यकी स्थिति समझी जाती है और जिस स्थितिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार उसकी गति होती है । यह नियम है कि अन्तकालमें मनुष्य जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उसी प्रकारके भावको वह प्राप्त होता है (गीता ८ । ६) । सत्त्वगुणमें स्थिति होनेसे अन्तकालमें शुभ भावना या वासना होती है । शुभ वासनामें—सत्त्व-गुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेसे मनुष्य निर्मल ऊर्ध्वके लोकोंको जाता है ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि वासनाके अनुसार ही अच्छे-बुरे लोकोंकी प्राप्ति होती है तो कोई मनुष्य अशुभ वासना ही क्यों करेगा ? सभी कोई उत्तम लोकोंको पानेके लिये उत्तम वासना ही करेंगे ? इसका उत्तर यह है कि अन्तकालकी वासना या कामना अपने आप नहीं होती, वह प्रायः उसके तात्कालिक कर्मोंके अनुसार ही हुआ करती है । आयुके शेषकालमें यानी अन्तकालके समय मनुष्य जैसे कर्मोंमें लिप्त रहता है, करीब-करीब उन्हींके अनुसार उसकी मरण-कालकी वासना होती है । मृत्युका कोई पता नहीं, कब आ जाय, इससे मनुष्यको सदा-सर्वदा उत्तम कर्मोंमें ही लगे रहना चाहिये । सर्वदा शुभ कर्मोंमें लगे रहनेसे ही वासना शुद्ध रहेगी, सर्वथा शुद्ध वासनाका रहना ही सत्त्वगुणी स्थिति है, क्योंकि देहके सभी द्वारोंमें चेतनता और बोधशक्तिका उत्पन्न होना ही सत्त्वगुणकी

बुद्धिका ध्यान है (गीता १४ । ११) । और इस स्थितिमें होनेवाली मृत्यु ही ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण है ।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि अन्तकालमें सात्त्विक वासना कर ली जायगी, अभीसे उसकी क्या आवश्यकता है ? वे बड़ी भूल करते हैं । अन्तकालमें वही वासना होगी, जैसी पहलेसे होती रही होगी । जब साधक ध्यान करने बैठता है—कुछ समय स्वस्थ और एकाग्र चित्तसे परमात्माका चिन्तन करना चाहता है, तब यह देखा जाता है कि पूर्वके अभ्यासके कारण उसे प्रायः उन्हीं कार्यों या भावोंकी स्फुरणा होती है, जिन कार्योंमें वह सदा व्यग्र रहता है । यद्यपि साधक बार-बार मनको विषयोंसे हटानेका प्रयत्न करता है, उसे धिक्कारता है, बहुत पश्चात्ताप भी करता है तथापि पूर्वका अभ्यास उसकी वृत्तियोंको सदाके कार्योंकी ओर खींच ले जाता है । भगवान् भी कहते हैं—'सदा तद्भावभावितः' (गीता ८ । ६) । जब मनुष्य सावधान-अवस्थामें भी मनकी भावनाको सहसा अपने इच्छानुसार नहीं बना सकता, तब जीवनभरके अभ्यासके विरुद्ध मृत्युकालमें हमारी वासना अनायास ही शुभ हो जायगी, यह समझना भ्रमके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ।

यदि ऐसा ही होता तो शनैः-शनैः उपरामताको प्राप्त करने और बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें लगानेकी आज्ञा भगवान् कैसे देते ? (गीता ६ । २५) । इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके कर्मोंके अनुसार ही उसकी भावना होती है, वैसी अन्तकालकी भावना होती है—जिस गुणमें उसकी स्थिति होती है, उसीके अनुसार परवश होकर जीवको कर्मफल भोगनेके लिये दूसरी योनिमें जाना पड़ता है ।

ऊर्ध्वगतिके दो भेद—इस ऊर्ध्वगतिके दो भेद हैं। एक ऊर्ध्वगतिसे वापस लौटकर नहीं आना पड़ता और दूसरीसे लौटकर आना पड़ता है। इसीको गीतामें शुक्ल-कृष्ण-गति और उपनिषदोंमें देवयान-पितृयान कहा है। सकामभावसे वेदोक्त कर्म करनेवाले, स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिबन्धक देवऋणरूप पापसे छूटे हुए पुण्यात्मा पुरुष धूम-मार्गसे पुण्यलोकोंको प्राप्त होकर वहाँ दिव्य देवताओंके विशाल भोग भोगकर, पुण्य क्षीण होते ही पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं और निष्कामभावसे भगवद्भक्ति या ईश्वरार्पण-बुद्धिसे भेदज्ञानयुक्त श्रौत-स्मार्त कर्म करनेवाले परोक्षभावसे परमेश्वरको जाननेवाले योगिजन क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥
(गीता ८। २४–२६)

'दो प्रकारके मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता, दिनका अभिमानी देवता, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता और उत्तरायणके छ. महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात् परमेश्वरकी उपासनासे परमेश्वरको परोक्ष-भावसे जाननेवाले योगिजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गये हुए

बुद्धिका लक्षण है (गीता १४ । ११) । और इस स्थितिमें होने वाली मृत्यु ही ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण है ।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि अन्तकालमें सात्त्विक वासना कर ली जायगी, अभीसे उसकी क्या आवश्यकता है ? वे बड़ी भूल करते हैं । अन्तकालमें वही वासना होगी, जैसी पहलेसे होती रही होगी । जब साधक ध्यान करने बैठता है—कुछ समय सत्त्व और एकान्त चित्तसे परमात्माका चिन्तन करना चाहता है, तब यह देखा जाता है कि पूर्वके अभ्यासके कारण उसे प्रायः उन्हीं कार्यों या मार्गोंकी स्फुरणा होती है, जिन कार्योंमें वह सदा लगा रहता है । वह साधक बार-बार मनको विषयोंसे हटानेका प्रयत्न करता है, उसे धिक्कारता है, बहुत पश्चात्ताप भी करता है तथापि पूर्वका अभ्यास उसकी वृत्तियोंको सदाके कार्योंकी ओर खींच ले जाता है । भगवान् भी कहते हैं—'सदा तद्भावभावित' (गीता ८ । ६) । जब मनुष्य सावधान-अवस्थामें भी मनकी भावनाको सहसा अपने इच्छानुसार नहीं बना सकता, तब जीवनभरके अभ्यासके विरुद्ध मृत्युकालमें हमारी वासना अनायास ही शुभ हो जायगी, यह समझना भ्रमके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ।

यदि ऐसा ही होता तो शनैः-शनैः उपरामताको प्राप्त करने और बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें लगानेकी आज्ञा भगवान् कैसे देते ? (गीता ६ । २५) । इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके कर्मोंके अनुसार ही उसकी भावना होती है, जैसी अन्तकालकी भावना होती है—जिस गुणमें उसकी स्थिति होती है, उसीके अनुसार परवश होकर जीवको कर्मफल भोगनेके लिये दूसरी योनिमें जाना पड़ता है ।

देवलोकरूप होते हैं, देवलोकमे आदित्यरूप होते हैं, आदित्यसे विद्युद्रूप होते हैं, वहाँसे अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं, वहाँ अनन्त वर्षोंतक वह रहते हैं, उनको वापस लौटना नहीं पड़ता।' यह देवयानमार्ग है। एवं—

'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान् दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳराजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति'

(बृह० ६।२।१६)

'जो सकामभावसे यज्ञ, दान तथा तपद्वारा लोकोंपर विजय प्राप्त करते हैं, वे धूमको प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्रिरूप होते हैं, रात्रिसे कृष्णपक्षरूप होते हैं, कृष्णपक्षसे दक्षिणायनको प्राप्त होते हैं, दक्षिणायनसे पितृलोकको और वहाँसे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं, चन्द्रलोक प्राप्त होनेपर वे अन्नरूप होते हैं और देवता उनको भक्षण करते हैं।' यहाँ 'अन्न' होने और 'भक्षण' करनेसे यह मतलब है कि वे देवताओंकी खाद्य वस्तुमें प्रविष्ट होकर उनके द्वारा खाये जाते हैं, और फिर उनसे देवरूपमें उत्पन्न होते हैं। अथवा 'अन्न' शब्दसे उन जीवोंको देवताओंका आश्रयी समझना चाहिये। नौकरको भी अन्न कहते हैं, सेवा करनेवाले पशुओंको अन्न कहते हैं, 'पशवः अन्नम्' आदि वाक्योंसे यह सिद्ध है। वे देवताओंके नौकर होनेसे अपने सुखोंसे वञ्चित नहीं हो सकते।' यह पितृयानमार्ग है।

ब्रह्मको प्राप्त होते हैं तथा जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता, रात्रि-अभिमानी देवता, कृष्णपक्षका अभिमानी देवता और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्मयोगी उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापस आता है। जगत्‌के यह शुक्ल और कृष्णनामक दो मार्ग सनातन माने गये हैं, इनमें एक (शुक्ल-मार्ग) के द्वारा गया हुआ, वापस न लौटनेवाली परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरे (कृष्ण-मार्ग) द्वारा गया हुआ वापस आता है, अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

शुक्ल—अर्चि या देवयानमार्गसे गये हुए योगी नहीं लौटते और कृष्ण—धूम या पितृयानमार्गसे गये हुए योगियोंको लौटना पड़ता है। श्रुति कहती है—

'ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाᳪ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतम्, तान् वैद्युतान् पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥'

(बृह० ६ । २ । १५)

'जिनको ज्ञान होता है, जो अरण्यमें श्रद्धायुक्त होकर सत्यकी उपासना करते हैं, वे अर्चिरूप होते हैं अर्चिसे दिनरूप होते हैं, दिनसे शुक्लपक्षरूप होते हैं, शुक्लपक्षसे उत्तरायणरूप होते हैं, उत्तरायणसे

लोकमें पहुँचाते हैं, जहाँसे वापस लौटना पड़ता है, इसीसे यह अन्धकारके अभिमानी बतलाये गये हैं। इस मार्गमे भी जीव देवताओंकी तद्रूपताको प्राप्त करता हुआ चन्द्रमाकी रश्मियोंके रूपमें होकर उन देवताओंके द्वारा ले जाया हुआ अन्तमें चन्द्रलोकको प्राप्त होना है और वहाँके भोग भोगनेपर पुण्यक्षय होते ही वापस लौट आता है।

वापस लौटनेका क्रम—स्वर्गादिसे वापस लौटनेका क्रम उपनिषदोंके अनुसार यह है—

'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथैतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति।'

(छान्दो० ५।१०।५-६)

कर्मभोगकी अवधितक देवभोगोंको भोगनेके बाद वहाँसे गिरते समय जीव पहले आकाशरूप होता है, आकाशसे वायु, वायुसे धूम, धूमसे अभ्र और अभ्रसे मेघ होते हैं, मेघसे जलरूपमें बरसते हैं और भूमि, पर्वत, नदी आदिमें गिरकर खेतोंमें वे व्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल आदि खाद्य पदार्थोंमें सम्बन्धित होकर पुरुषोंके द्वारा खाये जाते हैं। इस प्रकार पुरुषके शरीरमें पहुँचकर रस, रक्त, मास, मेद, मज्जा, अस्थि आदि होते हुए अन्तमें वीर्यमें

ये धूम, रात्रि और अर्चि, दिन आदि नामक भिन्न-भिन्न लोकोंके अभिमानी देवता हैं, जिनका रूप भी उन्हीं नामोंके अनुसार है। जीव इन देवताओंके समान रूपको प्राप्त कर क्रमश आगे बढ़ता है। इनमेंसे अर्चिमार्गवाला प्रकाशमय लोकोंके मार्गसे प्रकाशपथके अभिमानी देवताओंद्वारा ले जाया जाकर क्रमश विद्युत्-लोकतक पहुँचकर अमानव पुरुष (भगवत्-पार्षद) के द्वारा बड़े सम्मानके साथ भगवान्‌के सर्वोत्तम दिव्य परम धाममें पहुँच जाता है। इसीको ब्रह्मोपासक ब्रह्मलोकका शेष भाग—सर्वोच्च गति, श्रीकृष्णके उपासक दिव्य गोलोक, श्रीरामके उपासक दिव्य साकेतलोक, शैव शिवलोक, जैन मोक्षशिला, मुसल्मान सातवाँ आसमान और ईसाई स्वर्ग कहते हैं। इसीको उपनिषदोंमें विष्णुका परम धाम कहा है। इस दिव्यधाममें पहुँचनेवाला महापुरुष सारे लोकों और मार्गोंको लाँघता हुआ एक प्रकाशमय दिव्य स्थानमें स्थित होता है जहाँ उसे सभी सिद्धियाँ और सभी प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वह महाकी आयुतक वहाँ दिव्यभावसे रहकर अन्तमें भगवान्‌में मिल जाता है। अथवा भगवदिच्छासे भगवान्‌के अवतारकी-ज्यों बन्धनमुक्त अवस्थामें ही लोक-हितार्थ संसारमें आ भी सकता है। ऐसे ही महात्माको कारक पुरुष कहते हैं।

धूममार्गके अभिमानी देवगण और इनके लोक भी प्रकाशमय है, परन्तु इनका प्रकाश अर्चिमार्गवालोंकी अपेक्षा दूसरा ही है तथा ये जीवको मायामय विषयभोग भोगनेवाले मार्गोंमें ले जाकर ऐसे

रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेपर उनका प्राण वायु सूक्ष्म शरीरसहित समष्टि-लौकिक वायुमें मिल जाता है । व्यष्टि-प्राण-वायुको समष्टि-प्राण-वायु अपनेमें मिलाकर इस लोकमें जिस योनिमें जीवको जाना चाहिये, उसीके खाद्य पदार्थमें उसे पहुँचा देता है। यह वायुदेवता ही इसके योनि-परिवर्तनका प्रधान साधक होता है, जो सर्व-शक्तिमान् ईश्वरकी आज्ञा और उसके निर्भ्रान्त विधानके अनुसार जीवको उसके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न मनुष्योंके खाद्य पदार्थोंद्वारा उनके पक्वाशयमें पहुँचाकर उपर्युक्त प्रकारसे वीर्यरूपमे परिणत कर-कर मनुष्यरूपमें उत्पन्न कराता है।

अधोगति—अध गतिको प्राप्त होनेवाले वे जीव हैं, जो अनेक प्रकारके पापोंद्वारा अपना समस्त जीवन कलंकित किये हुए होते हैं, उनके अन्तकालकी वासना कर्मानुसार तमोमयी ही होती है, इससे वे नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

जो लोग अहकार, बल, घमड, काम और क्रोधादिके परायण रहते हैं, पर-निन्दा करते हैं, अपने तथा पराये सभीके शरीरोंमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करते हैं, ऐसे द्वेषी, पापाचारी, क्रूरकर्मी नराधम मनुष्य सृष्टिके नियन्त्रणकर्ता भगवान्‌के विधानसे बारबार आसुरी योनियोंमें उत्पन्न होते हैं और आगे चलकर वे उससे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

(गीता १६। १८—२०)

इस नीच गतिमें प्रधान हेतु काम, क्रोध और लोभ हैं, इन्हीं तीनोंसे आसुरी सम्पत्तिका सग्रह होता है । भगवान्‌ने इसीलिये इनका त्याग करनेकी आज्ञा दी है—

सम्मिलित होकर शुक्र-सिञ्चनके साथ माताकी योनिमें प्रवेश कर जाते हैं, वहाँ गर्भकालकी अवधितक माताके खाये हुए अन्न-जलसे पालित होते हुए समय पूरा होनेपर अपानवायुकी प्रेरणासे मल-मूत्रकी तरह वेग पाकर स्थूलरूपमें बाहर निकल आते हैं । कोई-कोई ऐसा भी मानते हैं कि गर्भमें शरीर पूरा निर्माण हो जानेपर उसमें जीव आता है परन्तु यह बात ठीक नहीं मालूम होती । बिना चैतन्यके गर्भमें बालकका बढ़ना सम्भव नहीं और यह कहना युक्ति तथा नियमके विरुद्ध है । ये लौटकर आनेवाले जीव कर्मानुसार मनुष्य या पशु आदि योनियोंको प्राप्त होते हैं । श्रुति कहती है—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।'

(छान्दो० ५ । १ । ७)

'इनमें जिनका आचरण अच्छा होता है यानी जिनका पुण्य सञ्चय होता है वे शीघ्र ही किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यकी रमणीय योनिको प्राप्त होते हैं । ऐसे ही जिनके आचरण बुरे होते हैं अर्थात् जिनके पापका सञ्चय होता है वे किसी श्वान, सूकर या चाण्डालकी अधम योनिको प्राप्त होते हैं ।'

यह ऊर्ध्वगतिके भेद और एकसे वापस न आने और दूसरीसे लौटकर आनेका क्रम बतलाया गया ।

मध्यगति—मध्यगति या मनुष्यलोकको प्राप्त होनेवाले जीवोंकी

रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेपर उनका प्राण वायु सूक्ष्म शरीरसहित समष्टि-लौकिक वायुमें मिल जाता है । व्यष्टि-प्राण-वायुको समष्टि-प्राण-वायु अपनेमें मिलाकर इस लोकमें जिस योनिमे जीवको जाना चाहिये, उसीके खाद्य पदार्थमें उसे पहुँचा देता है । यह वायुदेवता ही इसके योनि-परिवर्तनका प्रधान साधक होता है, जो सर्व-शक्तिमान् ईश्वरकी आज्ञा और उसके निर्भ्रान्त विधानके अनुसार जीवको उसके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न मनुष्योंके खाद्य पदार्थोंद्वारा उनके पक्वाशयमें पहुँचाकर उपर्युक्त प्रकारसे वीर्यरूपमें परिणत कर-कर मनुष्यरूपमें उत्पन्न कराता है ।

अधोगति—अध.गतिको प्राप्त होनेवाले वे जीव हैं, जो अनेक प्रकारके पापोंद्वारा अपना समस्त जीवन कलंकित किये हुए होते हैं, उनके अन्तकालकी वासना कर्मानुसार तमोमयी ही होती है, इससे वे नीच गतिको प्राप्त होते हैं ।

जो लोग अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधादिके परायण रहते हैं, पर-निन्दा करते हैं, अपने तथा पराये सभीके शरीरोंमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करते हैं, ऐसे द्वेषी, पापाचारी, क्रूरकर्मी नराधम मनुष्य सृष्टिके नियन्त्रणकर्ता भगवान्‌के विधानसे बारबार आसुरी योनियोंमें उत्पन्न होते हैं और आगे चलकर वे उससे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं ।

(गीता १६ । १८—२०)

इस नीच गतिमें प्रधान हेतु काम, क्रोध और लोभ हैं, इन्हीं तीनोंसे आसुरी सम्पत्तिका संग्रह होता है । भगवान्‌ने इसीलिये इनका त्याग करनेकी आज्ञा दी है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
(गीता १६ । २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—यह तीन प्रकारके नरकके द्वार अर्थात् सब अनर्थोंके मूल और नरककी प्राप्तिमें हेतु हैं, यह आत्माका नाश करनेवाले यानी उसे अधोगतिमें ले जानेवाले हैं, इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ।'

नीच गतिके दो भेद—जो लोग आत्म-पतनके कारणभूत काम, क्रोध, लोभरूपी इस त्रिविध नरक-द्वारमें निवास करते हुए आसुरी, राक्षसी और मोहिनी सम्पत्तिकी पूँजी एकत्र करते हैं, गीताके उपर्युक्त सिद्धान्तोंके अनुसार उनकी गतिके प्रधानतः दो भेद हैं—(१) बारंबार तिर्यक् आदि आसुरी योनियोंमें जन्म लेना और (२) उनसे भी अधम भूत, प्रेत, पिशाचादि गतियोंको या कुम्भीपाक, अवीचि, असिपत्र आदि नरकोंको प्राप्त होकर वहाँकी रोमाञ्चकारी दारुण यन्त्रणाओंको भोगना ।

इनमें जो तिर्यगादि योनियोंमें जाते हैं, वे जीव मृत्युके पश्चात् सूक्ष्म शरीरसे समष्टि-वायुके साथ मिलकर जरायुज योनियोंके खाद्य पदार्थोंमें मिलकर वीर्यद्वारा शरीरमें प्रवेश करके गर्भकी अवधि बीतने-पर उत्पन्न हो जाते हैं । इसी प्रकार अण्डज प्राणियोंकी भी उत्पत्ति होती है । उद्भिज्ज, स्वेदज जीवोंकी उत्पत्तिमें भी वायुदेवता ही कारण होते हैं, जीवोंके प्राणवायुको समष्टि-वायुदेवता अपने रूपमें भरकर जल-पसीने आदिद्वारा स्वेदज प्राणियोंको और पृथ्वी-जल आदिके

साथ उनको सम्बन्धितकर बीजमें प्रविष्ट करवाकर पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्षादि जड योनियोंमें उत्पन्न कराते हैं।

यह वायुदेवता ही यमराजके दूतके स्वरूपमें उस पापीको दीखते हैं, जो नारकी या प्रेतादि योनियोंमें जानेवाला होता है। इसीकी चर्चा गरुडपुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें जहाँ पापीकी गतिका वर्णन है, वहाँ की गयी है। यह समस्त कार्य सबके स्वामी और नियन्ता ईश्वरकी शक्तिसे ऐसा नियमित होता है कि जिसमें कहीं किसी भूलकी गुंजाइश नहीं होती। इसी परमात्मशक्तिकी ओरसे नियुक्त देवताओंद्वारा परवश होकर जीव अधम, मध्यम और उत्तम गतियोंमें जाता-आता है। यह नियन्त्रण न होता तो, न तो कोई जीव, कम-से-कम व्यवस्थापकके अभावमें पापोंका फल भोगनेके लिये कहीं जाता और न भोग ही सकता। अवश्य ही सुख भोगनेके लिये जीव लोकान्तरमें जाना चाहता, पर वह भी ले जानेवालेके अभावमें मार्गसे अनभिज्ञ रहनेके कारण नहीं जा पाता।

जीव साथ क्या लाता, ले जाता है---अब प्रधानतः यही बतलाना रहा कि जीव अपने साथ किन-किन वस्तुओंको ले जाता है और किनको लाता है? जिस समय यह जीव जाग्रत्-अवस्थामें रहता है, उस समय इसकी स्थिति स्थूल शरीरमें रहती है। तब इसका सम्बन्ध पाँच प्राणोंसहित चौबीस तत्त्वोंसे रहता है। (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका सूक्ष्म भावरूप) पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मन, त्रिगुणमयी मूल प्रकृति, कान, त्वचा, आँख, जीभ, नाक---यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
(गीता १६ । २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—यह तीन प्रकारके नरकके द्वार अर्थात् सब अनर्थोंके मूल और नरककी प्राप्तिमें हेतु हैं, यह आत्माका नाश करनेवाले यानी उसे अधोगतिमें ले जानेवाले हैं, इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ।'

नीच गतिके दो भेद—जो लोग आत्म-पतनके कारणभूत काम, क्रोध, लोभरूपी इस त्रिविध नरक-द्वारमें निवास करते हुए आसुरी, राक्षसी और मोहिनी सम्पत्तिकी पूँजी एकत्र करते हैं, गीताके उपर्युक्त सिद्धान्तोंके अनुसार उनकी गतिके प्रधानतः दो भेद हैं—(१) बारंबार तिर्यक् आदि आसुरी योनियोंमें जन्म लेना और (२) उनसे भी अधम भूत, प्रेत, पिशाचादि गतियोंको या कुम्भीपाक, अवीचि, असिपत्र आदि नरकोंको प्राप्त होकर वहाँकी रोमाञ्चकारी दारुण यन्त्रणाओंको भोगना ।

इनमें जो तिर्यगादि योनियोंमें जाते हैं, वे जीव मृत्युके पश्चात् सूक्ष्म शरीरसे समष्टि-वायुके साथ मिलकर जरायुज योनियोंके खाद्य पदार्थोंमें मिलकर वीर्यद्वारा शरीरमें प्रवेश करके गर्भकी अवधि बीतने-पर उत्पन्न हो जाते हैं । इसी प्रकार अण्डज प्राणियोंकी भी उत्पत्ति होती है । उद्भिज्ज स्वेदज जीवोंकी उत्पत्तिमें भी वायुदेवता ही कारण होते हैं, जीवोंके प्राणवायुको समष्टि-वायुदेवता अपने रूपमें भरकर जल-पसीने आदिद्वारा स्वेदज प्राणियोंको और पृथ्वी-जल आदिके

उसके अंदर विज्ञानमय (बुद्धिरूपी) कोश है, इसमें बुद्धि और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, यही सत्तरह तत्त्व हैं। स्वप्नमें इस सूक्ष्मरूपका अभिमानी जीव ही पूर्वकालमें देखे-सुने पदार्थोंको अपने अंदर सूक्ष्मरूपसे देखता है।

जब इसकी स्थिति कारण-शरीरमें होती है, तब अव्याकृत माया प्रकृतिरूपी एक तत्त्वसे इसका सम्बन्ध रहता है। इस समय सभी तत्त्व उस कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाते हैं। इसीसे उस जीवको किसी बातका ज्ञान नहीं रहता। इसी गाढ़ निद्रावस्थाको सुषुप्ति कहते हैं। मायासहित ब्रह्ममें लय होनेके कारण उस समय जीवका सम्बन्ध सुखसे होता है। अतएव इसीको आनन्दमय कोश कहते हैं। इसीसे इस अवस्थासे जागनेपर यह कहता है कि 'मैं बहुत सुखसे सोया, उसे और किसी बातका ज्ञान नहीं रहता, यही अज्ञान है, इस अज्ञानका नाम ही माया—प्रकृति है। सुखसे सोया, इससे सिद्ध होता है कि उसे आनन्दका अनुभव था। सुखरूपमें नित्य स्थित होनेपर भी वह प्रकृति यानी अज्ञानमें रहनेके कारण वापस आता है। घटमें जल भरकर उसका मुख अच्छी तरह बंद करके उसे अनन्त जलके समुद्रमें छोड़ दिया गया और फिर वापस निकाला, तब वह घड़ेके अंदरका जल ज्यों-का-त्यों रहा, घड़ा न होता तो वह जल समुद्रके अनन्त जलमें मिलकर एक हो जाता। इसी प्रकार अज्ञानमें रहनेके कारण सुखरूप ब्रह्ममें स्थित होनेपर भी जीवको ज्यों-का-त्यों लौट आना पड़ता है। अस्तु!

चौबीस तत्त्वोंके स्थूल शरीरमेंसे निकलकर जब यह जीव

—यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—यह इन्द्रियोंके पाँच विषय (गीता १३ । ५) । यही चौबीस तत्त्व हैं। इन तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले आचार्योंने प्राणोंको इसीलिये अलग नहीं बतलाया कि प्राण वायुका ही भेद है, जो पञ्च महाभूतोंके अंदर आ चुका है। योग, सांख्य, वेदान्त आदि शास्त्रोंके अनुसार प्रधानतः तत्त्व चौबीस ही माने गये हैं। प्राणवायुके अलग माननेकी आवश्यकता भी नहीं है। भेद बतलानेके लिये ही प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान नामक वायुके पाँच रूप माने गये हैं।

स्वप्नावस्थामें जीवकी स्थिति सूक्ष्म शरीरमें रहती है, सूक्ष्म शरीरमें सत्तरह तत्त्व माने गये हैं—पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, उनके कारणरूप पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ तथा मन और बुद्धि। यह सत्तरह तत्त्व हैं। कोई कोई आचार्य पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओंकी जगह पाँच कर्मेन्द्रियाँ लेते हैं। पञ्चतन्मात्रा लेनेवाले कर्मेन्द्रियोंको ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत मानते हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ माननेवाले पञ्च तन्मात्राओंको उनके कार्यरूप ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत मान लेते हैं। किसी तरह भी मानें अधिकांश मनस्वियोंने तत्त्व सत्तरह ही बतलाये हैं, कहीं इनका ही कुछ विस्तार और कहीं कुछ संकोच कर दिया गया है।

इस सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत तीन कोश माने गये हैं—प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय। (सब पाँच कोश हैं, जिनमें स्थूल देह तो अन्नमय कोश है। यह पाञ्चभौतिक शरीर पाँच भूतोंका भण्डार है, इसके अंदरके सूक्ष्म शरीरमें) पहला प्राणमय कोश है, जिसमें पञ्च प्राण हैं। उसके अंदर मनोमय कोश है, इसमें मन और इन्द्रियाँ हैं,

उसके अंदर विज्ञानमय (बुद्धिरूपी) कोश है, इसमें बुद्धि और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, यही सत्तरह तत्त्व हैं। स्वप्नमें इस सूक्ष्मरूपका अभिमानी जीव ही पूर्वकालमें देखे-सुने पदार्थोंको अपने अंदर सूक्ष्मरूपसे देखता है।

जब इसकी स्थिति कारण-शरीरमें होती है, तब अव्याकृत माया प्रकृतिरूपी एक तत्त्वसे इसका सम्बन्ध रहता है। इस समय सभी तत्त्व उस कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाते है। इसीसे उस जीवको किसी बातका ज्ञान नहीं रहता। इसी गाढ निद्रावस्थाको सुषुप्ति कहते हैं। मायासहित ब्रह्ममें लय होनेके कारण उस समय जीवका सम्बन्ध सुखसे होता है। अतएव इसीको आनन्दमय कोश कहते हैं। इसीसे इस अवस्थासे जागनेपर यह कहता है कि 'मैं बहुत सुखसे सोया, उसे और किसी बातका ज्ञान नहीं रहता, यही अज्ञान है, इस अज्ञानका नाम ही माया—प्रकृति है। सुखसे सोया, इससे सिद्ध होता है कि उसे आनन्दका अनुभव था। सुखरूपमें नित्य स्थित होनेपर भी वह प्रकृति यानी अज्ञानमें रहनेके कारण वापस आता है। घटमें जल भरकर उसका मुख अच्छी तरह बद करके उसे अनन्त जलके समुद्रमें छोड़ दिया गया और फिर वापस निकाला, तब वह घड़ेके अंदरका जल ज्यों-का-त्यों रहा, घड़ा न होता तो वह जल समुद्रके अनन्त जलमें मिलकर एक हो जाता। इसी प्रकार अज्ञानमें रहनेके कारण सुखरूप ब्रह्ममें स्थित होनेपर भी जीवको ज्यों-का-त्यों लौट आना पडता है। अस्तु।

चौबीस तत्त्वोंके स्थूल शरीरमेंसे निकलकर जब यह जीव

बाहर जाता है, तब स्थूल देह तो यहीं रह जाता है। प्राणमय कोशवाला सत्तरह तत्त्वोंका सूक्ष्म शरीर इसमेंसे निकलकर अन्य शरीरमें जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

> ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
> मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
> शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
> गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥
> (गीता १५। ७-८)

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है। जैसे गन्धके स्थानसे वायु गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस पहले शरीरको त्यागता है, उससे मनसहित इन इन्द्रियोंको ग्रहण करके, फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है।'

प्राणवायु ही उसका शरीर है, उसके साथ प्रधानतासे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन (अन्तःकरण) जाता है, इसीका विस्तार सत्तरह तत्त्व हैं। यही सत्तरह तत्त्वोंका शरीर शुभाशुभ कर्मोंके संस्कार-के सहित जीवके साथ जाता है।

यहाँ यह एक शङ्का बाकी रह जाती है कि श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके २२ वें श्लोकमें कहा है—

> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
> नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्याग कर दूसरे नवीन वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त करता है ।' इसका यदि यह अर्थ समझा जाय कि इस शरीरसे वियोग होते ही जीव उसी क्षण दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है तो इससे दूसरा शरीर पहलेसे तैयार होना चाहिये और जब दूसरा तैयार ही है, तब कहीं आने-जाने, स्वर्ग-नरकादि भोगनेकी बात कैसे सिद्ध होगी तथा गीता स्वयं तीन गतियाँ निर्देश कर आना-जाना स्वीकार करती है, इसमें परस्पर विरोध आता है, इसका क्या समाधान है ?

इसका समाधान यह है कि यह शङ्का ही ठीक नहीं है । क्योंकि भगवान्‌ने इस मन्त्रमें यह नहीं कहा कि मरते ही जीवको दूसरी 'स्थूल' देह 'उसी समय तुरंत ही' मिल जाती है । एक मनुष्य कई जगह घूमकर घर आता है और घर आकर वह अपनी यात्राका बयान करता हुआ कहता है 'मैं बंबईसे कलकत्ते पहुँचा, वहाँसे कानपुर और कानपुरसे दिल्ली चला आया ।' इस कथनसे क्या यह अर्थ निकलता है कि वह बंबई छोड़ते ही कलकत्तेमें प्रवेश कर गया या कानपुरसे दिल्ली उसी दम आ गया ? रास्तेका वर्णन स्पष्ट न होनेपर भी इसके अंदर है ही, इसी प्रकार जीवका भी देह-परिवर्तनके लिये लोकान्तरोंमें जाना समझना चाहिये । रही नयी देह मिलनेकी बात, सो देह तो अवश्य मिलती है परन्तु वह स्थूल नहीं होती है । समष्टि-वायुके साथ सूक्ष्म शरीर मिलकर एक वायुमय देह बन जाती है, जो

ऊर्ध्वगामियोंका प्रकाशमय तैजस, नरकगामियोंका तमोमय प्रेत-पिशाच आदिका होता है, यह सूक्ष्म होनेसे हमलोगोंकी स्थूल दृष्टिसे दीखता नहीं। इसलिये यह शङ्का निरर्थक है। सूक्ष्म देहका आना-जाना कर्मबन्धन न छूटनेतक बना ही रहता है।

प्रलयमें भी सूक्ष्म शरीर रहता है—प्रलयकालमें भी जीवोंके यह सत्तरह तत्त्वोंके शरीर ब्रह्माके समष्टि सूक्ष्म शरीरमें अपने अपने सञ्चित कर्म-संस्कारोंसहित विश्राम करते हैं और सृष्टिके आदिमें उसीके द्वारा पुन इनकी रचना हो जाती है (गीता ८ । १८)। महाप्रलयमें ब्रह्मासहित समष्टि व्यष्टि सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर ब्रह्माके शान्त होनेपर शान्त हो जाते हैं, उस समय एक मूल प्रकृति रहती है, जिसको अव्याकृत माया कहते हैं। उसी महाकारणमें जीवोंके समस्त कारण-शरीर अयुक्त कर्म-संस्कारोंसहित अविकसितरूपसे विश्राम पाते हैं। सृष्टिके आदिमें सृष्टिके आदिपुरुषद्वारा ये सब पुन रचे जाते हैं (गीता १४ । ३ ४)। अर्थात् परमात्मारूप अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति ही चराचरसहित इस जगत्को रचती है, इसी तरह यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता रहता है (गीता ९ । १०)। महाप्रलयमें पुरुष और उसकी शक्तिरूपा प्रकृति यह दो ही वस्तुएँ रह जाती हैं, उस समय अज्ञानसे आच्छादित जीवोंका ही प्रकृति-सहित पुरुषमें लय हुआ रहता है, इसीसे सृष्टिके आदिमें उनका पुनरुत्थान होता है।

आवागमनसे छूटनेका उपाय

जबतक परमात्माकी निष्काम भक्ति, कर्मयोग और ज्ञानयोग

आदि साधनोंद्वारा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होकर उसकी अग्निसे अनन्त कर्मराशि सम्पूर्णत भस्म नहीं हो जाती, तबतक फल भोगनेके लिये जीवको परवश होकर शुभाशुभ कर्मोंके संस्कार मूल-प्रकृति और अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंको साथ लिये लगातार बारबार जाना-आना पड़ता है। जाने और आनेमें ये ही वस्तुएँ साथ जाती-आती हैं। जीवके पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म ही इसके गर्भमें आनेके हेतु हैं और अनेक जन्मार्जित सञ्चित कर्मोंके अंशविशेषसे निर्मित प्रारब्धका भोग करना ही इसके जन्मका कारण है। कर्म या तो भोगसे नाश होते हैं या प्रायश्चित्तसे या निष्काम कर्म-उपासनादि साधनोंसे नष्ट होते हैं।* इनका सर्वतोभावसे नाश तो परमात्माकी प्राप्तिसे ही होता है। जो निष्कामभावसे सदा-सर्वदा परमात्माका स्मरण करते हुए—मन-बुद्धि परमात्माको अर्पण करके समस्त कार्य परमात्माके लिये ही करते हैं, उनकी अन्त समयकी वासना परमात्मविषयक ही होती है और उसीके अनुसार उन्हें परमात्माकी प्राप्ति होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

> तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
>
> (गीता ८। ७)

'हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

---

* प्रथम भागमें 'कर्मका रहस्य' नामक लेख देखना चाहिये।

इस स्थितिमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेके कारण अज्ञानसहित पुरुषके सभी कर्म नाश हो जाते हैं, इनसे उसका आवागमन सदाके लिये मिट जाता है, यही मुक्ति है, इसीका नाम परम पदकी प्राप्ति है, यही जीवका परम लक्ष्य है। इस मुक्तिके दो भेद हैं—एक सद्योमुक्ति और दूसरी क्रममुक्ति। इनमें क्रममुक्तिका वर्णन तो देवयानमार्गके प्रकरणमें ऊपर आ चुका है। सद्योमुक्ति भी दो प्रकारकी है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति।

तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर जीवन्मुक्त पुरुष लोकदृष्टिमें जीता हुआ और कर्म करता हुआ-सा प्रतीत होता है; परन्तु वास्तवमें उसका कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं होता। यदि कोई कहे कि सम्बन्ध बिना उससे कर्म कैसे होते हैं? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें वह तो किसी कर्मका कर्ता है नहीं, पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका जो शेष भाग अवशिष्ट है; उसके भोगके लिये उसीके वेगसे, कुलालके न रहनेपर भी कुलालचक्रकी भाँति कर्ताके अभावमें भी परमेश्वरकी सत्ता-स्फूर्तिसे पूर्व-स्वभावानुसार कर्म होते रहते हैं; परन्तु वे कर्तृत्व-अभिमानसे शून्य कर्म किसी पुण्य-पापके उत्पादक न होनेके कारण वास्तवमें कर्म ही नहीं समझे जाते (गीता १८।१७)।

अन्तकालमें तत्त्वज्ञानके द्वारा तीनों शरीरोंका अत्यन्त अभाव होनेसे जब शुद्ध सच्चिदानन्दघनमें तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है (गीता ५।१७) तब उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। जिस मायासे कहीं भी नहीं आने-जानेवाले निमल निर्गुण सच्चिदानन्दरूप आत्मामें

भ्रमवश आने-जानेकी भावना होती है, भगवान्‌की भक्तिके द्वारा उस मायासे छूटकर इस परमपदकी प्राप्तिके लिये ही हम सबको प्रयत्न करना चाहिये ।

जीवात्मा

एक सज्जनने पूछा है—जीव क्या है, जीवका आना-जाना कैसे होता है और यदि जीव और आत्मा एक है तथा आत्मा असङ्ग और अचल है तो फिर आना-जाना कैसे सम्भव है ?

अपनी सामान्य बुद्धिके अनुसार इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा की जाती है ।

जो समष्टि-चेतन परब्रह्म परमात्माका शुद्ध अंश है, उसे आत्मा कहते हैं । माया और मायाके कार्योंके साथ सम्बन्धित हो जानेपर इसी आत्माकी जीव-संज्ञा समझी जाती है । प्रकृति और प्रकृतिके सत्तरह कार्योंके साथ रहनेसे ही आत्मा जीव कहलाता है, सत्तरह कार्योंमें पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और दो मन-बुद्धि समझने चाहिये । परमात्माका जो सर्वथा विशुद्ध अंश है उसमें तो आने-जानेकी कल्पना ही नहीं की जा सकती, वह तो आकाशकी भाँति निर्लेप और समभावसे सर्वदा सर्वत्र स्थित है । शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे उसका आना-जाना-सा प्रतीत होता है । स्थूल शरीरके संसारमें उत्पन्न और नाश होनेको आत्मापर आरोपित करके लोग आत्माके आने-जानेकी कल्पना करते हैं, यह जैसे आत्मामें औपचारिक है वैसे ही स्थूल शरीरके नाश होनेपर सूक्ष्मका

आवागमन भी—जिसको लोग मृत्यु कहते हैं—वास्तवमें औपचारिक ही है। आत्मा अचल होनेके कारण स्थूल या सूक्ष्म—किसी भी शरीरकी स्थितिमें उसका गमनागमन उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार किसी घटके आने, ले जानेसे घटाकाशका नहीं हुआ करता। यद्यपि आकाशका दृष्टान्त आत्माके लिये सब देशोंमें सर्वथा नहीं घटता, परन्तु दूसरे किसी दृष्टान्तके अभावमें समझानेके लिये इसीका उल्लेख किया जाता है।

इस सिद्धान्तसे कोई यह कहे कि जब आत्माका गमनागमन वास्तवमें होता ही नहीं, उपचारसे प्रतीत होता है, तो फिर आवागमनसे छूटनेके लिये क्यों चेष्टा की जाती है और क्यों शास्त्रकार तथा संत-महात्मा ऐसा उपदेश करते हैं एवं इसके औपचारिक गमनागमनमें सुख-दुःख भी किसको होते हैं? इसका उत्तर यह है कि शुद्ध आत्मामें वास्तवमें गमनागमनकी क्रिया न होनेपर भी सुख-दुःख जीवात्माको ही होते हैं और इसीलिये उनसे मुक्त होनेको कहा जाता है। गमनागमनके वास्तविक स्वरूपको तत्त्वसे न जाननेके कारण शरीरके साथ सम्बन्धवाला जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता माना गया है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
(गीता १३।२१)

'प्रकृति (भगवान्‌की त्रिगुणमयी माया) में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है

और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है।' यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि न तो सुख दु ख प्रकृति और उसके कार्योंसे मुक्त होनेपर शुद्ध आत्माको हो सकते हैं और न जड होनेके कारण अन्तःकरणको ही। यह उसी अवस्थामें होते हैं जब यह पुरुष—जीवात्मा प्रकृतिमें स्थित होता है।

कुछ लोगोंका कहना है कि सुख-दु:ख आदि अन्तःकरणके धर्म हैं, ये उसमें रहते आये हैं और रहेंगे ही, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं और साधनसे न्यूनाधिक हो सकते हैं तथा इनका नाश हो सकता है। विकारोंको ही कोई धर्मके नामसे पुकारे तो कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदिका भोक्ता अन्त करण है। मन, बुद्धि, चित्त, अहकार आदि जड होनेके कारण कर्ता-भोक्ता नहीं हो सकते। ये मायाके विकार हैं और अन्त करण इनके रहनेका आधारस्थल है। अतएव मायाके सम्बन्धवाला पुरुष ही भोक्ता है।

इन सुख-दुःखोंकी निवृत्ति तबतक नहीं हो सकती जबतक कि इस चेतन आत्माका शरीरोंके साथ अज्ञानजन्य सम्बन्ध छूट नहीं जाता। प्रकृतिसे सम्बन्ध छूटकर स्व-स्थ अर्थात् स्व-स्वरूपमें स्थित होनेपर ही आत्मा कृतकृत्य और मुक्त हो सकता है। महर्षि पतञ्जलिने भी योगदर्शनमें यही बात कही है।

अब यह विचार करना है कि प्रकृतिके साथ आत्माका संयोग होनेमें हेतु क्या है? वह हेतु अविद्या है—

'तस्य हेतुरविद्या' (२।२४)

इस अविद्याके नाशसे प्रकृतिसे छूटकर आत्माकी स्व-स्वरूपमें स्थिति होती है तभी वह सुख-दुःखसे मुक्त होता है। अविद्याका नाश तत्त्वज्ञानसे होता है। ईश्वर, माया और मायाके कार्यका यथार्थ ज्ञान ही संक्षेपमें तत्त्वज्ञान है। भगवान् कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥
(गीता १३।१-२, ३४)

हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है और इसको जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ, ऐसा उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं। हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है वह ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है। इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह समझा जा सकता है कि प्रकृति और उसके कार्योंमें सम्बन्धित आत्मा ही जीवात्मा है और इसी सम्बन्धके कारण उसका आना-जाना-सा प्रतीत होता है। जीव किस प्रकारसे भिन्न-भिन्न योनियोंमें कर्मोंके वश जाता-आता है, यह भिन्न विषय है और इसका विस्तृत वर्णन प्रथम भागके 'कर्मका रहस्य' नामक लेखमें आ चुका है, इसलिये उसको यहाँ नहीं लिखा। ऊपर यह कहा जा चुका है कि तत्त्वज्ञानसे ही मायाका सम्बन्ध छूटता है और उस तत्त्वज्ञानका स्वरूप भी बतलाया जा चुका है। अब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो? श्रीमद्भगवद्गीतामें इसकी प्राप्तिके प्रधानतया तीन उपाय बतलाये गये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। ज्ञानयोगकी व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८ श्लोक ४९ से ५५ तक, कर्मयोगकी व्याख्या अध्याय २ श्लोक ३९ से ५३ तक और भक्तियोगकी व्याख्या अध्याय १२ श्लोक २ से २० तक की गयी है। इन व्याख्याओंको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये। समष्टिचेतन परब्रह्म परमेश्वर-की उपासना और उसके स्वरूपके तात्त्विक विवेककी आवश्यकता तो तीनोंमें ही है। अवश्य ही प्रकारमें भेद है। ज्ञानके सिद्धान्तसे अभेदोपासना एवं कर्म तथा भक्तियोगसे प्रधानतया भेदरूपसे उपासना की जाती है। इन दोनोंमें भक्तियोगमें भक्तिकी मुख्यता और कर्मकी गौणता है तथा कर्मयोगमें कर्मकी मुख्यता और भक्तिकी गौणता है।

जन्म-मरणके चक्करसे छुड़ानेवाले तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये

इन तीनों उपायोंमेंसे अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार किसी एक उपायको ग्रहण करना मनुष्यमात्रके लिये परम कर्तव्य है।

तत्त्व-विचार

प्रत्येक मनुष्यको इन प्रश्नोंपर विचार करना चाहिये कि (१) प्रकृति क्या है ? (२) पुरुष किसे कहते हैं ? (३) संसार क्या है ? (४) हम कौन हैं ? (५) राग-द्वेष, काम-क्रोधादि जीवके अन्तःकरणमें रहते ही हैं या इनका समूल नाश भी हो सकता है ? (६) संसारमें हमारा क्या कर्तव्य है ? (७) परमात्मा, जीव, प्रकृति और संसार—ये अनादि हैं या आदिवाले हैं ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है और (८) बन्धन एवं मोक्ष क्या है ? इन आठ प्रश्नोंपर गहरा विचार करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है और उत्तरोत्तर ज्ञानके बढ़नेसे आत्मामें इनका यथार्थ बोध हो जाता है—जीवन कृतकृत्य हो जाता है। थोड़े शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। यद्यपि इन प्रश्नोंका विषय बहुत ही गहन है और सभी प्रश्न अति महत्त्वके हैं, इनपर विवेचन करना साधारण बात नहीं है; वास्तवमें इनका तत्त्व महात्मा पुरुष ही जानते हैं तथापि मैं अपने विनोदके लिये साधारण बुद्धिके अनुसार इन प्रश्नोंपर अपने मनके विचार संक्षेपमें पाठकोंके सामने उपस्थित कर रहा हूँ और विनय करता हूँ कि आपलोग यदि उचित समझें तो इस विषयपर विचार करें।

(१) प्रकृति (२) पुरुष और (३) संसार —

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३। १९)

'हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको तू अनादि जान।' इनमें पुरुष तो अनादि और अनन्त है तथा प्रकृति अनादि, सान्त है। पुरुष सर्वव्यापी, नित्य, चेतन एवं आनन्दरूप है और प्रकृति विकारवाली होनेके कारण जड, अनित्य और दु:खरूप है। यह समस्त जडवर्ग संसार प्रकृतिका ही विकार है। प्रकृति जब अक्रिय-रूप हो जाती है, तब प्रकृतिका विकाररूप यह जडवर्ग संसार प्रकृतिमें लय हो जाता है, इसीको महाप्रलय कहते हैं और जब यह प्रकृति पुरुषके सकाशसे क्रियावाली होती है तब सर्गके आदिमें इससे इस जडवर्ग संसारका विस्तार होता है। इसीलिये कार्य और करण* के विस्तारमें प्रकृतिको ही हेतु बतलाया गया है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

(गीता १३। २०)

सबसे पहले प्रकृतिसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, इस महत्तत्त्वको ही समष्टि-बुद्धि कहते हैं। सम्पूर्ण जीवोंकी व्यष्टिबुद्धियाँ इस समष्टि-बुद्धिका ही विस्तार हैं। तदनन्तर इस महत्तत्त्वसे समष्टि-

---

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इनका नाम कार्य है। बुद्धि, अहङ्कार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—इन १३ का नाम करण है।

अहङ्कार उत्पन्न होता है, समष्टि-अहङ्कारसे सङ्कल्पात्मक समष्टि मनकी उत्पत्ति होती है और उसी अहङ्कारसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी, इस प्रकार क्रमसे पाँच सूक्ष्म महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, यही इस जड़वर्ग संसारके कारण हैं । कोई-कोई महर्षि इनको सूक्ष्म तन्मात्राएँ और इन्द्रियोंके कारण-भूत अर्थ भी कहते हैं । महर्षि पतञ्जलि इन सूक्ष्म तन्मात्राओंकी उत्पत्ति अहङ्कारसे बतलाते हैं और भगवान् कपिल महत्तत्त्वसे । वास्तवमें इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि समष्टि-बुद्धि, समष्टि-अहङ्कार और समष्टि-मन—ये तीनों अन्तःकरणके ही अवस्थाभेदसे तीन भिन्न-भिन्न नाम हैं । तदनन्तर इन सूक्ष्म भूतोंसे या कारणरूप तन्मात्राओंसे पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च-कर्मेन्द्रिय और इन्द्रियोंके पाँच विषयोंकी उत्पत्ति अथवा विस्तार होता है । या यों कहिये कि यह जड़वर्ग संसार उन पञ्च सूक्ष्म भूतोंका ही विस्तार या कार्य है ।

पुरुषके भी दो भेद हैं—परमात्मा और जीवात्मा । परमात्मा एक है परन्तु जीव असंख्य हैं । परमात्माके दो स्वरूप हैं—एक गुणातीत, जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं, जो सदा ही माया और मायाके कार्य संसारसे अतीत है एवं जो अनादि और अनन्त है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २ । १) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३ । ९ । २८), 'आनन्दो ब्रह्मेति' (तै० ३ । ६), 'रसो वै सः' (तै० २ । ७), 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६ । २ । १), 'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पत् ... एषोऽस्य परम आनन्दः' (बृ० ४ । ३ । ३२) आदि विशेषणोंसे श्रुतियाँ जिसका वर्णन करती हैं । दूसरा सगुण ब्रह्म जो मायाविशिष्ट ईश्वर, महेश्वर,

सृष्टिकर्ता, परमेश्वर प्रभृति अनेक नामोंसे श्रुति स्मृतियोंमें वर्णित है। वस्तुतः विज्ञानानन्दघन निराकार ब्रह्म और महेश्वर सगुण ब्रह्म सर्वथा अभिन्न हैं, दो नहीं हैं। परमात्माके जिस अंशमे सत्त्व-रज-तम त्रिगुणमय ससार है, श्रुति-स्मृतियोंने, उसको सगुण ब्रह्म और जहाँ त्रिगुणमयी प्रकृति और ससारका अत्यन्त अभाव है उसको गुणातीत विज्ञानानन्दघन नामसे वर्णन किया है। वास्तवमें 'परमात्मा' शब्दसे सगुण-निर्गुण दोनों मिलकर समग्र ब्रह्म ही समझना चाहिये। यों तो सगुण ब्रह्मके सम्बन्धमें भी दो भेदोंकी कल्पना की गयी है। एक निराकार सर्वव्यापी सृष्टिकर्ता ईश्वर और दूसरा साकार ब्रह्म—ब्रह्मका अवतार, जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रभृति। यहाँ सर्वव्यापी निराकार सगुण ब्रह्ममें और अपनी लीलासे साकार-रूपमें प्रकट होनेवाले श्रीराम-कृष्ण आदि अवताररूपी भगवान्में कोई अन्तर या भिन्नता नहीं है। कुछ लोग बिना समझे-बूझे कह दिया करते हैं कि सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म साकार नहीं हो सकते। इन लोगोंके सम्बन्धमें यह कहनेका तो मुझे अधिकार नहीं कि 'ऐसा कहना उनकी भूल है।' हाँ, इतना जरूर कहा जाता है कि इन्हें अपने इस सिद्धान्तपर फिरसे विचार जरूर करना चाहिये। जिस प्रकार व्यापक निराकार अव्यक्त अग्नि तथा किसी स्थानविशेषमें प्रज्वलित व्यक्त अग्निमें वस्तुत कोई भेद नहीं है, एक ही अग्निके दो रूप हैं, इसी प्रकार निराकार और साकार परमात्माको भी समझना चाहिये। साधनोंद्वारा सर्वव्यापी परमात्माका सब जगह व्याप्त रहते हुए ही प्रज्वलित अग्निकी भाँति प्रकट हो जाना शास्त्रसम्मत और युक्तियुक्त ही है। भगवान्ने स्वय श्रीमुखसे कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(गीता ४ । ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ ।' इसके अतिरिक्त केन उपनिषद्में इन्द्र, अग्नि आदि देवोंके सामने ब्रह्मका यक्षरूपमें प्रकट होना प्रसिद्ध है । किसी-किसीका कहना है कि जब भगवान् इस प्रकार एक जगह प्रकट हो जाते हैं तब अन्य सब स्थानोंमें तो उनका अभाव हो जाना चाहिये । परन्तु ऐसा कथन भगवान्‌के तत्त्वको न जाननेके कारण ही होता है । हम देखते हैं कि यह बात तो अग्निमें भी चरितार्थ नहीं होती । जब पत्थर या दियासलाईकी रगड़से अग्नि प्रकट होती है—निराकारसे साकाररूपमें परिणत होती है तब क्या अन्य सब स्थानोंमें उसका अस्तित्व मिट जाता है ? फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या है ? भगवान् तो ऐसे सर्वव्यापी हैं कि अग्नि आदि पञ्च भूतोंकी कारणरूपा प्रकृति भी उनके किसी अंशमें उनके सङ्कल्पके आधारपर स्थित है । ऐसे परमेश्वरके सम्बन्धमें इस प्रकारका कुतर्क करना अपनी बुद्धिका ही परिचय देना है ।

अब जीवात्माकी बात रही । भलीभाँति विचारकर देखनेसे तो यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मासे भिन्न नहीं है क्योंकि श्रुति-स्मृतियोंमें जीवात्माको परमात्माका अंश बतलाया है । भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
(गीता १५ । ७)

जीव-संज्ञा अनादि और अन्तवाली है अर्थात् है तो अनादि कालसे परन्तु मिट सकती है। जब यह जीव स्थूल शरीरमें आता है और जाग्रदवस्थामें रहता है, उस समय इसका चौबीस* तत्त्वोंवाले तीनों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) शरीर और पाँचों† कोशोंसे सम्बन्ध रहता है। जब प्रलय या स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है, तब इसका प्रकृतिसहित सत्तरह‡ तत्त्वोंके सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध रहता है। जब यह महाप्रलयके शान्त होनेपर महाप्रलयमें या सुषुप्ति-अवस्थामें रहता है, तब इसका केवल प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है। इसीको कारण-शरीर कहते हैं जो मूल-प्रकृतिका एक अंश है। सर्गके अन्तमें गुण और कर्मोंके संस्कारोंका समुदाय कारणरूपा प्रकृतिमें लय हो जाता है और सर्गके आदिमें पुन उसीसे प्रकट हो जाता है और उसी गुण-कर्म-समुदायके अनुसार ही परमेश्वर सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंको संसारमें रचते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

---

* चौबीस तत्त्व ये हैं—पञ्चमहाभूत अहङ्कार, बुद्धि, मूलप्रकृति दस इन्द्रियाँ मन और पञ्चतन्मात्रा।

(गीता १३।५)

† पञ्चकोश ये हैं—अन्नमय प्राणमय मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। स्थूलमें तीनों शरीर और पाँचों कोश हैं। सूक्ष्ममें दो शरीर तथा 'अन्नमय' को छोड़कर शेष चार कोश हैं एवं कारण-शरीरमें सिर्फ आनन्दमय कोश है।

‡ मन बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्रा—ये सत्तरह तत्त्व हैं। अहङ्कार बुद्धिके अन्तर्गत आ जाता है और प्रकृति सबमें व्यापक है ही। पञ्चप्राण सूक्ष्म वायुके अन्तर्गत होनेसे उन्हें तन्मात्राओंके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
(गीता ९ । ७)

'हे अर्जुन ! कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लय होते हैं और कल्पके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ ।'

जीवमें जो चेतनता है वह परमात्माका अंश होनेसे वस्तुत. परमात्मस्वरूप ही है, अत उस चेतनत्वको अनादि और अनन्त ही मानना चाहिये । परन्तु जीवके साथ जो प्रकृतिका सम्बन्ध है वह अनादि और सान्त है, क्योंकि प्रकृति स्वय ही अनादि एव सान्त है ।

प्रकृतिके दो भेद हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या । विद्याके द्वारा परमात्मा ससारकी रचना करते हैं और अविद्याके द्वारा जीव मोहित हो रहे हैं । जब जीव अविद्याजनित रज और तमको लाँघकर केवल सत्त्वमें स्थित हो जाता है, तब उसके अन्त करणमें विद्या अर्थात् ज्ञानकी उत्पत्ति होती है । फिर उस ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होनेपर वह ज्ञान भी स्वयमेव शान्त हो जाता है । जैसे काठसे उत्पन्न अग्नि काठको जलाकर स्वय भी शान्त हो जाती है, इसी प्रकार शुद्ध अन्त करणमें उत्पन्न ज्ञान, अज्ञानको मिटाकर स्वय भी मिट जाता है । उस समय यह जीव विद्या और अविद्या उभयरूपा प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त होकर सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको अभिन्नरूपसे प्राप्त हो जाता है । इसीको अभेदमुक्ति कहते हैं । फिर उसकी दृष्टिमें न ज्ञान है और न अज्ञान ही है । वह

सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित केवल शुद्ध चेतनस्वरूप है। उसके स्वरूपका वर्णन हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह वाणीसे अतीत है। वर्णनकी बात तो अलग रही, उसकी स्थितिको मन, बुद्धिसे समझ लेना भी अत्यन्त दुर्गम है, क्योंकि वह मन-बुद्धिसे परे है, उसके सम्बन्धमें जो कुछ भी वर्णन, मनन या निश्चय किया जाता है, वस्तुत वह इन सबसे अत्यन्त विलक्षण है। उसकी इस विलक्षणताको समझ लेना मनुष्यकी बुद्धिसे बाहरकी बात है। जिसको वह स्थिति प्राप्त है, वही इस बातको समझता है। वस्तुत यह कहना भी केवल समझानेके लिये ही है।

एक ही निराकार आकाश जिस प्रकार अनेक भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे उसमें भिन्न भिन्न रूपसे प्रतीत होता है और जिस प्रकार एक ही जल विशेष सर्दीके कारण ओलोंके रूपमें परिणत होकर अनेक रूपमें भासता है, इसी प्रकार एक ही चेतन प्रकृतिके सम्बन्धसे अनेक भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत हो रहा है। यद्यपि घटाकाश और महाकाशमें कोई भिन्नता नहीं तथापि उपाधिभेदसे वह आकाश विभिन्न नाना रूपोंमें दिखलायी पड़ता है। परन्तु जिस प्रकार घटाकाश महाकाशका अंश है, ठीक उसी प्रकार जीव परमात्माका अंश नहीं है; क्योंकि आकाश निराकार, निरवयव तो है परन्तु जड होनेके कारण उसमें जैसे देशके विभाग-की कल्पना की जा सकती है, विज्ञानानन्दघन परमात्मा देश और कालसे सर्वथा अतीत होनेके कारण उसमें आकाशकी भाँति अंशांशी-भावकी कल्पना नहीं की जा सकती। वास्तवमें परमात्माके अंशांशी-भावकी कल्पनाको अवकाश देनेवाला संसारमें

कोई दूसरा उदाहरण है ही नहीं। दूसरा स्वप्नका उदाहरण भी दिया जाता है कि 'जैसे एक ही जीव स्वप्नावस्थामें मन:कल्पित सृष्टिको रचकर आप ही अपने अनेक रूपोंकी कल्पना कर सुख-दुःखको प्राप्त होता है, परन्तु स्वप्नकी सृष्टिमें प्रतीत होनेवाले वे अनेक पदार्थ उसीकी अपनी कल्पना होनेके कारण उससे भिन्न नहीं हैं, इसी प्रकार संसारके सारे जीव भी ईश्वरके ही अंश हैं।' पर यह उदाहरण भी समीचीन नहीं, क्योंकि जीव अज्ञानके कारण निद्राके वशीभूत हो स्वप्नमें कल्पित सृष्टिका अनुभव करता है, परन्तु सच्चिदानन्दघन परमात्मामें यह बात नहीं। परमात्माके यथार्थ अंशांशी-भावकी स्थिति तो परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होनेसे ही समझमें आ सकती है। उदाहरणों और शास्त्रोंसे जो बातें जानी जाती हैं, वे तो केवल शाखाचन्द्र-न्यायसे तत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये हैं। वास्तविक स्वरूप तो अत्यन्त ही विलक्षण है।

प्रकृति, प्रकृतिके विकार संसार और पुरुष अर्थात् जीवात्मा एवं परमात्माका वर्णन संक्षेपमें किया जा चुका। अब अगले प्रश्नोंपर विचार करना है।

(४) हम कौन हैं ?

जीवात्मा ही इस मनुष्य-शरीरमें 'अहम्' अर्थात् हम शब्दका वाच्य है। वह वस्तुतः नित्य, चेतन और आनन्दरूप है तथा इस चौबीस तत्त्वोंवाले जड-दृश्य शरीरसे अत्यन्त विलक्षण है। शरीर अनित्य, क्षणभङ्गुर और नाशवान् है, अज्ञानसे इसकी स्थिति और ज्ञानसे ही इसका अन्त है। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने सब शरीरोंको अन्तवाले बतलाया है।

'अन्तवन्त इमे देहा'

(गीता २ । १८)

परन्तु मायाके कार्यरूप शरीरके साथ सम्बन्ध होनेके कारण *अविनाशी, अप्रमेय, नित्य-चेतन जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता* और नाना प्रकारकी योनियोंमें गमनागमन करनेवाला कहा गया है। यथा—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गीता १३ । २१)

अर्थात् 'प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

जबतक इसको परमात्माके तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो जाती तबतक अनन्तकोटि जन्मोंके बीत जानेपर भी आवागमनरूपी दुःखसे इसका छुटकारा नहीं होता। ज्ञानके द्वारा जिसके अज्ञानका सर्वथा नाश हो गया है, वह पुरुष इस देहके अंदर जीता हुआ भी मुक्त है।

(५) राग-द्वेषादिका नाश हो जाता है

मुक्त पुरुषके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। किसी-किसीका कथन है कि ज्ञानके अनन्तर भी ज्ञानीके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध और सुख-दुःखादि होते हैं एवं किसी-किसीने तो यहाँतक कह डाला है कि प्रारब्धके कारण ज्ञानीमें झूठ, कपट, चोरी और व्यभिचार आदि दुराचार भी रह सकते हैं। परन्तु मेरी साधारण

समझके अनुसार इस प्रकार कहना मुनि-प्रणीत आर्ष ग्रन्थों एव युक्तियोंके सर्वथा विरुद्ध है। श्रुति-स्मृति आदि प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थोंके प्रमाणसे विधि-वाक्योंद्वारा जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमे अर्थात् ज्ञानोत्तरकालमें दुराचारोंका होना किसी महाशयको ज्ञात हो तो वे कृपापूर्वक मुझे अवश्य सूचना दें। हाँ, उनके विरुद्ध तो श्रुति-स्मृतियोंमें प्रचुर प्रमाण मिलते हैं, उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

हर्षशोकौ जहाति ।

(कठ० १।२।१२)

तरति शोकमात्मवित् ।

(छा० ७।१।३)

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।

(ईश० ७)

'हर्ष-शोक त्याग देता है', 'आत्मज्ञानी शोकसे तर जाता है', 'जब सर्वत्र आत्माकी एकताका निश्चय कर लेता है तब शोक-मोह कुछ भी नहीं रह जाते।'

गीतामें कहा है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

(५।२६)

'काम-क्रोधसे रहित जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म [illegible]

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
(गीता १२ । १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है ।'

बल्कि काम क्रोधादिको तो भगवान्‌ने साक्षात् नरकके द्वार और आत्माका नाशकारक बतलाये हैं और इनके अत्यन्त अभाव होनेपर ही आत्माके कल्याणके लिये साधन करनेसे मुक्ति बतलायी है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
(गीता १६ । २१ २२)

अर्थात् 'काम, क्रोध तथा लोभ -- ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले हैं, यानी अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये, क्योंकि हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है। इससे (वह) परम गतिको जाता है अर्थात् मुक्तको प्राप्त होता है।'

उपर्युक्त बाईसवें श्लोकमें 'विमुक्त' शब्द आया है जो काम, क्रोध लोभके आत्यन्तिक अभावका द्योतक है यानी परमगति चाहने वालेमें काम क्रोधादिकी गन्ध भी नहीं होनी चाहिये। काम-क्रोधादिका कारण है आसक्ति। आसक्तिका नाम ही रस या राग है इसीको संग भी कहते हैं। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'संग' से ही 'काम' की उत्पत्ति होती है और क्रोध कामसे उत्पन्न होता है।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

(गीता २ । ६२)

'काम-क्रोधादिके कारणरूप इस आसक्तिका परमात्माके साक्षात्कारसे सर्वथा नाश हो जाता है ।'

—रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते (गीता २ । ५९)

अर्थात् 'इस पुरुषका राग भी परमात्माका साक्षात्कार होनेपर निवृत्त हो जाता है ।'

जब कारणका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब उसके कार्य काम-क्रोधादिका अस्तित्व मानना भारी भोलेपनके अतिरिक्त और क्या है ? जिस कामरूपी कारणका कार्य क्रोध है, उस कामको श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण और साधकके लिये महान् शत्रु बतलाया है और उसे मारनेकी स्पष्ट आज्ञा दी है ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

अर्थात् 'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महाअशन यानी अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है । इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान ।'

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

(गीता ३ । ४२-४३)

'इन्द्रियोंको परे अर्थात् श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं तथा इन्द्रियोंसे परे मन है एवं मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है। इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर तथा बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार।'

अस्मिता, राग, द्वेष और भय—इन चारोंका कारण अविद्या है। अविद्या ही जीवके सुख-दु:खमें हेतु है और उस अविद्याका अभाव होनेसे ही जीवकी मुक्ति होती है। अविद्यारूप कारणके अभावसे उसके चारों कार्योंका आप ही अभाव हो जाता है। योगदर्शनमें लिखा है—

'तस्य हेतुरविद्या,' 'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।'

(२।२४-२५)

'उस संयोगका हेतु अविद्या है,' 'उस अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव हो जाता है। उसका नाम हान है। वही द्रष्टाकी कैवल्य यानी मुक्त-अवस्था है।

इस अवस्थामें सुख-दु:ख, हर्ष-शोक, काम-क्रोध, भय आदि विकार रह ही कैसे सकते हैं?

कुछ लोग इन राग-द्वेष, सुख-दु:ख हर्ष-शोक आदिको अन्त:करणका धर्म मानते हैं और शरीर रहते इनका सर्वथा नाश होना असम्भव बतलाते हैं परन्तु यह मानना युक्तियुक्त नहीं है; बल्कि श्रुति-स्मृति, शास्त्र-प्रमाणोंसे तो शरीरके रहते हुए ही इनका अभाव

होना सिद्ध है। उपर्युक्त विवेचनमें यह बात दिखलायी जा चुकी है। अब यह दिखलाना है कि ये अन्त करणके स्वाभाविक धर्म नहीं, किन्तु विकार हैं। क्षेत्रके वर्णन-प्रसङ्गमें भगवान् कहते हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥
(गीता १३।६)

'इच्छा, द्वेष, सुख, दु.ख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति—इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित सक्षेपमें कहा गया।'

इससे इनका विकार होना सिद्ध है और इन विकारोंसे आत्यन्तिक मुक्तिका नाम ही मोक्ष है। शास्त्र-प्रमाणोंके अतिरिक्त युक्तिसे भी यही बात सिद्ध है। भला यदि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दु ख आदि विकार ही न छूटे तो मुक्ति किस बन्धनसे हुई और ऐसी मुक्तिका मूल्य ही क्या है? यदि सुख-दु ख, हर्ष-शोक, काम-क्रोधादि स्वाभाविक धर्म होते तो वे धर्मीसे कदापि अलग नहीं हो सकते और धर्मीके नाश होनेपर ही उनका नाश होता, परन्तु ऐसा न होकर अन्त करणरूप धर्मीके रहते हुए ही इनका घटना-बढ़ना और नष्ट होना देखा जाता है। इससे ये धर्म नहीं, किन्तु विकार ही सिद्ध होते हैं। ज्ञानीमें तो ये रहते ही नहीं, परन्तु अज्ञानीके अंदर भी ये घटते-बढ़ते देखे जाते हैं और इनके घटने-बढ़नेसे अन्तःकरणका घटना-बढ़ना नहीं देखा जाता। वास्तवमें ये धर्म नहीं, किन्तु अविद्याजनित विकार हैं और विवेकसे इनका शमन होता है। जब विवेकसे ही ऐसा होता है तब पूर्ण ज्ञानसे तो इनका सर्वथा नाश हो जाना

बिल्कुल ही युक्तियुक्त है। कुछ लोग चोरी, झूठ, कपट और व्यभिचार आदि पापोंकी उत्पत्ति भी ज्ञानीके प्रारब्धसे मानते हैं और ऐसे प्रारब्धका आरोप करके ज्ञानीके मत्थे भी इन पापोंका होना मढ़ते हैं। मेरी साधारण बुद्धिसे इस प्रकार मानना ज्ञानीके मस्तकपर कलंक लगाना है। ज्ञानीकी तो बात ही क्या है—किसी भी मनुष्यके लिये दुराचारोंकी उत्पत्तिमें प्रारब्धको हेतु माननेसे शास्त्र और युक्तियोंके साथ अत्यन्त विरोध उपस्थित हो जाता है। जैसे—

१–'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, धर्मान्न प्रमदितव्यम्।'

(तैत्ति० १।११।१)

—आदि श्रुतिके विधि वाक्योंका और 'सुरां न पिबेत्' आदि निषेध-वाक्योंका कोई मूल्य ही नहीं रह जायगा और सारे विधि निषेधात्मक शास्त्र सर्वथा व्यर्थ हो जायँगे।

२–झूठ-कपट, चोरी-जारी आदि पाप यदि पूर्वकृत पापोंके फलरूप प्रारब्ध हैं तो फिर इनका कभी नाश होना सम्भव ही नहीं, क्योंकि पापका फल पाप फिर उस पापका फल पाप, इस प्रकार पापोंकी शृंखला कभी टूट ही नहीं सकती यानी अनवस्था-दोष आ जायगा।

३–पापोंका होना प्रारब्धसे मान लेनेपर उनके लिये किसीको कोई दण्ड नहीं मिलना चाहिये। क्योंकि पाप करनेवाला तो बेचारा प्रारब्धवश बाध्य होकर पापोंको करता है, फिर वह दण्डका पात्र क्यों समझा जाय। जिस ईश्वरने इस प्रकारके प्रारब्धकी रचना की, असलमें उसीपर यह दोष भी आना चाहिये।

४—काम-क्रोधादि पापोंके फलस्वरूप दण्डका विधान ही युक्तियुक्त है न कि पुन. पाप करनेका। दुनियाँमें हम देखते हैं कि चोरी, व्यभिचारादि करनेवाले अपराधियोंको जेल आदिकी सजा होती है, न कि फिर वैसे ही पाप करनेके लिये उन्हें उत्साह दिलाया जाता हो। जब जगत्‌के न्यायमें भी ऐसा नहीं होता तब परम दयालु, परम न्यायकारी ईश्वर पाप-कर्मोंका फल चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि कैसे रच सकते हैं?

५—प्रारब्ध उसी कर्मका नाम है जो पूर्वकृत कर्मोंका फल भुगतानेवाला हो। नवीन क्रियमाण कर्मकी उत्पत्तिका नाम प्रारब्ध नहीं है। नवीन क्रियमाण कर्म तो प्रारब्धसे सर्वथा भिन्न है। जहाँ कर्मोंकी तीन संज्ञाएँ बतलायी गयी हैं, वहाँ पुण्य-पापादि नवीन कर्मोंको क्रियमाण, सुख-दु.खादि भोगोंको प्रारब्ध और पूर्वकृत अभुक्त कर्मोंको सञ्चित कहा है। जिन लोगोंको उपर्युक्त तीनों कर्मोंके तत्त्वका ज्ञान होगा, वे पाप-पुण्यादि क्रियमाण कर्मोंको प्रारब्ध कैसे बतला सकते हैं? अतएव यह सिद्ध हो गया कि राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अज्ञानसे उत्पन्न विकार ज्ञान न होनेतक जीवके अन्तः-करणमें न्यूनाधिक रूपमें रहते हैं और ज्ञान होते ही इनका समूल नाश हो जाता है।

(६) संसारमें हमारा क्या कर्तव्य है ?

चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्य ही कर्म-योनि है। अर्थात् इस मनुष्य-शरीरमें किये हुए कर्मोंका फल ही जीवको अन्यान्य सारी योनियोंमें भोगना पडता है। मनुष्य, पितृ और देव—ये तीन उत्तम

योनियाँ मानी गयी हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी पाप-योनियाँ हैं। इन तीनोंमें भी मुक्तिके सम्बन्धमें तो मनुष्यकी ही प्रधानता है। यद्यपि मनुष्यकी अपेक्षा देव और पितृ अधिक पुण्ययोनि हैं और उनमें बुद्धि तथा सामर्थ्यकी भी विशेषता है, परन्तु भोगोंकी बाहुल्यताके कारण देव और पितृयोनिके जीव मुक्तिके मार्गपर आरूढ होनेमें प्रायः असमर्थ ही रहते हैं। जब इस लोकमें भी विशेष समृद्धिशाली मनुष्य भोग-विलासमें फँसे रहनेके कारण मुक्तिके मार्गपर नहीं आते तब स्वर्गादि लोकोंमें अनेक सिद्धियोंको प्राप्त और भोग-सामग्रीमें अनुरक्त लोग मुक्तिमार्गमें कैसे लग सकते हैं? अतएव बड़े ही सुकृतोंके सञ्चय होनेपर भगवत्कृपासे यह परम दुर्लभ और मुक्तिका साधन मनुष्यशरीर मिलता है। भगवान् दया करके जीवको मुक्त होनेका यह एक सुअवसर देते हैं—

> आकर चारि लच्छ चौरासी।
> जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
> फिरत सदा माया कर प्रेरा।
> काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
> कबहुँक करि करुना नर देही।
> देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ऐसे अमूल्य शरीरको पाकर हमलोगोंको उस परम दयालु परमात्माको तत्त्वसे जाननेके लिये परमात्माके भजनके निमित्त प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। भगवान‌्ने श्रीगीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥
(९ । ३३)

'इस सुखरहित और क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर तू निरन्तर मेरा भजन ही कर ।'

क्योंकि यह शरीर परम दुर्लभ और पुण्यसे मिलनेवाला होनेपर भी विनाशी और क्षण-क्षणमें क्षय होनेवाला है । यदि इस अवसरको हम हाथसे खो देंगे तो फिर हमारे पछतानेकी सीमा न रहेगी । यह शरीर न तो भोगोंके लिये है और न स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही । जो इस मनुष्य-शरीरको पाकर इसे केवल विषय-भोगोंमें लगा देते हैं, उनकी महात्माओंने बड़ी निन्दा की है । गोस्वामीजी कहते हैं——

एहि तन कर फल बिषय न भाई ।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं ।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई ।
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई ॥

श्रीमद्भागवतमें कहा है——

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥
(११ । २० । १७)

'अति दुर्लभ मनुष्य-देह भगवत्कृपासे सुलभतासे प्राप्त है, यह संसार-समुद्रसे पार जानेके लिये सुन्दर दृढ़ नौका है, गुरुरूपी इसमें कर्णधार है, भगवान् इसके अनुकूल वायु है, इस प्रकार होनेपर भी जो भव-समुद्रसे नहीं तरता वह आत्महत्यारा है।'

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्मा हन गति जाइ॥

यह शरीर तो आत्माके कल्याणके लिये है। शास्त्रोंमें आत्म कल्याणके अनेक उपाय और युक्तियाँ बतलायी गयी हैं। गीताके चौथे अध्यायमें विविध यज्ञोंके नामसे, पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्त-निरोधके नामसे, उपनिषदादिमें ज्ञानके नामसे और शाण्डिल्य, नारद और व्यास आदिने भक्तिके नामसे परमात्माका तत्त्व जाननेके लिये अनेक उपाय बतलाये हैं। परन्तु इन सबमें सर्वोत्तम उपाय परमात्माकी *अनन्य भक्ति या अनन्य शरण ही समझनी चाहिये।*

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

(योग १।२३)

'ईश्वर-शरणागतिसे चित्त ईश्वरमें निरुद्ध हो सकता है।'

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

(शाण्डिल्यसूत्र २)

'ईश्वरमें परम अनुरक्ति ही भक्ति है।'

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

(नारद० १९)

'समस्त आचार भगवान्‌के अर्पण करके भगवान्‌को ही स्मरण करते रहना और विस्मरण होते ही परम व्याकुल हो जाना।'

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २०-२२)

'हे उद्धव! मेरी प्राप्ति करानेमें मेरी दृढ़ भक्तिके समान योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप अथवा दान—कोई भी समर्थ नहीं है। साधुजनोंका प्रिय आत्मारूप मैं एकमात्र श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही सुलभ हूँ, मेरी भक्ति चाण्डालादिको भी उनके जातीय दोषसे छुड़ाकर पवित्र कर देती है। मेरी भक्तिसे हीन पुरुषोंको सत्य और दयासे युक्त धर्म अथवा तपसहित विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(११। ५३)

'हे अर्जुन! न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे

इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं देखा जानेको शक्य हूँ कि जैसे मुझको तुमने देखा है।'

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
> (गीता १८।६५-६६)

(इसलिये) तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा, भक्तिसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा—यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है। इससे सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्याग

कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।'

अतएव मनुष्य-शरीर पाकर ऋषियोंके और साक्षात् भगवान्के वचनोंमें विश्वास कर हमें भगवान्के भजन, ध्यानमें तत्पर होकर लग जाना चाहिये ।

(७) परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति और संसारका विषय

परमात्मा, जीवात्मा तथा ससारसहित प्रकृति और इनका परस्पर सम्बन्ध अर्थात् जीव और परमात्माका सम्बन्ध, जीव और प्रकृतिका सम्बन्ध तथा-प्रकृनि और परमात्माका सम्बन्ध, परस्परका भेद और कर्म—ये छ अनादि हैं । इनमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा और उसका अश जीव—दोनों अनादि और अनन्त हैं । शेष सभी अनादि और सान्त हैं । जीव और परमात्माका अंशाशी सम्बन्ध है । यह अशाशी सम्बन्ध अनेक भावोंसे माना जाता है । जैसे दास्यभाव, सख्य-भाव और माधुर्यभाव आदि । इस सम्बन्धकी अवधि जीवकी इच्छापर अवलम्बित है । जीव और प्रकृतिमें भोक्ता और भोग्य-सम्बन्ध है । जीव चेतन होनेके कारण भोक्ता है और प्रकृति जड होनेसे भोग्य ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

(गीता १३ । २०)

'जीवात्मा सुख-दु खोंके भोक्तापनमें हेतु कहा जाता है ।'

परन्तु कोई-कोई अन्त करणको भोक्ता मानते हैं। पर उनका मानना युक्तियुक्त नहीं । कारण, अन्त.करण जड होनेसे उसमें

भोक्तृत्व सम्भव नहीं। शुद्ध आत्मा भी भोक्ता नहीं है। जो केवल शुद्ध आत्माको भोक्ता मानता है उसे भगवान्‌ने मूढ़ कहा है। अतएव 'प्रकृतिस्थ पुरुष' ही भोक्ता है।

प्रकृति और परमात्माका सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान्‌के सदृश है। सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति महासर्गके आदिमें प्रकृति और परमेश्वरके सम्बन्धसे ही होती है। शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँ प्रकृतिसे संसारकी उत्पत्ति बतलायी है, वहाँ वहाँ भगवान्‌की अध्यक्षतामें ही बतलायी है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
(गीता ९। १०)

'मेरी अध्यक्षतामें ही प्रकृति (माया) चराचरसहित समस्त जगत्‌को रचती है।'

जहाँ परमेश्वरके द्वारा संसारकी उत्पत्ति बतलायी है वहाँ कहीं प्रकृतिको द्वार कहा है और कहीं योनि।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
(गीता १४। ३)

'मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) सब भूतोंकी योनि है और मैं उसमें चेतनरूप बीज स्थापन करता हूँ।'

योनि कारणका नाम है। यहाँ यह शरीरोंके जडसमुदायका कारण है। चेतन-अंशका कारण तो स्वयं परमात्मा है।

(८) बन्धन और मुक्ति

प्रकृति या वैष्णवी मायाका विकार जो अज्ञान है, उस अज्ञान–

सहित प्रकृतिके साथ जीवका अनादि कालसे सम्बन्ध है। इसीका नाम बन्धन है और इसी कारणसे ईश्वरका चेतनांश जीवात्मा अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोधादि प्रकृतिके विकारोंसे बँधा हुआ प्रतीत होता है। ज्ञानके द्वारा प्रकृतिका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही मुक्ति है और अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक तथा काम-क्रोधादि विकारोंका अन्तःकरणसे सर्वथा नाश हो जाना ही अज्ञानके नाशका लक्षण है, क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुषोंमें उपनिषद्, गीता प्रभृति आर्ष शास्त्रोंद्वारा इन विकारोंका सर्वथा अभाव ही प्रतिपादित है। अतएव अविद्याके अत्यन्त अभावका नाम ही मुक्ति है। अविद्याका अभाव होनेपर उसके कार्य इन विकारोंका नाश स्वाभाविक ही हो जाता है, क्योंकि कारणके साथ ही कार्यका अभाव सर्वथा सिद्ध है।
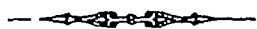
अनन्य शरणागति

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६२, ६६)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्ति और सनातन परमधामको प्राप्त होगा। (वह परमात्मा

मैं ही हूँ, अतएव) सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

भगवान्‌की उपर्युक्त आज्ञाके अनुसार हम सबको उनके शरण हो जाना चाहिये। लज्जा-भय, मान-बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्मा को ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए ही भगवदाज्ञानुसार कर्तव्यकर्मोंका निःस्वार्थ भावसे केवल परमेश्वरके लिये ही आचरण करना तथा सुख-दुःखोंकी प्राप्तिको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उनमें समचित्त रहना। संक्षेपमें इसीका नाम अनन्य शरण है।

जिससे भगवान् सच्चिदानन्दघनके स्वरूपका चिन्तन बुद्धिसे 'सब कुछ एक नारायण ही है' ऐसा निश्चय, प्राणोंसे (श्वासद्वारा) भगवन्नाम-जप, कानोंसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपकी महिमाका भक्तिपूर्वक श्रवण, नेत्रोंसे भगवान्‌की मूर्ति और भगवद्भक्तोंके दर्शन, वाणीसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव और पवित्र नामका कीर्तन एवं शरीरसे भगवान् और उनके भक्तोंकी निष्काम सेवा—ये सभी कर्म शरणागतिके अंदर आ जाते हैं। इस प्रकार भगवत्सेवापरायण होनेसे भगवान्‌में प्रेम होता है।

ससारमें जिन वस्तुओंको मनुष्य 'मेरी' कहता है, वे सब भगवान्की हैं। मनुष्य मूर्खतासे उनपर अधिकार आरोपण कर सुखी-दुखी होता है। भगवान्की सब वस्तुएँ भगवान्के ही काममें लगनी चाहिये। भगवान्के कार्यके लिये यदि सासारिक सारी वस्तुएँ मिट्टी-में मिल जायँ तो भी बड़े आनन्दकी बात है और उनके कार्यके लिये बनी रहें तो भी बड़े हर्षका विषय है। उन वस्तुओंको न तो अपनी सम्पत्ति समझनी चाहिये और न उन्हें अपने भोगकी सामग्री ही माननी चाहिये, क्योंकि वास्तवमें तो सब कुछ नारायणका ही है, इसलिये नारायणकी सर्व वस्तु नारायणके अर्पण की जाती है। यों समझकर संसारमें जो कार्य किये जाते हैं, वही भगवत्-प्रेमरूप शरणकी प्राप्तिका साधन है।

उपर्युक्त प्रकारसे जो कुछ भी कर्म किये जायँ, सब भगवान्के लिय करने चाहिये, इसीका नाम अर्पण है। जो कुछ भी हो रहा है, सब भगवान्की इच्छासे हो रहा है, लीलामयकी इच्छासे लीला हो रही है। इसमें व्यर्थके बुद्धिवादका बखेड़ा नहीं खडा करना चाहिये। अपनी सारी इच्छाएँ भगवान्की इच्छामें मिलाकर अपना जीवन सर्वतोभावसे भगवान्को सौंप देना चाहिये। जब इस प्रकार जीवन समर्पण होकर प्रत्येक कर्म केवल भगवदर्थ ही होने लगेगा, तभी हमें भगवत्प्रेमकी कुछ प्राप्ति हुई है—हम भगवान्के शरण होने चले हैं, ऐसा समझा जायगा।

सच्चिदानन्दघन परमात्माकी पूर्ण शरण हो जानेपर एक सच्चिदानन्दघनके सिवा और कुछ भी नहीं रह जाता। वह अपार,

मैं ही हूँ, अतएव) सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर !'

भगवान्‌की उपर्युक्त आज्ञाके अनुसार हम सबको उनके शरण हो जाना चाहिये । लज्जा-भय, मान बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए ही भगवदाज्ञानुसार कर्तव्यकर्मोंका नि स्वार्थ भावसे केवल परमेश्वरके लिये ही आचरण करना तथा सुख-दु ःखोंकी प्राप्तिको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उनमें समचित्त रहना । संक्षेपमें इसीका नाम अनन्य शरण है ।

चित्तसे भगवान् सच्चिदानन्दघनके स्वरूपका चिन्तन, बुद्धिसे 'सब कुछ एक नारायण ही है' ऐसा निश्चय, प्राणोंसे (श्वासद्वारा) भगवन्नाम-जप, कानोंसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपकी महिमाका भक्तिपूर्वक श्रवण, नेत्रोंसे भगवान्‌की मूर्ति और भगवद्भक्तोंके दर्शन, वाणीसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव और पवित्र नामका कीर्तन एवं शरीरसे भगवान् और उनके भक्तोंकी निष्काम सेवा—ये सभी कर्म शरणागतिके अंदर आ जाते हैं । इस प्रकार भगवत्सेवापरायण होनेसे भगवान्‌में प्रेम होता है ।

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' 'ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' 'तरति हि शोकमात्मवित्' 'स यो ह वै तत् परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि। जैसे ये वाक्य ज्ञानसे मोक्षप्राप्तिका प्रदिपादन करते हैं, यदि कर्मसे भी मुक्ति होती तो कर्मसे मोक्षप्रतिपादक वाक्य भी इसी प्रकार मिलते, पर ऐसे वाक्य नहीं मिलते, प्रत्युत कर्मसे मोक्ष नहीं होता, इस बातके परिपोषक वाक्य अनेक मिलते हैं।

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'
'नास्त्यकृतः कृतेन' (कृतेन अकृतो मोक्षो नास्ति)

श्रुति कितने बलसे प्रतिपादन करती है कि कर्मसे मोक्ष नहीं हो सकता। कर्मकी आवश्यकता तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये प्रारम्भमें होती है।

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः'

इसी बातका प्रतिपादन भगवान्‌ने भी गीतामें स्वयं श्रीमुखसे किया है—

'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

(५।११)

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥'

(६।३)

अचिन्त्य, पूर्ण, सर्वव्यापक एक परमात्मा ही अचल अनन्त आनन्दरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण हैं। उस आनन्दको कभी नहीं भुलाना चाहिये। आनन्दघनके साथ मिलकर आनन्दघन ही बन जाना चाहिये। जो कुछ भासता है, जिसमें भासता है और जिसको भासता है, वह सब एक आनन्दघन परमात्मा ही परिपूर्ण है। इस पूर्ण आनन्दघनका ज्ञान भी उस आनन्दघनको ही है। वास्तवमें यही अनन्य शरणागति है।

गीतोक्त सांख्ययोगपर शङ्का-समाधान

काशीस्थ एक सम्माननीय विद्वान् लिखते हैं कि—'गीतोक्त सांख्ययोग' शीर्षक लेखमें तीन पक्षोंपर विचार करते हुए तृतीय पक्ष समीचीन सिद्ध किया गया है। उसमें 'सांख्ययोग' और कर्मयोग ये दो भिन्न-भिन्न निष्ठाएँ हैं और दोनों सर्वथा स्वतन्त्र मुक्तिके साधन हैं' यही गीताका प्रतिपाद्य विषय निर्धारित किया गया है। इसपर मुझे शङ्का है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

—इत्यादि वाक्योंसे पता लगता है कि गीतामें प्रतिपाद्य विषय ही उपनिषदोंका रहस्य है। किसी अंशमें भी उपनिषदोंसे गीताका पार्थक्य नहीं हो सकता। उपनिषद् भगवान्के निःश्वास हैं। 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' (मनु०) और गीता भगवान्मुखसे निःसृत वाणी है। उसमें किसी प्रकार भेद सम्भव नहीं हो सकता। उपनिषदोंमें

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' 'ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' 'तरति हि शोकमात्मवित्' 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि । जैसे ये वाक्य ज्ञानसे मोक्षप्राप्तिका प्रतिपादन करते हैं, यदि कर्मसे भी मुक्ति होती तो कर्मसे मोक्षप्रतिपादक वाक्य भी इसी प्रकार मिलते, पर ऐसे वाक्य नहीं मिलते, प्रत्युत कर्मसे मोक्ष नहीं होता, इस बातके परिपोषक वाक्य अनेक मिलते हैं ।

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'
'नास्त्यकृतः कृतेन' (कृतेन अकृतो मोक्षो नास्ति)

श्रुति कितने बलसे प्रतिपादन करती है कि कर्मसे मोक्ष नहीं हो सकता । कर्मकी आवश्यकता तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये प्रारम्भमें होती है ।

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः'

इसी बातका प्रतिपादन भगवान्ने भी गीतामें स्वयं श्रीमुखसे किया है—

'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

(५ । ११)

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥'

(६ । ३)

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥'

(१८।५)

श्रीमद्भागवतमें उद्धवके प्रति भगवान्‌ने यही बात कही है—

'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥'

(११।२०।९)

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।'

(गीता ५।६)

—इत्यादि शास्त्रोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्म ज्ञानका कारण है न कि मोक्षका।

अब जो तृतीय पक्षके समर्थनमें आपने हेतु दिये हैं, उनमें—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।'

(गीता ५।४)

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।'

(गीता ५।५)

'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।'

(गीता ३।३)

—इत्यादि वचनोंपर विचार करना है। 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्' इस वचनका यह अर्थ है कि सांख्य (ज्ञानी) ज्ञानसे जिस मोक्षपदको प्राप्त होते हैं, कर्मयोगी ज्ञानद्वारा उसी पदको प्राप्त होते हैं। कर्मसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह अर्थ इस वाक्यका नहीं करना चाहिये। अन्यथा उक्त वचनोंमें विरोध हो जायगा।

'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा ' इससे भगवान्ने दो निष्ठाएँ दिखायी हैं। ये दोनों स्वतन्त्र मोक्षके कारण हैं, यह अर्थ उक्त श्लोकसे नहीं निकलता। 'तयोस्तु कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ये वचन उन लोगोंके लिये हैं, जिनका चित्त शुद्ध नहीं है और जो ज्ञानके अधिकारी नहीं हैं। तभी सब वाक्योंका समन्वय होगा। इसीसे भगवान् आगे चलकर कहते हैं कि 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन ' यदि कर्मसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती तो उसे (अर्जुनको) ज्ञानकी आवश्यकता ही क्या थी, जिसके लिये उसको ज्ञानियोंसे उपदेश सुननेका आदेश किया गया।

यदि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही स्वतन्त्र निष्ठाएँ भगवान्को स्वीकार होतीं तो 'सन्यासस्तु महाबाहो दु खमाप्तुमयोगत ।' (गीता ५ । ६) कर्मयोगके बिना सन्यास दु खसे प्राप्त होता है। अर्थात् कर्म ज्ञानका कारण है भगवान् यह कैसे कहते ?

अब इस बातपर विचार किया जाता है कि ज्ञानसे ही मोक्षप्राप्ति (भगवत्प्राप्ति) होती है, कर्मसे नहीं, इसमें क्या विनिगमक है। यदि मोक्ष स्वर्गकी तरह यज्ञादि व्यापार-जन्य (उत्पाद्य) होता तो कर्मकी आवश्यकता होती, किन्तु ऐसा होनेसे मोक्ष परिच्छिन्न और अनित्य हो जायगा। यदि दधि, घटकी तरह मोक्ष विकार्य होता तो भी क्रियाकी आवश्यकता होती, परन्तु ऐसा होनेपर भी परिच्छिन्नता और अनित्यता नहीं हटती है। यदि मोक्ष सस्कार्य होता तो भी कर्मकी आवश्यकता होती। संस्कार दो प्रकारसे किया जाता है,—बाह्य गुणोंको ग्रहण करने एव दोषोंको दूर करनेसे, सो ब्रह्मप्राप्तिरूपी मोक्ष अनाधेय

अतिशय होनेसे किन गुणोंसे संस्कृत होगा और नित्य शुद्धस्वरूप होनेसे दोष ही सम्भव नहीं है तो किन दोषोंको दूर करेगा। यदि भगवान् हम (जीवों) से बिल्कुल भिन्न हों या हमारी तरह या हमसे विलक्षण उनके कहीं शरीरादि हों तो कायिक, वाचिक अथवा मानसिक क्रियासाध्य हों, परन्तु भगवान् तो आत्मा हैं।

'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृह० १।४।१०)

'तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्'

'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि'

'वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः'

यदि पृथक् भी मानें तो भी भगवान् आकाशकी भाँति सर्वगत हैं।

'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'

आकाशकी तरह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि आकाशकी उत्पत्ति तो भगवान्‌से है।

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तैत्ति० २।१।१)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥' (गीता १०।४२)

'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥' (छान्दो० ३।१२।६)

'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥'

(गीता ९ । ६)

वास्तवमें 'न च मत्स्थानि भूतानि 'क्योंकि सृष्टि तो प्रतीतिमात्र है, इसलिये भगवान्‌को आकाशसे जो उपमा दी गयी है वह औपचारिक है ।

'प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।
यत्सम्पर्कात्प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः ॥'

अतएव परम प्रेमास्पद भगवान् नित्य प्राप्त हैं । उनकी प्राप्तिके लिये किस कर्मकी आवश्यकता है !

यदि आत्मा (जीव) स्वाभाविक बन्धनाश्रय होता तो स्वाभाविक धर्मोंकी निवृत्ति धर्मोंके निवृत्त हुए बिना नहीं हो सकती, इसलिये कभी मुक्त नहीं होता ।

'आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम् ।
न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्णवद्रवेः ॥'

(वार्तिककार)

'आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते
रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥'

'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।

अतिशय होनेसे किन गुणोंसे संस्कार होगा और नित्य शुद्धस्वरूप होनेसे दोष ही सम्भव नहीं है सो किन दोषोंको दूर करेगा। यदि भगवान् हम (जीवों) से बिल्कुल भिन्न हों या हमारी तरह या हमसे विलक्षण उनके कहीं शरीरादि हों तो कायिक, वाचिक अथवा मानसिक क्रियासाध्य हों, परन्तु भगवान् तो आत्मा हैं।

'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' (बृह० १।४।१०)

'तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्'

'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि'

'वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः'

यदि पृथक् भी मानें तो भी भगवान् आकाशकी भाँति सर्वगत हैं

'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'

आकाशकी तरह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि आकाशकी उत्पत्ति तो भगवान्से है।

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तैत्ति० २।१।१)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥' (गीता १० । ४२)

'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥' (छान्दो० ३।१२।६)

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥'

(गीता ५ । ९-१०)

इन बातोंपर विचार कर केवल कर्मसे मुक्ति-प्राप्ति मेरी बुद्धिमे नहीं जँचती। हाँ, यदि यह सोचकर कि वर्तमानकालमें ज्ञानके अधिकारी प्राय. नहीं हैं। जो लोग ऊपरकी बातोंको सुनकर तत्त्व-ज्ञानके हुए बिना ही कर्मको छोड़ देते हैं, उनको रौरवादि नरकोंकी प्राप्ति अवश्य होती है। निष्काम कर्मसे मुक्ति होती है। ऐसा प्रतिपादन नहीं करेंगे तो निष्काम कर्ममें किसीकी श्रद्धा नहीं होगी। अतएव उसमें कोई प्रवृत्त नहीं होगा। यदि निष्काम कर्ममें कोई लग जाय तो अन्त करणकी शुद्धि अवश्य होगी। अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेपर ज्ञानद्वारा मुक्ति होना अनिवार्य है। इसीसे जनताके कल्याणार्थ यदि निष्काम कर्मयोगसे मुक्तिका प्रतिपादन किया गया है तो मुझे कोई शङ्का नहीं है।

उत्तर

'गीतोक्त साख्ययोग' शीर्षक लेखके सम्बन्धमें आपने जो शङ्का प्रकट की है, उसका सक्षेपमें निम्नलिखित उत्तर है—

उक्त लेखको भलीभाँति देखना चाहिये। उसमें ज्ञानके बिना केवल कर्मोको मुक्तिका साधन नहीं बतलाया गया है। साख्ययोग और निष्कामकर्मयोग दोनों ही मोक्षके समान साधन बतलाये गये, इसका अभिप्राय यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार साख्ययोगीको साधन करते-करते पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके साथ ही मोक्ष मिल जाता है, उसी प्रकार

अखण्डचित्स्वात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥'
(श्रीमद्भा० १ । १४ । २९-२१)

'तत्तु समन्वयात्' (ब्रह्मसूत्र १ । १ । ४)

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३ । ४ । २६)

'शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्' (ब्र० सू० ३ । ४ । २७)

'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्' (ब्र० सू० ४ । ४ । १)

'मुक्तः प्रतिज्ञानात्' (ब्र० सू० ४ । ४ । २)

'आत्मा प्रकरणात्' (ब्र० सू० ४ । ४ । ३)

'अविभागेन दृष्टत्वात्' (ब्र० सू० ४ । ४ । ४)

इन सूत्रोंपर भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीका भाष्य देखिये। लेख बहुत बढ़ गया है। अतः इन सूत्रोंका अभिप्राय उद्धृत नहीं किया गया।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानी कर्म नहीं करता है अथवा ज्ञानीके लिये कर्म बन्धनका हेतु है।

'न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्' (बृहदारण्यक)

'प्रारब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथान्यथा ।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ॥'

'देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विनीयताम् ।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥'
(पञ्चदशी)

'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥'

—से योगयुक्त मुनिके लिये तुरत ही ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है। यहाँ इसका अर्थ यदि यह मान लिया जाय कि वह सांख्ययोगको प्राप्त होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है, तब तो पूर्वकथित—

'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥'

'कर्म-सन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है' इन वचनोंका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता तथा न निष्काम कर्मयोग कोई स्वतन्त्र निष्ठा ही रह जाता है। ऐसा माननेसे तो वह एक प्रकारसे सांख्ययोगका अङ्गभूत हो जाता है जो भगवान्‌के वचनोंसे विरोधी होनेके कारण युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

मोक्ष अकार्य है, उसके लिये कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है, यह सर्वथा सत्य है। परन्तु निष्काम कर्मयोगका जो इतना माहात्म्य है सो कर्मोंकी महत्ताके हेतुसे नहीं है, वह माहात्म्य है कामनाके त्यागका—सब कुछ भगवदर्पण करनेके वास्तविक भावका। बडे-से-बड़ा सकाम कर्म मुक्तिप्रद नहीं हो सकता, परन्तु छोटे-से-छोटे कर्ममें जो निष्काम-भाव है वह मुक्ति देनेवाला होता है। निष्काम कर्मयोगकी महिमा भी वास्तवमें त्यागकी ही महिमा है, कर्मोंकी नहीं। उसमें विशेषता यही है कि समस्त कर्मोंको करता हुआ भी मनुष्य उनमें लिपायमान नहीं होता और गृहस्थ-आश्रममें रहकर भी वह भगवत्-कृपासे अनायास मुक्तिलाभ कर सकता है। इन दोनों साधनोंके साधन-कालमें क्या अन्तर रहता है, इस बातका विस्तृत वर्णन उक्त लेखमें है ही।

निष्काम कर्मयोगीको भी साधन करते-करते पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके सा
ही-साथ मुक्ति मिल जाती है। केवल साधनकालमें दोनों निष्ठा
भेद है। फल दोनोंका एक ही है। इसीलिये भगवान्ने—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'

(गीता ५।४)

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।'

(गीता ५।५)

—इत्यादि वचन कहे हैं। पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर
तो सांख्ययोग है और न निष्काम कर्मयोग ही। वह तो इन दोनों
फल है। उस ज्ञानकी प्राप्ति और मोक्षकी प्राप्ति पृथक्-पृथक् न
है। भगवान्ने कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३।२४)

इससे यह पता लगता है कि आत्मसाक्षात्काररूप पूर्णज्ञान सांख्
योग और निष्काम कर्मयोग दोनों निष्ठाओंका फल है, अतएव बिना ज्ञा
के मुक्ति न बतलानेकी शङ्का तो उक्त लेखमें कहीं नहीं रह जाती है

पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें जो—

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।'

—कहकर बिना निष्काम कर्मयोगके संन्यासका प्राप्त हो
कठिन बतलाया है, उससे यह सिद्ध नहीं होता कि निष्काम क
योग मुक्तिका साधन नहीं है। क्योंकि इसी श्लोकके उत्तरार्द्धमें—

'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥'

—से योगयुक्त मुनिके लिये तुरत ही ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है। यहाँ इसका अर्थ यदि यह मान लिया जाय कि वह सांख्ययोगको प्राप्त होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है, तब तो पूर्वकथित—

'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥'

'कर्म-सन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है' इन वचनोंका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता तथा न निष्काम कर्मयोग कोई स्वतन्त्र निष्ठा ही रह जाता है। ऐसा माननेसे तो वह एक प्रकारसे सांख्ययोगका अङ्गभूत हो जाता है जो भगवान्‌के वचनोंसे विरोधी होनेके कारण युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

मोक्ष अकार्य है, उसके लिये कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है, यह सर्वथा सत्य है। परन्तु निष्काम कर्मयोगका जो इतना माहात्म्य है सो कर्मोंकी महत्ताके हेतुसे नहीं है, वह माहात्म्य है कामनाके त्यागका—सब कुछ भगवदर्पण करनेके वास्तविक भावका। बड़े-से-बड़ा सकाम कर्म मुक्तिप्रद नहीं हो सकता, परन्तु छोटे-से-छोटे कर्ममें जो निष्काम-भाव है वह मुक्ति देनेवाला होता है। निष्काम कर्मयोगकी महिमा भी वास्तवमें त्यागकी ही महिमा है, कर्मोंकी नहीं। उसमें विशेषता यही है कि समस्त कर्मोंको करता हुआ भी मनुष्य उनमें लिपायमान नहीं होता और गृहस्थ-आश्रममें रहकर भी वह भगवत्-कृपासे अनायास मुक्तिलाभ कर सकता है। इन दोनों साधनोंके साधन-कालमें क्या अन्तर रहता है, इस बातका विस्तृत वर्णन उक्त लेखमें है ही।

केवल निष्काम कर्ममें लोगोंकी श्रद्धा उत्पन्न करानेके लिये बिना ही हुए मुक्तिका होना सिद्ध करना किसी प्रकार भी हितकर नहीं कहा जा सकता। फिर ऐसे उद्देश्यको सामने रखकर भगवान् या कोई भी सिद्ध पुरुष लोगोंको उल्टे भ्रममें डालनेके लिये इस प्रकारका प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? भगवान्‌के स्पष्ट वाक्योंमें यह भावना करनी कि, लोगोंकी श्रद्धा करानेके लिये कर्मयोगकी अयथार्थ प्रशंसा की गयी है, मेरी समझसे उचित नहीं है।

गीतोक्त सांख्ययोगका स्पष्टीकरण

राजबहादुर राजा श्रीदुर्जनसिंहजीद्वारा लिखित 'गीताका सांख्ययोग' शीर्षक लेख 'कल्याण'में प्रकाशित हुआ था। कामशीके एक सम्माननीय विद्वान्‌की शङ्काके समाधान-स्वरूप मैंने जो भाव प्रकट किये थे, उन्हींका विश्लेषण उपयुक्त लेखमें किया गया है। उस लेखके पढ़नेसे प्रतीत होता है कि मेरे मूल लेखको उन्होंने नहीं देखा, इसीलिये इस विषयको वे भलीभाँति अपने अनुभवमें नहीं ला सके एवं उनके द्वारा मेरे सिद्धान्तका निर्णय भी भिन्न प्रकारसे हो गया है। ऐसी अवस्थामें अपना वक्तव्य स्पष्ट कर देनेके लिये मैं पाठकोंकी सेवामें कुछ निवेदन करना उचित समझता हूँ।

'बिना पूर्ण ज्ञानके मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, इस विषयमें दोनों पक्षोंकी एकता है'—राजासाहबका यह समझना बिल्कुल ठीक है, परन्तु इन दोनों पक्षोंमें प्रधान अन्तर क्या है, इसे अच्छी तरह समझनेकी और भी अधिक आवश्यकता है। मूल लेखमें सांख्ययोगी

और निष्काम कर्मयोगीके भेदोंका विस्तृत विवेचन कर देनेके कारण समाधानवाले लेखमें उसकी पुनरावृत्ति करना आवश्यक नहीं समझा गया था। मूल लेखमें दोनोंके साधनका भेद इस प्रकार दिखाया गया है—

'निष्काम कर्मयोगी साधन-कालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्म-फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वरपरायण हो, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे ही सब कर्म करता है।' (गीता ३ । ३०, ४ । २०, ५ । १०, ९ । २७, २८, १२ । ११, १२, १८ । ५६, ५७)

परन्तु 'सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं—ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है।' (गीता ३ । २८, ५ । ८, ९, १३; ६ । २९, ३१, १३ । २९, ३०, १४ । १९, २०; १८ । १७ तथा ४९ से ५५ तक)

निष्काम कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५ । ११), साख्ययोगी अपनेको कर्ता नहीं मानता (५ । ८-९), निष्काम कर्मयोगी अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंके फलको भगवदर्पण करता है (९ । २७-२८), साख्ययोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८ । १७), निष्काम कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे भिन्न मानता है (१२ । ६-७), साख्ययोगी सदा अभेद मानता है (६ । २९,

२१; ७ । १९; १८ । २०), निष्काम कर्मयोगी प्रकृति प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८ । ९, ११, ५६, ६१), सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा अन्य किसी की सत्ता नहीं मानता (१२ । ३०) और यदि कहीं कुछ मानता है, देखा जाता है तो वह केवल दूसरोंको समझानेके लिये व्यवहारमें यथार्थमें नहीं; क्योंकि वह प्रकृतिको मायामात्र मानता है, वास्तवमें कुछ भी नहीं मानता । निष्काम कर्मयोगी कर्म करता है, पर सांख्ययोगीके अन्तःकरण और शरीरद्वारा स्वभावसे ही कर्म होते हैं—वह करता नहीं (५ । ८, ९, १३, १४ इत्यादि) ।

उपर्युक्त विवेचनको विचारपूर्वक पढ़कर पाठक दोनों प्रकारके साधकोंके साधन-भेदको भलीभाँति समझ सकते हैं । दोनों निष्ठाओंके फलकी एकता बतलानेके कारण प्रचलित वेदान्तकी भाँति मेरे लेखसे राजासाहब जो यह भाव निकालते हैं कि कर्मोंकी आवश्यकता केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही है, सो ठीक नहीं है; क्योंकि गीताके मतानुसार लोकसंग्रहके लिये कर्मोंकी बहुत आवश्यकता यह मैं मानता हूँ । 'ज्ञान प्राप्तिके अनन्तर न तो सांख्ययोग ही और न निष्काम कर्मयोग ही'—इस वाक्यका यह आशय कभी न समझना चाहिये कि पूर्वपक्षी एवं शाङ्करसम्प्रदायके अनुसार मैं ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर कर्मोंका स्वरूपसे त्याग हो जाना सिद्ध करता हूँ; क्योंकि शरीरके रहते हुए कर्मोंका सर्वथा त्याग हो ही नहीं सकता । हाँ, यह बात निर्विवाद है कि ज्ञानीके कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति न रहनेके कारण वे कर्म वास्तवमें अकर्म ही हैं । ऐसी अवस्थामें, वह ज्ञानी यदि गृहस्थ हो तो विस्तृत कर्म करनेवा

भी हो सकता है और यदि सन्यासी हो तो अपने आश्रम-धर्मानुसार शरीर-निर्वाह और उपदेशादिरूप संक्षिप्त कर्म कर सकता है। यह व्यवस्था उसके वर्ण, आश्रम और स्वभावसे सम्बन्ध रखती है, ज्ञानसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

'ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर न सांख्य है और न निष्काम-कर्मयोग है।'—इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानी सिद्धावस्थाको पहुँच चुका है, उसके द्वारा होनेवाले कर्म किसी भी साधन कोटिमे परिगणित नहीं हो सकते। उसका तो प्रत्येक व्यवहार अनिर्वचनीय और अलौकिक है। उसके द्वारा होनेवाले आदर्श कर्मोंसे शिक्षा ग्रहण कर हमें अपने जीवनको पवित्र बनाना चाहिये।

पूर्वपक्षीके साथ प्रधान मतभेद इस विषयमें था कि उनके मतानुसार गीतोक्त निष्काम कर्मयोग सांख्ययोगका साधन है और सांख्ययोग मोक्षका स्वतन्त्र साधन है, परन्तु मेरी समझसे गीताकार अधिकारी भेदसे दोनोंको मोक्षके स्वतन्त्र साधन बतलाते हैं तथा पूर्ण ज्ञानमें और मोक्षमें कोई अन्तर नहीं मानते। निष्काम कर्मयोग और सांख्ययोग इन दोनों ही साधनोंका फल तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति है। बस, इसी भावको स्पष्ट कर देना मेरे उस लेखका उद्देश्य था।

इसके सिवा पाठकोंकी सेवामें यह निवेदन कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि लोकमान्य तिलककी भाँति अथवा श्रीराजासाहबके मतानुसार मुझे ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगका समुच्चय मान्य नहीं है, क्योंकि गीता दोनों साधनोंको स्पष्टरूपसे मोक्षके भिन्न भिन्न स्वतन्त्र साधन बतलाती है—

क्या व्यासजीकी मन कल्पना है और क्या सारे श्लोक उन्हीं रचे हुए हैं ?

उपर्युक्त प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्के नि श्वासरूप वेदका अङ्ग होनेसे उपनिषद् भी भगवान्के ही अनादि और नित्य उपदेश माने गये हैं। उनके आश्रयकी कोई बात नहीं, भगवान्ने संसारमें उनकी विशेष महिमा बढ़ानेके लिये ही उनका प्रयोग किया। इसके सिवा उपनिषद्की भाषा और वर्णनशैली कठिन होनेसे उनको अधिकांश लोग समझनेमें भी असमर्थ हैं, इसलिये लोककल्याणार्थ भगवान्ने उपनिषदोंका सार निकालकर गीतारूपी अमृतका दोहन किया। वास्तवमें उपनिषद् और गीता एक ही वस्तु है।

(२) आजकलके लोगोंके साथ अर्जुनकी तुलना नहीं की जा सकती। अर्जुन तो महान् श्रद्धासम्पन्न, परम विश्वासी प्रिय भक्त थे। भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे स्वीकार किया है—

'भक्तोऽसि मे सखा चेति' (गीता ४ । ३

'इष्टोऽसि मे दृढमिति' („ १८ । ६४

'प्रियोऽसि मे' („ १८ । ६५

'तू मेरा भक्त है, मित्र है, दृढ़ इष्ट है, प्रिय है' आदि। ऐसे अपने प्रिय सखा अर्जुनके प्रेमके कारण ही भगवान् सदा उसके साथ रहे, यहाँतक कि उसके रथके घोड़े स्वयं हाँके। आज भक्तोंके पुकारसे तो भगवान् स्वप्नमें भी नहीं आते, अतएव यह मानना चाहिये कि अर्जुन श्रद्धालु नहीं था। भगवान्ने शब्द-प्रमा

तो वेदोंकी सार्थकता और उनका आदर बढ़ानेके लिये दिया। विश्वरूप-दर्शन करानेमें तो अर्जुनकी श्रद्धा प्रधान है ही। गीताके दशम अध्यायमे अर्जुनने जो कुछ कहा है वही उसकी श्रद्धाका पूरा प्रमाण है। अर्जुन कहता है--

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥१५॥

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं। सनातन दिव्य पुरुष एवं देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं, हे केशव! आप मेरे प्रति जो कुछ भी कहते हैं, उस समस्तको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं। हे भूतोंके उत्पन्न करनेवाले, हे भूतोंके ईश्वर, हे देवोंके देव, हे जगत्‌के स्वामी, हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

इन शब्दोंमें अर्जुनकी श्रद्धा छलकी पड़ती है। इस प्रकार भगवान्‌की महिमाको जानने और बखाननेवाला अर्जुन जब (एकादश अध्यायमें) यह प्रार्थना करता है कि 'नाथ! आप अपनेको जैसा कहते हैं (यानी दशम अध्यायमें जैसा कह आये हैं) ठीक वैसे ही हैं, परन्तु हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल,

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
(१३।२४)

'हे अर्जुन! उस परमपुरुष परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं और दूसरे (कितने ही) निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं।' श्रीभगवान्‌के इन वाक्योंपर ध्यान देनेसे ज्ञान और कर्मके समुच्चयकी कल्पनाके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है। और भी कई स्थानोंपर इन दोनोंका स्वतन्त्र साधनके रूपमें प्रतिपादन किया गया है। गीता३।३,५।५ इत्यादि

श्रीराजासाहबका परिश्रम परम स्तुत्य है। इस प्रकार विवेचन होते रहनेसे अनेक जटिल विषयोंका सरल हो जाना सुगम है।

गीताका उपदेश

एक सज्जनने कुछ प्रश्न किये हैं। प्रश्नोंका सुधारा हुआ स्वरूप यह है—

(१) भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं, उनके लिये 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कहा गया है। ऐसे साक्षात् ज्ञानस्वरूप परमात्माने उपनिषद्‌रूपी गायोंसे तत्त्वरूपी दूध किसलिये दोहन किया? और क्यों उनका आश्रय लिया?

(२) क्या वर्तमान समयके गीता-भक्तोंकी भाँति अर्जुन श्रद्धासम्पन्न नहीं थे? यदि श्रद्धालु थे तो श्रीभगवान्‌को उन्हें

समझानेके लिये शब्द-प्रमाणका क्यों प्रयोग करना पड़ा और अन्तमें क्यों विश्वरूप दिखलानेकी आवश्यकता हुई ?

(३) अर्जुनको 'गीताका ज्ञान हो गया था' फिर आगे चलकर उन्होंने ऐसा क्यों कहा कि 'हे भगवन् ! आपने सख्यभाव-से मुझे जो कुछ कहा था, उसे मैं भूल गया ।' तो क्या अर्जुन प्राप्त-ज्ञानको भूल गये थे ?

(४) भगवान् श्रीकृष्णने इसके उत्तरमें कहा कि 'हे धनञ्जय ! मैंने उस समय योगयुक्त होकर तुमसे वह ज्ञान कहा था, अब पुनः मैं उसे कहनेमें असमर्थ हूँ ।' तो क्या सर्वज्ञ भगवान् भी आत्मविस्मृत हो गये थे जिससे उन्होंने पुन. वह ज्ञान कहनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की और योगयुक्त होनेका क्या अर्थ है ?

(५) यदि यह मान लिया जाय कि भगवान् गीताज्ञान अर्जुनको फिरसे नहीं सुना सके, तब फिर व्यासजीने अनेक दिनों बाद उसे कैसे दुहरा दिया ?

(६) अगर गीता भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखकी वाणी है तो भगवान् व्यासके इन शब्दोंका क्या अर्थ है जो उन्होंने श्रीगणेशजीके प्रति कहे हैं--

लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक ।
मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च ॥

(महा० आदि० १ । ७७)

'हे गणनायक ! तुम मेरे मनःकल्पित और वक्तव्यरूप इस भारतके लेखक बनो ।' गीता महाभारतके अन्तर्गत है, इसने यह भी

क्या व्यासजीकी मन कल्पना है और क्या सारे श्लोक उन्हींके रचे हुए हैं ?

उपर्युक्त प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌के निःश्वासरूप वेदका अङ्ग होनेसे उपनिषद् भी भगवान्‌के ही अनादि और नित्य उपदेश माने गये हैं। उनके आश्चर्यकी कोई बात नहीं, भगवान्‌ने संसारमें उनकी विशेष महिमा बढ़ानेके लिये ही उनका प्रयोग किया। इसके सिवा उपनिषदोंकी भाषा और वर्णनशैली जटिल होनेसे उनको अधिकांश लोग समझनेमें भी असमर्थ हैं, इसलिये लोककल्याणार्थ भगवान्‌ने उपनिषदोंका सार निकालकर गीतारूपी अमृतका दोहन किया। वास्तवमें उपनिषद् और गीता एक ही वस्तु है।

(२) आजकलके लोगोंके साथ अर्जुनकी तुलना नहीं की जा सकती। अर्जुन तो महान् श्रद्धासम्पन्न, परम विश्वासी प्रिय भक्त थे। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे स्वीकार किया है—

'भक्तोऽसि मे सखा चेति' (गीता ४ । ३)
'इष्टोऽसि मे दृढमिति' (" १८ । ६४)
'प्रियोऽसि मे' (" १८ । ६५)

'तू मेरा भक्त है, मित्र है, दृढ़ इष्ट है, प्रिय है' आदि। ऐसे अपने प्रिय सखा अर्जुनके प्रेमके कारण ही भगवान् सदा उसके साथ रहे, यहाँतक कि उसके रथके घोड़े स्वयं हाँके। आजके भक्तोंके पुकारसे तो भगवान् पूजामें भी नहीं आते, अतएव यह नहीं मानना चाहिये कि अर्जुन श्रद्धालु नहीं था। भगवान्‌ने शब्द-प्रमाण

तो वेदोंकी सार्थकता और उनका आदर बढ़ानेके लिये दिया। विश्वरूप-दर्शन करानेमें तो अर्जुनकी श्रद्धा प्रधान है ही। गीताके दशम अध्यायमें अर्जुनने जो कुछ कहा है वही उसकी श्रद्धाका पूरा प्रमाण है। अर्जुन कहता है--

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥१५॥

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं। सनातन दिव्य पुरुष एवं देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं, हे केशव! आप मेरे प्रति जो कुछ भी कहते हैं, उस समस्तको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं। हे भूतोंके उत्पन्न करनेवाले, हे भूतोंके ईश्वर, हे देवोंके देव, हे जगत्के स्वामी, हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

इन शब्दोंमें अर्जुनकी श्रद्धा छलकी पड़ती है। इस प्रकार भगवान्की महिमाको जानने और बखाननेवाला अर्जुन जब (एकादश अध्यायमें) यह प्रार्थना करता है कि 'नाथ! आप अपनेको जैसा कहते हैं (यानी दशम अध्यायमें जैसा कह आये हैं) ठीक वैसे ही हैं, परन्तु हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल,

वीर्य और तेजयुक्त रूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ—'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्' (गीता ११ । ३) अर्जुन परम विश्वासी था । भगवान्‌के प्रभावको जानता और मानता था । इसीलिये भगवान्‌की परम दयासे उसके दिव्य, विराट्‌रूपके दर्शन करना चाहता है, भक्तकी इच्छा पूर्ण करना भगवान्‌का काम है इसीलिये भगवान्‌ने कृपा करके उसे विश्वरूप दिखलाया । यह विश्वरूप श्रद्धासे ही दिखाया गया, श्रद्धा या विश्वास करवानेके हेतुसे नहीं । भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है कि 'अनन्यभक्तके सिवा किसी दूसरेको यह रूप मैं नहीं दिखा सकता । मेरा यह स्वरूप वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपोंसे नहीं दीख सकता ।' इससे यह सिद्ध है कि अर्जुन परम श्रद्धालु, भगवत्परायण और महान् भक्त था । भगवान्‌ने अनन्य भक्तिका स्वरूप और फल यह बतलाया है—

> मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
> निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
>
> (गीता ११ । ५५)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सब कुछ मेरा समझता हुआ—यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मुझको परम आश्रय और परम गति मानकर मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित निष्काम भावसे निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री पुत्र और धनादि

सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।'

(३) अर्जुनने 'निष्काम कर्मयोगसहित शरणागतिरूप भक्ति' को ही अपने लिये प्रधान उपदेश समझकर उसीको विशेष स्मरण रक्खा था । भगवान्‌के कथनानुसार इसीको 'सर्वगुह्यतम' माना था । ज्ञानके उपदेशको शरणागतिकी अपेक्षा गौण समझकर उसकी इतनी परवा नहीं की थी । इस प्रसङ्गमें भी अर्जुन उस 'सर्वगुह्यतम' शरणागतिके लिये कुछ नहीं पूछता । यह भक्तिसहित तत्त्वज्ञान तो उसे स्मरण ही है । इसीलिये भगवान्‌ने भी उससे कहा कि मैंने उस समय तुम्हें 'गुह्य' सनातन ज्ञान सुनाया था—

श्रावितस्त्वं मया 'गुह्यं' ज्ञापितश्च सनातनम् ।

(महा० अश्व० १६ । ९)

इस 'गुह्य' शब्दसे भी यही सिद्ध होता है । उलाहना देनेके बाद भगवान्‌ने अर्जुनको जो कुछ सुनाया, उसमें भी गीताकी भाँति निष्काम कर्मयोग और शरणागतिके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा । केवल वही ज्ञानभाग सुनाया, जिसको कि अर्जुन भूल गया था ।

(४) भगवान्‌के अपनेको असमर्थ बतलानेका यह अर्थ नहीं कि आप उस ज्ञानको पुनः सुना नहीं सकते थे या वे उसको भूल गये थे । सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के लिये ऐसी कल्पना करना सर्वथा अनुचित है । भगवान्‌के कहनेका अभिप्राय ज्ञानयोगका सम्मान बढ़ाना है । गुरु अपने शिष्यसे कहता है कि 'तुझको मैंने बड़ा

ऊँचा उपदेश दिया था, उसे तूने याद नहीं रक्खा । आत्मज्ञानका उपदेश कोई बाजारू बात नहीं है जो जब चाहे तभी कह दी जाय' इस प्रकार यहाँ 'असमर्थता' का अर्थ यही है, मैं इतनी ऊँची बात इस तरह लापरवाही रखनेवालेको नहीं कह सकता । उदाहरण, दधीचि, सत्यकाम आदि ऋषियोंका ब्रह्मविद्याके सम्बन्धमें एक ही बार कहना माना जाता है । ब्रह्मविद्या एक ऐसी वस्तु है जो एक ही बार पात्रके प्रति कहनी पड़ती है, दुबारा नहीं । इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'ब्रह्मविद्याका उपदेश तुमने भुला दिया, यह बड़ी भूल की ।' इसके बाद अर्जुनकी तीव्र इच्छा देखकर भगवान्ने पुनः ब्रह्मविद्याका उपदेश किया । भगवान् न जानते तो उपदेश कैसे करते ? 'योगयुक्त' का अर्थ यही है कि 'उस समय मैंने बहुत मन लगाकर तुमको यह ज्ञान सुनाया था । इससे अर्जुनको एक तरहकी धमकी भी दी गयी कि मैं बार-बार वैसे मन लगाकर तुमसे नहीं कह सकता, इतना निकम्मा नहीं बैठा हूँ जो बार-बार तुमसे कहूँ और तुम उसे फिर भुला दो । तुम-सरीखे पुरुषके लिये ऐसा उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करना पवित्र ब्रह्मविद्याका तिरस्कार करना है । यहाँ भगवान्ने अर्जुनके बहाने सबको शिक्षा दी है कि ब्रह्मविद्याको बड़े ध्यानसे सुनना चाहिये और वक्ताको भी उसका ऐसे अधिकारी पुरुषके प्रति कथन करना चाहिये जो सुननेके साथ ही उसे धारण कर ले ।

यद्यपि अर्जुन ब्रह्मविद्याका अधिकारी नहीं था, निष्काम कर्मयोगयुक्त शरणागतिका अधिकारी था, इसीसे उसे 'सर्वगुह्यतम'

शरणागतिका ही अन्तिम उपदेश दिया गया था तथापि भगवान्‌का यह उलहना देना तो सार्थक ही था कि तुम मेरी कही हुई बातोंको क्यों भूल गये। शरणागतको अपने इष्टकी बात कभी नहीं भूलनी चाहिये। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानका अधिकार ऊँची श्रेणीका है और निष्काम कर्मयोगयुक्त शरणागति भक्तिका नीची श्रेणीका। जब दोनोंका फल एक है तब इनमें कोई भी छोटा-बड़ा नहीं है। अर्जुन कर्मी और भक्त था, अत. उसके लिये वही मार्ग उपयुक्त था।

(५) भगवान् सब सुना सकते थे, यह बात तो ऊपरके विवेचनसे सिद्ध है। भगवान् व्यास महान् योगी थे, उन्होंने योगबल-से सारी बातें जानकर सुना दीं। जिनकी योगशक्तिसे सजय दिव्य दृष्टि प्राप्त करनेमें समर्थ हो गया, उनके लिये यह कौन बड़ी बात थी?

(६) व्यासजीके कहनेका मतलब यह है कि उन्होंने कुछ तो संवाद ज्यों-के-त्यों रख दिये, कुछ संवादोंको संग्रह करके उन्हें सजा दिया। भगवान्‌ने अर्जुनको जो उपदेश दिया था उसमेंसे बहुत-से श्लोक तो ज्यों-के-त्यों रख दिये गये, कुछ गद्य भागके पद्य बना दिये और कुछ इतिहास कहा। दुर्योधन, संजय, अर्जुन और धृतराष्ट्र आदिकी दशाका वर्णन व्यासजीकी रचना है। इससे यह नहीं मानना चाहिये कि यह मन कल्पित उपन्यासमात्र है। वास्तवमें व्यासजीने अपने योगबलसे सारी बातें जानकर ही सच्चा इतिहास लिखा है।

गीता और योगदर्शन

योगदर्शन बड़े ही महत्त्वका शास्त्र है। इसके प्रणेता महर्षि श्रीपतञ्जलि महाराज हैं। योगदर्शनके सूत्रोंका भाव बहुत ही गम्भीर, उपादेय, सरस और चमत्कारी है। कल्याणकामियोंको योगदर्शनका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। पता नहीं योगदर्शनकी रचना श्रीमद्भगवद्गीताके बाद हुई है या पहले। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनोंके कई स्थलोंमें समानता है। कहीं शब्दोंमें समानता है तो कहीं भाव या अर्थोंका सादृश्य है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ दिखलाये जाते हैं—

पातञ्जलयोगदर्शन

(१) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (१ । १२)

(२) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। (१ । १५)

(३) तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१ । २७-२८)

(४) परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२ । १४)

श्रीमद्भगवद्गीता

(१) अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (६ । ३५)

(२) अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। (८ । १४)

(३) ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। (८ । १३)

(४) ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(५ । २२)

इनके अतिरिक्त केवल भावमें सदृशतावाले स्थल भी हैं, जैसे योगदर्शन (२ । १९) का सूत्र है—'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि' अर्थात् पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन—इन सोलह विकारोंका समुदायरूप विशेष, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा—इन छ:का समुदायरूप अविशेष, समष्टि-बुद्धिरूपी लिङ्ग और अव्याकृत प्रकृतिरूप अलिङ्ग—ये चौबीस तत्त्व प्रकृतिकी अवस्थाविशेष हैं। इसी बातको बतलानेवाला गीताका तेरहवें अध्यायका ५ वाँ श्लोक है—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दस इन्द्रियाँ, मन और पञ्चतन्मात्रा ।

उपर्युक्त अवतरणोंके अनुसार दोनोंके कई स्थल मिलते-जुलते होनेके कारण कुछ लोगोंका मत है कि श्रीमद्भगवद्गीता पातञ्जलयोगदर्शनके बाद बनी है और इसमें यह सब भाव उसीसे लिये गये हैं। कुछ लोग तो गीताको योगदर्शनका रूपान्तर या उसीका प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। मेरी समझसे यह मत ठीक नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना योगदर्शनके बाद हुई हो या पहले, इस विषयमें तो मैं कुछ भी नहीं कह सकता। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि

भगवद्गीताका सिद्धान्त योगदर्शनकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और सर्वदेशीय है।

योगदर्शनका योग केवल एक ही अर्थमें प्रयुक्त है, परन्तु गीताका योग शब्द अनन्त समुद्रकी भाँति विशाल है, उसमें सबका समावेश है। परमात्माकी प्राप्तिरूपको गीतामें योग कहा गया है। इसके सिवा निष्काम कर्म, भक्ति, ध्यान, ज्ञान आदिको भी योगके नामसे कहा गया है। योग शब्द किस-किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यह इसी पुस्तकमें अन्यत्र दिखाया गया है। योगदर्शनमें ईश्वरका स्वरूप है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (१।२४)
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (१।२५)
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (१।२६)

जो अविद्या, अहंता, राग, द्वेष, भय शुभाशुभ कर्म, कर्मोंके फलरूप सुख-दुःख और वासनासे सर्वथा रहित है, पुरुषोंमें उत्तम है, जिसकी सर्वज्ञता निरतिशय है एवं जो कालकी अवधिसे रहित होनेके कारण पूर्वमें होनेवाले समस्त सृष्टिरचयिता ब्रह्मा आदिका स्वामी है वह ईश्वर है।

अब गीताके ईश्वरका निरूपण संक्षेपसे कुछ श्लोकोंमें पढ़कर दोनोंकी तुलना कीजिये—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
(८।९)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
(१३।१४)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(१४।२७)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(१५।१८)

इन श्लोकोंके अनुसार जो सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियन्ता, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करनेवाला, अचिन्त्यस्वरूप, नित्य चेतन, प्रकाशस्वरूप, अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्द-घन, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला होनेपर भी सब इन्द्रियों-से रहित, आसक्तिहीन, गुणातीत होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और गुणोंका भोक्ता, अविनाशी परब्रह्म, अमृत, नित्यधर्म और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय, नाशवान् जडवर्ग क्षेत्रसे सर्वथा अतीत और मायास्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम पुरुषोत्तम है वह ईश्वर है ।*

---

* परमात्माका स्वरूप जाननेके लिये प्रथम भागमें प्रकाशित 'भगवान् क्या हैं ?' शीर्षक लेख पढना चाहिये ।

पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार ईश्वर त्रिगुणोंके विकारसे रहित है, परन्तु गीताके अनुसार वह गुणोंसे अतीत ही है। योगदर्शनका ईश्वर क्लेश, शुभाशुभ कर्म, सुख-दुःख और वासनारहित एवं पुरुषविशेष होनेसे पुरुषोत्तम है, पर गीताका ईश्वर जड जगत्से सर्वथा अतीत, सर्वव्यापी और मायास्थित जीवसे भी उत्तम होनेके कारण पुरुषोत्तम है। योगदर्शनका ईश्वर कालके अवच्छेदसे रहित होनेके कारण पूर्व-पूर्व सर्गमें होनेवाले सृष्टिरचयिताओंका गुरु है, परन्तु गीताका ईश्वर अव्यय, परब्रह्म, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक आनन्दका भी परम आश्रय है। गुणातीत होकर भी अपनी अचिन्त्य शक्तिसे गुणोंका भोक्ता और सबका भरण-पोषण करनेवाला है।

इसी प्रकार 'ईश्वर-शरणागति' के सिद्धान्तमें भी गीताका अभिप्राय बहुत ऊँचा है। योगदर्शनका 'ईश्वर-प्रणिधान' चित्तवृत्ति-निरोधके लिये किये जानेवाले अभ्यास और वैराग्य आदि अन्य साधनोंके समान एक साधन है, इसीसे 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१।२३) सूत्रमें 'वा' लगाया गया है। परन्तु गीतामें ईश्वर-शरणागतिका साधन समस्त साधनोंका सम्राट् है (गीता ९।३२, १८।६२, ६६ देखना चाहिये)।

गीताके ध्यानयोगका फल भी योगदर्शनसे महत्त्वका है। योगदर्शन कहता है—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। (२।११)

अर्थात् 'ध्यानसे क्लेशोंकी वृत्तियोंका नाश होता है।' परन्तु गीता कहती है—

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।'
(गीता १३ । २४)

'कितने ही मनुष्य शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखते हैं ।' वहाँ केवल क्लेशोंकी वृत्तियोंका ही नाश है, पर यहाँ ध्यानसे परमात्मसाक्षात्कारतक होनेकी बात है ।

इसी तरहसे अन्य कई स्थल हैं । इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्माके श्रीमुखकी दिव्य वाणी है और योगदर्शन एक ज्ञानी महात्मा महर्षिके विचार हैं । भगवान्के साथ ज्ञानीकी अभिन्नता रहनेपर भी भगवान् भगवान् ही हैं ।

इस विवेचनसे यह प्रतीत होता है कि गीताका महत्त्व सभी तरह ऊँचा है तथा गीताके प्रतिपाद्य विषय भी विशेष महत्त्वपूर्ण, भावमय, सर्वदेशीय, सुगम और परम आदर्श हैं ।

इससे कोई यह न समझे कि मैं योगदर्शनको किसी तरहसे भी मामूली वस्तु समझता हूँ या उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि मानता हूँ । योगदर्शन परम उपादेय और आदरणीय शास्त्र है । केवल गीताके साथ तारतम्यताकी दृष्टिसे ऐसा लिखा गया है ।

गीताके अनुसार जीवन्मुक्तका लक्षण

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(गीता ६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी (जीवन्मुक्त) अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

गीताके अनुसार जीवन्मुक्त वही है, जिसका सर्वत्र-सर्वथा सर्वत्र समभाव है । जहाँ-जहाँपर मुक्त पुरुषका गीतामें वर्णन है, वहाँ-वहाँ समताका ही उल्लेख पाया जाता है । गीताके अनुसार जिसमें समता है वही स्थितप्रज्ञ, ज्ञानी, गुणातीत, भक्त और जीवन्मुक्त है । ऐसे जीवन्मुक्तमें राग-द्वेषरूपी विकारोंका अत्यन्त अभाव होता है, मान-अपमान, हानि-लाभ, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति आदि समस्त द्वन्द्वोंमें वह समतायुक्त रहता है । अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति उसके हृदयमें किसी प्रकारका भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकती । किसी भी कालमें किसीके साथ किसी प्रकारसे भी उसकी साम्य-स्थितिमें परिवर्तन नहीं होता । निन्दा करनेवालेके प्रति उसकी द्वेष या वैर-बुद्धि और स्तुति करनेवालेके प्रति राग या प्रेम-बुद्धि नहीं होती । दोनोंमें समान वृत्ति रहती है । मूढ़ अज्ञानी मनुष्य ही निन्दा सुनकर दुःखी और स्तुति सुनकर सुखी हुआ करते हैं । सात्त्विक पुरुष निन्दा सुनकर सावधान और स्तुति सुनकर लज्जित होते हैं । पर जीवन्मुक्तका अन्तःकरण इन दोनों भावोंसे शून्य रहता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अपनी भी भिन्न सत्ता नहीं रहती, तब निन्दा-स्तुतिमें उसकी भेदबुद्धि कैसे हो सकती है ? वह तो सबको एक परमात्मा-का ही स्वरूप समझता है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

(गीता १३ । ३०)

'जिस समय यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावोंको एक परमात्माके सङ्कल्पके आधारपर स्थित देखता है तथा उस परमात्माके सङ्कल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको ही प्राप्त होता है ।' इसलिये उसकी बुद्धिमें एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ रह ही नहीं जाता । लोकसंग्रह और शास्त्रमर्यादाके लिये सबके साथ यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी, व्यवहारमें बड़ी विषमता प्रतीत होनेपर भी उसकी समबुद्धिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

(गीता ५ । १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले ही होते हैं ।' इस श्लोकसे व्यवहारका भेद स्पष्ट है । यदि केवल मनुष्योंकी ही बात होती तो व्यवहार-भेदका खण्डन भी किसी तरह खींचतानकर किया जा सकता, परन्तु इसमें तो ब्राह्मणादिके साथ कुत्ते आदि पशुओंका भी समावेश है । कोई भी विवेकसम्पन्न पुरुष इस श्लोकमें कथित पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें समताका प्रतिपादन नहीं कर सकता । मनुष्य और पशुकी बात तो अलग रही, इन तीनों पशुओं-

में भी व्यवहारकी बड़ी भारी भिन्नता है। हाथीका काम कुत्तेसे नहीं निकलता, गौकी जगह कुतिया नहीं रक्खी जाती। जो लोग इस श्लोकसे व्यवहारमें अभेद सिद्ध करना चाहते हैं, वे वस्तुत इसका मर्म नहीं समझते। इस श्लोकमें तो समदर्शी जीवन्मुक्तकी आध्यात्मिक स्थिति बतलानेके लिये ऐसे पाँच जीवोंका उल्लेख किया गया है, जिनके व्यवहारमें बड़ा भारी भेद है और इस भेदके रहते भी ज्ञानी सबमें उपाधियोंके दोषसे रहित ब्रह्मको सम देखता है। यद्यपि उसकी दृष्टिमें किसी देश, काल, पात्र या पदार्थमें कोई भेद बुद्धि नहीं होती, तथापि वह व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार भेद-बुद्धिवालोंको विपरीत मार्गसे बचानेके लिये आसक्तिरहित होकर उन्हींकी भाँति न्याययुक्त व्यवहार करता है (गीता ३ । २५-२६), क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंके आदर्शको सामने रखकर ही अन्य लोग व्यवहार किया करते हैं—

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
> (गीता ३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है अन्य लोग भी उसीके अनुसार बर्तते हैं।'

वास्तवमें जीवन्मुक्त पुरुषके लिये कोई कर्तव्याकर्तव्य या विधि निषेध नहीं है, तथापि लोकसंग्रहार्थ, मुक्तिकामी पुरुषोंको असत् मार्गसे बचानेके लिये जीवन्मुक्तके अन्तःकरणद्वारा कर्मोंकी स्वाभाविक

चेष्टा हुआ करती है। उसका सबके प्रति समान सहज प्रेम रहता है। सबमें समान आत्मबुद्धि रहती है। इस प्रकारके समतामें स्थित हुए पुरुष जीते हुए ही मुक्त हैं। उनकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥

(गीता ५। २०)

'जो पुरुष प्रियको अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको अर्थात् जिसको लोग अप्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर उद्वेगवान् न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।' सुख दुःख, अहंता, ममता आदिके नातेसे भी वह सबमें समबुद्धि रहता है। अज्ञानीका जैसे व्यष्टिशरीरमें आत्मभाव है, वैसे ही ज्ञानीका समष्टिरूप समस्त संसारमें है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे दूसरेके दर्दका दर्दके रूपमें ही अनुभव होता है। एक अँगुलीके कटनेका अनुभव दूसरी अँगुलीको नहीं हो सकता, परन्तु जैसे दोनोंका ही अनुभव आत्माको होता है, इसी प्रकार ज्ञानीका आत्मरूपसे सबमें समभाव है। यदि ब्राह्मण, चाण्डाल और गौ, हाथी आदिके बाह्य शारीरिक खान-पान आदिमें समान व्यवहार करनेको ही समताका आदर्श समझा जाय तो यह आदर्श तो बहुत सहजमें ही हो सकता है, फिर भेदाभेदरहित आचरण करनेवाले पशुमात्रको ही जीवन्मुक्त समझना चाहिये। आचाररहित

मनुष्य और पशु तो सबके साथ सामाजिक ही ऐसा व्यवहार करते हैं और करना चाहते हैं, कहीं रुकते हैं तो भयसे रुकते हैं। पर इस समवर्तनका नाम ज्ञान नहीं है। आजकल कुछ लोग सिद्धान्त-की दृष्टिसे भी समवर्तनके व्यवहारकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं, परन्तु उनमें जीवन्मुक्तिके कोई लक्षण नहीं देखे जाते। अतएव गीताके समदर्शनको सबके साथ समवर्तन करनेका अभिप्राय समझना अर्थ का अनर्थ करना है। ऐसी जीवन्मुक्ति तो प्रत्येक मनुष्य सहजमें ही प्राप्त कर सकता है। जिस जीवन्मुक्तिकी शास्त्रोंमें इतनी महिमा गायी गयी है और जिस स्थितिको प्राप्त करना महान् कठिन माना जाता है, वह क्या इतने-से उच्छृङ्खल समवर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है? वास्तवमें समदर्शन ही यथार्थ ज्ञान है। समवर्तनका कोई महत्त्व नहीं है। यह तो मामूली क्रियासाध्य बात है, जो जंगली मनुष्यों तथा पशुओंमें प्रायः पायी जाती है।

गीताके समदर्शनका यह अभिप्राय कदापि नहीं है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति आदिमें समदर्शन करना ही यथार्थ समता है।

यह समता ही एकता है। यही परमेश्वरका स्वरूप है। इसमें स्थित हो जानेका नाम ही ब्राह्मी स्थिति है। जिसकी इसमें यथार्थ स्थिति होती है उसके हृदयमें सात्त्विकी, राजसी, तामसी किसी भी कार्यके आने-जानेपर किसी भी कालमें कभी हर्ष-शोक और राग-द्वेषका विकार नहीं होता। इस समबुद्धिके कारण वह अपनी स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता, इसीसे उस धीर पुरुषको स्थितप्रज्ञ कहते

हैं। किसी भी गुणके कार्यसे वह विकारको प्राप्त नहीं होता, इसीसे वह गुणातीत है। एक ज्ञानस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित है, इसीसे वह ज्ञानी है। परमात्मा वासुदेवके सिवा कहीं कुछ भी नहीं देखता, इसीसे वह भक्त है। उसे कोई कर्म कभी बाँध नहीं सकता, इसीसे वह जीवन्मुक्त है। इच्छा, भय और क्रोधका उसमें अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह मुक्त पुरुष लोकदृष्टिमें सब प्रकार योग्य आचरण करता हुआ प्रतीत होनेपर भी, तथा उसके कार्योंमें अज्ञानी मनुष्योंको भेदकी प्रतीति होनेपर भी, वह विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तद्रूप हुआ उसीमें एकीभावसे सदा-सर्वदा स्थिर रहता है। उसका वह आनन्द नित्य शुद्ध और बोधस्वरूप है, सबसे विलक्षण है! लौकिक बुद्धिसे उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

गीताके अनुसार जीव, ईश्वर और ब्रह्मका विवेचन

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(गीता १३। २२)

'वास्तवमें यह पुरुष देहमें स्थित हुआ भी पर (त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत) ही है। केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मादिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा है, ऐसा कहा गया है।'

पण्डितजन भी कहते हैं कि गीताके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म, ईश्वर और जीवमें कोई भेद नहीं है। उपर्युक्त श्लोकसे यह स्पष्ट है कि यह परपुरुष परमात्मा ही भोगनेके समय जीव, सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारके समय ईश्वर और निर्विकार-अवस्थामें ब्रह्म कहा जाता है। इस श्लोकमें भोक्ता शब्द जीवका, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता और महेश्वर शब्द ईश्वरके एवं परमात्मा शुद्ध ब्रह्मका वाचक है। परम पुरुषके विशेषण होनेसे सब उसीके रूप हैं। इन्हीं तीनों रूपोंका वर्णन आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके सात प्रश्नोंमेंसे तीन प्रश्नोंके उत्तरमें आया है। अर्जुनका प्रश्न था कि 'किं तद्ब्रह्म' 'वह ब्रह्म क्या है?' इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा, 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' 'परम अविनाशी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म है।' 'किम् अध्यात्मम्' 'अध्यात्म क्या है?' के उत्तरमें 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' 'अपना भाव यानी जीवात्मा' और 'क अधियज्ञः' 'अधियज्ञ कौन है?' के उत्तरमें 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' 'मैं ईश्वर इस शरीरमें अधियज्ञ हूँ।' ऐसा कहा है। इसी बातको अवतारका कारण बतलानेके पूर्व श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

> अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
> प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
>
> (गीता ४। ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' आगे चलकर भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि मैं जो

श्रीकृष्णके रूपमें साधारण मनुष्य-सा दीखता हूँ सो मैं ऐसा नहीं, पर असाधारण ईश्वर हूँ। सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं यानी अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं (९। ११)। भगवान् श्रीकृष्णने ईश्वर और ब्रह्मका अभेद गीतामें कई जगह बतलाया है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४। २७)

'हे अर्जुन! अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धर्मका एवं अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ। अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत-धर्म तथा ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये मैं इनका परम आश्रय हूँ।' गीताके कुछ श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरसे भिन्न नहीं है। जैसे—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(१०। २०)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
(१३। २)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ, तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। सब (शरीररूप) क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान।' इत्यादि।

पण्डितजन भी कहते हैं कि गीताके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म, ईश्वर और जीवमें कोई भेद नहीं है। उपर्युक्त श्लोकसे यह स्पष्ट है कि यह परपुरुष परमात्मा ही भोगनेके समय जीव, सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारके समय ईश्वर और निर्विकार-अवस्थामें ब्रह्म कहा जाता है। इस श्लोकमें भोक्ता शब्द जीवका, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता और महेश्वर शब्द ईश्वरके एवं परमात्मा शुद्ध ब्रह्मका वाचक है। परम पुरुषके विशेषण होनेसे सब उसीके रूप हैं। इन्हीं तीनों रूपोंका वर्णन आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके सात प्रश्नोंमेंसे तीन प्रश्नोंके उत्तरमें आया है। अर्जुनका प्रश्न था कि 'किं तद्ब्रह्म' 'वह ब्रह्म क्या है?' इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा, 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' 'परम अविनाशी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म है।' 'किम् अध्यात्मम्' 'अध्यात्म क्या है?' के उत्तरमें 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' 'अपना भाव यानी जीवात्मा' और 'कः अधियज्ञः' 'अधियज्ञ कौन है?' के उत्तरमें 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' 'मैं ईश्वर इस शरीरमें अधियज्ञ हूँ।' ऐसा कहा है। इसी बातको अवतारका कारण बतलानेके पूर्व के श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

(गीता ४।६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियों- [illegible] होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे [illegible] हूँ।' आगे चलकर भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि मैं जो

श्रीकृष्णके रूपमे साधारण मनुष्य-सा दीखता हूँ सो मैं ऐसा नहीं, पर असाधारण ईश्वर हूँ। सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं यानी अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं (९। ११)। भगवान् श्रीकृष्णने ईश्वर और ब्रह्मका अभेद गीतामें कई जगह बतलाया है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४। २७)

'हे अर्जुन! अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धर्मका एवं अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ। अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत-धर्म तथा ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये मैं इनका परम आश्रय हूँ।' गीताके कुछ श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरसे भिन्न नहीं है। जैसे—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(१०। २०)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
(१३। २)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ, तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। सब (शरीररूप) क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान।' इत्यादि।

इसके अतिरिक्त यह बतलानेवाले भी शब्द हैं कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं है। जैसे—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७।७)

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥
(९।१९)

वासुदेवः सर्वमिति ।
(७।१९)

'हे धनंजय! मुझसे अतिरिक्त किञ्चिमात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है। मैं ही सूर्यरूप हुआ तपता हूँ, मैं ही वर्षाको आकर्षण करता और बरसाता हूँ, हे अर्जुन! अमृत और मृत्यु एवं सत् तथा असत् भी सब कुछ मैं ही हूँ। यह सब कुछ वासुदेव ही है।' इस प्रकार गीतासे जीव, ईश्वर और ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है।

इस अभेदका स्वरूप बतलाते हुए पण्डितगण जीवात्माको घटाकाश, ईश्वरको मेघाकाश और ब्रह्मको महाकाशके दृष्टान्तसे समझाया करते हैं। जैसे एक ही आकाश उपाधिभेदसे त्रिविध प्रतीत होता है इसी प्रकार एक ब्रह्ममें ही त्रिविध कल्पना है। यह व्याख्या आंशिकरूपसे मान्य और लाभदायक भी है, परन्तु वास्तवमें ब्रह्ममें ऐसा विभाग नहीं समझ लेना चाहिये। आकाश विकारी है, उसमें विकारसे भेद सम्भव है परन्तु ब्रह्म निर्विकार शुद्ध बोधस्वरूप अटल

है, अतएव उसमें आकाशकी भाँति विकार सम्भव नहीं। वास्तवमें यह बड़ा ही गहन विषय है। भगवान्‌ने भी समझानेके लिये कहा है, 'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५। ७) जीवात्मा मेरा ही अंश है, परन्तु वह किस प्रकारका अंश है यह समझना कठिन है। कुछ विद्वान् इसके लिये स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं। जैसे स्वप्नकालमें पुरुष अपने ही अंदर नाना प्रकारके पदार्थों और व्यक्तियोंको देखता तथा उनसे व्यवहार करता है, परन्तु जागनेके बाद अपने सिवा स्वप्नदृष्ट समस्त पदार्थोंका अत्यन्त अभाव समझता है, स्वप्नमें दीखनेवाले समस्त पदार्थ उसके कल्पित अंश थे, इसी प्रकार ये समस्त जीव परमात्माके अंश हैं। यद्यपि यह दृष्टान्त बहुत उपादेय और आदर्श है तथापि इससे यथार्थ वस्तुस्थितिकी सम्यक् उपलब्धि नहीं हो सकती। क्योंकि नित्य चेतन, निर्भ्रान्त ज्ञानघन परमात्मामें निद्रा, भ्रान्ति और मोहका आरोप किसी भी कालमें नहीं किया जा सकता। अतएव उदाहरण-युक्तियोंके बलपर इस रहस्यको समझना-समझाना असम्भव-सा ही है। गीतोक्त साधनोंद्वारा परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे ही इसका तत्त्व जाना जा सकता है। इसीसे यमराजने नचिकेतासे कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(कठ० १। ३। १४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो।' भगवान्‌ने भी कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'इसलिये तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

परन्तु इससे यही न मान लेना चाहिये कि गीतामें भेदके प्रतिपादक शब्द ही नहीं हैं। ऐसे बहुत-से स्थल हैं जहाँ भेदमूलक शब्द भी पाये जाते हैं। भिन्न-भिन्न लक्षणोंसे तीनोंका भिन्न-भिन्न वर्णन है। शुद्ध ब्रह्मको मायासे अतीत, गुणोंसे अतीत, अनादि, शुद्ध, बोध-ज्ञान-आनन्दस्वरूप अविनाशी आदि बतलाया है। जैसे—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
(गीता १३। १२)

'जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर (मनुष्य) परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको मैं अच्छी प्रकारसे कहूँगा, वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है, वह दोनोंसे अतीत है।' 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' 'अचिन्त्यम्, सर्वत्रगम्, अनिर्देश्यम्, कूटस्थम्, ध्रुवम्, अचलम्, अव्यक्तम्, अक्षरम्' आदि नामोंसे वर्णन किया गया है, श्रुतियाँ भी 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २। १) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ० ३। ३) आदि कहती हैं।

ईश्वरका वर्णन सृष्टिके उत्पत्ति-पालन-संहारकर्ता और शासन कर्ता आदिके रूपमें किया गया है। यथा—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥
(गीता ९ । १०)

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥
(१० । ६)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
(१८ । ६१)

'हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है । इस हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है । सातों महर्षि और उनसे भी पूर्वमें होनेवाले चारों सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु मेरेमें भाववाले मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है । हे अर्जुन ! शरीररूपी यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित है ।' इसी तरह अध्याय ४ । १३ में 'चातुर्वर्ण्यके कर्ता', अध्याय ५ । २९ में 'सर्वलोकमहेश्वर', अध्याय ७ । ६ में 'सम्पूर्ण जगत्के उत्पत्ति-प्रलयरूप', अध्याय ११ । ३२ में 'लोक-संहारमें प्रवृत्त महाकाल' इत्यादि रूपोंसे वर्णन है ।

जीवात्माका भोक्ता, कर्ता, ज्ञाता, अंश, अविनाशी, नित्य आदि लक्षणोंसे निरूपण किया गया है । जैसे अध्याय २ । १८ में 'नित्य

अविनाशी अप्रमेय, अध्याय १३ । २१ में 'प्रकृतिमें स्थित गुणोंके भोक्ता और गुणोंके सङ्गसे अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेवाला'; अध्याय १५ । ७ में 'सनातन अंश', अध्याय १५ । १६ में 'अक्षर कूटस्थ' आदि लक्षणोंसे वर्णन है ।

इस प्रकार गीतामें अभेद-भेद दोनों प्रकारके वर्णन पाये जाते हैं । एक ओर जहाँ अभेदकी बड़ी प्रशंसा है, वहाँ दूसरी ओर (अध्याय १२ । २ में) सगुणोपासककी प्रशंसा कर भेदकी महिमा बढ़ायी गयी है । इससे स्वाभाविक ही यह शङ्का होती है कि गीतामें भेदका प्रतिपादन है या अभेदका ! जब भेद और अभेद दोनोंका स्पष्ट वर्णन मिलता है तब उनमेंसे किसी एकको गलत नहीं कहा जा सकता । परन्तु सत्य कभी दो नहीं हो सकते, वह तो एक ही होता है । अतः इस विषयपर विचार करनेसे यही अनुमान होता है कि वास्तवमें जो वस्तु-तत्त्व है उसको न भेद ही कहा जा सकता है और न अभेद ही । वह सबसे विलक्षण है, मन-वाणीसे परे है, वह वस्तुस्थिति वाणी या तर्क-युक्तियोंसे समझी या समझायी नहीं जा सकती । जो जानते हैं वे ही जानते हैं । जाननेवाले भी उसका वाणीसे वर्णन नहीं कर सकते । श्रुति कहती है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥
(केन २ । २)

'मैं ब्रह्मको भली प्रकार जानता हूँ ऐसा नहीं मानता और यह भी नहीं मानता कि मैं नहीं जानता, क्योंकि जानता भी हूँ । हम-

लोगोंमेंसे जो कोई उस ब्रह्मको जानता है वह भी इस बातको जानता है कि मैं नहीं जानता ऐसा नहीं मानता, क्योंकि जानता भी हूँ।'

जबतक वास्तविक तत्त्वको मनुष्य नहीं समझ लेता, तबतक इनका भेद मानकर साधन करना अधिक सुरक्षित और लाभदायक है, गीतामें दोनों प्रकारके वर्णनोंसे यह प्रतीत होता है कि दयामय भगवान्‌ने दो प्रकारके अधिकारियोंके लिये दो अवस्थाओंका वर्णन किया है। वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय है। वह अतर्क्य विषय परमात्माकी कृपासे ही जाननेमें आ सकता है। उस तत्त्वको यथार्थ-रूपसे जाननेका सरल उपाय उस परमात्माकी शरणागति है। इसमें सबका अधिकार है। भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

आगे चलकर भगवान्‌ने स्पष्ट कह दिया है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन

परमधामको प्राप्त होगा।' वह परमेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं, इसलिये अन्तमें उन्होंने कहा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८।६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'*

गीताके अनुसार कर्म, विकर्म और अकर्मका स्वरूप

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥
(गीता ४।१७)

कर्मकी गति बड़ी ही गहन है, इसीसे भगवान् बड़ा जोर देकर उसे समझनेके लिये कहते हैं और समझाते हैं। यहाँ कर्मकी तीन संज्ञा की गयी है—कर्म, विकर्म और अकर्म। यद्यपि इस बातका निर्णय करना बहुत कठिन है कि भगवान्‌का अभिप्राय वास्तवमें क्या है, परन्तु विचार करनेपर जो कुछ समझमें आता है वही लिखा

---

* शरणागतिके विषयमें विस्तार देखना हो तो प्रथम भागमें 'शरणागति' शीर्षक लेख देखें।

जाता है। साधारणतया विद्वज्जन इनका स्वरूप यही समझते हैं कि, १—इस लोक या परलोकमे जिसका फल सुखदायी हो उस उत्तम क्रियाका नाम कर्म है, २—जिसका फल इस लोक या परलोकमें दु.खदायी हो उसका नाम विकर्म है और ३—जो कर्म या कर्मत्याग किसी फलकी उत्पत्तिका कारण नहीं होता उसका नाम अकर्म है। इन तीनोंके रहस्यको समझना इसलिये भी बडा कठिन हो रहा है कि हमलोगोंने मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंको ही कर्म नाम दे रक्खा है, परन्तु यथार्थमें यह बात नहीं है। यदि यही बात हो तो फिर ऐसा कौन-सा रहस्य था जो सर्वसाधारणकी समझमें न आता? भगवान् भी क्यों कहते कि कर्म और अकर्म क्या हैं, इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं—

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।'

(गीता ४। १६)

—और क्यों इसे गहन ही बतलाते?

इससे यह सिद्ध होता है कि मन, वाणी, शरीरकी स्थूल क्रिया या अक्रियाका नाम ही कर्म, विकर्म या अकर्म नहीं है। कर्ताके भावोंके अनुसार कोई भी क्रिया कर्म, विकर्म और अकर्मरूपमें परिणत हो सकती है। साधारणत तीनोंका भेद इस प्रकार समझना चाहिये।

कर्म

मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली विधिसङ्गत उत्तम क्रियाको ही कर्म मानते हैं, पर ऐसी विधिरूप क्रिया भी कर्ताके भावोंकी

विभिन्नताके कारण कर्म, विकर्म या अकर्म बन जाती हैं। इसमें भाव ही प्रधान है, जैसे—

(१) फलकी इच्छासे शुद्ध भावनापूर्वक जो विधिसङ्गत उत्तम कर्म किया जाता है उसका नाम कर्म है।

(२) फलकी इच्छापूर्वक बुरी नीयतसे जो यज्ञ, तप, दान, सेवा आदि रूप विधेय कर्म भी किया जाता है, वह कर्म तमोगुणप्रधान होनेसे विकर्म यानी पापकर्म हो जाता है।

यथा—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥
(गीता १७। १९)

'जो तप मूढतापूर्वक हठसे मन, वाणी, शरीरकी पीडा-सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेकी नीयतसे किया जाता है, वह तामस कहा गया है।'

(३) क—फलासक्तिरहित हो भगवदर्थ या भगवदर्पण-बुद्धिसे अपना कर्तव्य समझकर जो कर्म किया जाता है (गीता ९। २७-२८; १२। १०-११) मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फलोत्पादक न होनेके कारण उस कर्मका नाम अकर्म है।

अथवा—

ख—परमात्मामें अभिन्न भावसे स्थित होकर कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुषद्वारा जो कर्म किया जाता है वह भी

मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फल नहीं देनेवाला होनेसे अकर्म ही है (गीता ३ । २८, ५ । ८-९; १४ । १९) ।

विकर्म

साधारणतः मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्ममात्र ही विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु वे भी कर्ताके भावानुसार कर्म, विकर्म या अकर्मके रूपमे बदल जाते हैं । इनमें भी भाव ही प्रधान है—

(१) इहलौकिक या पारलौकिक फलेच्छापूर्वक शुद्ध नीयतसे किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म-से लगते हैं) कर्म समझे जाते हैं (गीता २ । ३७) ।

(२) बुरी नीयतसे किये जानेवाले निषिद्ध कर्म तो सभी विकर्म हैं ।

(३) आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर शुद्ध नीयतसे कर्तव्य प्राप्त होनेपर किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म यानी निषिद्ध कर्म-से प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होनेके कारण अकर्म समझे जाते हैं (गीता २ । ३८; १८ । १७) ।

अकर्म

मन, वाणी, शरीरकी क्रियाके अभावका नाम ही अकर्म नहीं है । क्रिया न करनेवाले पुरुषोंके भावोंके अनुसार उनका क्रिया-त्यागरूप अकर्म भी कर्म, विकर्म और अकर्म बन सकता है । इसमें भी भाव ही प्रधान है ।

(१) मन, वाणी, शरीरकी सब क्रियाओंको त्याग कर एकान्तम बैठा हुआ क्रियारहित साधक पुरुष जो अपनको सम्पूर्ण क्रियाओंका त्यागी समझता है, उसके द्वारा स्वरूपसे कोई कर्म होता हुआ न दीखनेपर भी त्यागका अभिमान रहनके कारण उससे वह 'त्याग' रूप कर्म होता है। यानी उसका वह त्यागरूप अकर्म भी कर्म बन जाता है।

(२) कर्तव्य प्राप्त होनेपर भय या स्वार्थके कारण, कर्तव्यकर्मसे मुँह मोड़ना, विहित कर्मोंको न करना और बुरी नीयतसे लोगोंको ठगनके लिये कर्मोंका त्याग कर देना आदिमें भी स्वरूपसे कर्म नहीं होते, परन्तु यह अकर्म दुःखरूप फल उत्पन्न करता है, इससे इसको विकर्म या पापकर्म समझना चाहिये (३। ६, १८। ७)।

(३) परमात्माके साथ अभिन्न भावको प्राप्त हुए जिस पुरुषका कर्तृत्वाभिमान सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषके अंदर समाधिकालमें जो क्रियाका आत्यन्तिक अभाव है, वह अकर्म यथार्थ अकर्म है (२। ५५, ५८, ६। १९, २५)।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि कर्म, विकर्म और अकर्मका निर्णय केवल क्रियाशीलता और निष्क्रियतासे ही नहीं होता, भावोंके अनुसार ही कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म आदि हो जाते हैं। इस रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाला ही गीताके मतसे मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
(४ । १८)

और वही संसार-बन्धनसे सर्वथा छूटता है—

'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥'
(४ । १६)

गीतोक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

सातवें अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें 'अपरा', 'परा' और 'अहं' के रूपमें जिस तत्त्वका वर्णन है, उसीका तेरहवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्र', 'क्षेत्रज्ञ' और 'माम्' के नामसे एवं पन्द्रहवें अध्यायके सोलह और सत्तरहवें श्लोकमे 'क्षर', 'अक्षर' और 'पुरुषोत्तम' के नामसे है। इन तीनोंमे 'अपरा', 'क्षेत्र' और 'क्षर' प्रकृतिसहित इस जड जगत्के वाचक हैं, 'परा,' 'क्षेत्रज्ञ' और 'अक्षर' जीवके वाचक हैं तथा 'अहं', 'माम्' और 'पुरुषोत्तम' परमेश्वरके वाचक हैं।

क्षर—प्रकृतिसहित विनाशी जड तत्त्वोंका विस्तार तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें है—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीके सूक्ष्म भावरूप पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ

और गुदा) दस इन्द्रियाँ, एक मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) पाँच विषय इस प्रकार चौबीस क्षर तत्त्व हैं। सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इन्हींका संक्षेप अष्टधा प्रकृतिके रूपमें किया गया है—

> भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
> अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

और भूतोंसहित इसी प्रकृतिका और भी संक्षेप रूप पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' है। यों समझना चाहिये कि 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' का विस्तार अष्टधा प्रकृति और उसका विस्तार चौबीस तत्त्व हैं। वास्तवमें तीनों एक ही वस्तु हैं। सातवें अध्यायके तीसवें और आठवें अध्यायके पहले तथा चौथे श्लोकमें 'अधिभूत' के नामसे, तेरहवें अध्यायके बीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें (दस) कार्य, (तेरह) करण और (एक) प्रकृतिके नामसे, (कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते) एवं चौदहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें 'महद्ब्रह्म' और 'मूर्तयः' शब्दोंसे भी इसी प्रकृतिसहित विनाशी जगत्‌का वर्णन किया गया है।

अक्षर—सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'परा प्रकृति' के नामसे, तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्रज्ञ' के नामसे और पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'कूटस्थ' और 'अक्षर' के नामसे जीवका वर्णन है। यह जीवात्मा प्रकृतिसे श्रेष्ठ है, ज्ञाता है, चेतन है तथा अक्षर होनेसे नित्य है। पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' के अनुसार जीवका विशेषण 'कूटस्थ' होनेके

कारण कुछ सज्जनोंने इसका अर्थ प्रकृति या भगवान्‌की मायाशक्ति किया है, परन्तु गीतामें 'अक्षर' और 'कूटस्थ' शब्द कहीं भी प्रकृतिके अर्थमें व्यवहृत नहीं हुए, वल्कि ये दोनों ही स्थान-स्थानमें जीवात्मा और परमात्माके वाचकरूपसे आये हैं। जैसे—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
(६।८)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
(१२।३)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
(८।२१)

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
(३।१५)

दूसरी वात यह विचारणीय है कि आगे चलकर पद्रहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि मैं 'क्षर' से अतीत हूँ और 'अक्षर' से भी उत्तम हूँ। यदि 'अक्षर' प्रकृतिका वाचक होता तो 'क्षर' की भाँति इससे भी भगवान् अतीत ही होते, क्योंकि प्रकृतिसे तो परमात्मा अतीत हैं। भगवान्‌ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
(७।१३ १४)

इन श्लोकोंसे सिद्ध है कि प्रकृति गुणमयी है और भगवान् गुणोंसे अतीत हैं। कहीं भी ऐसा वचन नहीं मिलता, जहाँ ईश्वरको प्रकृतिसे उत्तम बतलाया गया हो। इससे यही समझमें आता है कि यहाँ 'अक्षर' शब्द जीवका वाचक है। मायाबद्ध चेतन जीवसे शुद्ध निर्विकार परमात्मा उत्तम हो सकते हैं। अनीश नहीं हो सकते। इसलिये यहाँ अक्षरका अर्थ प्रकृति न मानकर जीव मानना ही उत्तम और युक्तियुक्त है। स्वामी श्रीधरजीने भी यही माना है।

इसी जीवात्माका वर्णन सातवें अध्यायके उनतीसवें और आठवें अध्यायके पहले तथा तीसरे श्लोकमें 'अध्यात्म' के नामसे एवं तेरहवें अध्यायके श्लोक १०, २०, २१ में 'पुरुष' शब्दसे है। यहाँ सुख-दुःखोंके भोक्ता प्रकृतिमें स्थित और सदसद्योनिमें जन्म लेनेवाला बतलानेके कारण 'पुरुष' शब्दसे 'जीवात्मा' सिद्ध है। पंद्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'जीवभूत' नामसे और आठवेंमें 'ईश्वर' नामसे, चौदहवें अध्यायके तीसरेमें 'गर्भ' और 'बीज' के नामसे भी जीवात्माका ही कथन है। जीवात्मा चेतन है, अचल है, ध्रुव है, नित्य है, मोक्ता है इन सब भावोंको समझानेके लिये ही भगवान्ने विभिन्न नाम और भावोंसे वर्णन किया है।

पुरुषोत्तम—यह तत्त्व परम दुर्विज्ञेय है, इसीसे भगवान्ने अनेक भावोंसे इसका वर्णन किया है। कहीं सृष्टि-पालन और संहारकर्तारूपसे, कहीं शासकरूपसे कहीं धारणकर्ता और पोषणकर्ताके भावसे, कहीं पुरुषोत्तम, परमेश्वर, परमात्मा, अव्यय

और ईश्वर आदि नाना नामसे वर्णन है। 'अह', 'माम्' आदि शब्दोंसे जहाँ-तहाँ इसी परम अव्यक्त, पर, अविनाशी, नित्य, चेतन, आनन्द, बोधस्वरूपका वर्णन किया गया है। जैसे—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
(७।६)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
(१५।१७)

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(१५।१८)

—वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ (१५।१५)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
(१३।२७)

उपर्युक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके वर्णनमें क्षर प्रकृति तो जड और विनाशशील है। अक्षर जीवात्मा नित्य, चेतन, आनन्दरूप, प्रकृतिसे अतीत और परमात्माका अश होनेके कारण परमात्मासे अभिन्न होते हुए भी अविद्यासे सम्बन्ध होनेके कारण भिन्न-सा प्रतीत होता है। ज्ञानके द्वारा अविद्याका सम्बन्ध नाश हो जानेपर जब वह परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है, तब उसे परमात्मासे भिन्न नहीं कहा जाता, अतएव वास्तवमें वह परमात्मासे भिन्न नहीं है। पुरुषोत्तम परमात्मा नित्यमुक्त, प्रकृतिसे सदा अतीत, सबका महाकारण, अज, अविनाशी है। प्रकृतिके सम्बन्धसे उसे

भर्ता, भोक्ता, महेश्वर आदि नामोंसे कहते हैं। प्रकृति और समस्त कार्य परमात्मामें केवल अध्यारोपित हैं। वस्तुत परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। इस रहस्यका तत्त्व जाननेको ही परम पदकी प्राप्ति और मुक्ति कहा जाता है। अत इसको जाननेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। भगवान् कहते हैं--

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(६।२३)

'जो दु खरूप संसारके संयोगसे रहित है, जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये, वह परमात्माकी प्राप्तिरूप योग तत्पर-चित्तसे निश्चयपूर्वक ही करना चाहिये।

गीता मायावाद मानती है या परिणामवाद ?

श्रीमद्भगवद्गीतामें दोनों ही वादोंके समर्थक शब्द मिलते हैं, इससे निश्चयरूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि गीताको वास्तवमें कौन-सा वाद स्वीकार है। मेरी समझसे गीताका प्रतिपाद्य विषय कोई वादविशेषको लेकर नहीं है। सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमात्माको प्राप्त करना गीताका उद्देश्य है। जिसके उपायस्वरूप कई प्रकारके मार्ग बतलाये गये हैं, जिसमें परिणामवाद और मायावाद दोनों ही आ जाते हैं। जैसे—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥
(८। १८-१९)

'इसलिये वे यह भी जानते हैं कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं। और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर, प्रकृतिके वशमे हुआ, रात्रिके प्रवेश-कालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमे फिर उत्पन्न होता है, हे अर्जुन ! इस प्रकार ब्रह्माके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेसे अपने लोक-सहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है।'

इन श्लोकोंसे यह स्पष्ट प्रकट है कि समस्त व्यक्त जड पदार्थ अव्यक्त समष्टि-शरीरसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें उसीमें लय हो जाते हैं। यहाँ यह नहीं कहा कि उत्पन्न या लय होते हुए-से प्रतीत होते हैं, वास्तवमें नहीं होते, परन्तु स्पष्ट उत्पन्न होना अर्थात् उस अव्यक्तका ही व्यक्तरूपमें परिणामको प्राप्त होना और दूसरा परिणाम व्यक्तसे पुन. अव्यक्तरूप होना बतलाया है। इन अव्यक्त तत्त्वोंका सघात (सूक्ष्म समष्टि) भी महाप्रलयके अन्तमें मूल अव्यक्तमें विलीन हो जाता है और उसीसे उसकी उत्पत्ति होती है। उस मूल अव्यक्त प्रकृतिको ही भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायके श्लोक ३, ४ में 'महद्ब्रह्म' कहा है और जडवर्गके विस्तारमें इस प्रकृतिको

ही हेतु माना है। अध्याय १३। १९-२० में भी कार्यकरणरूप तेईस तत्त्वोंको ही प्रकृतिका विस्तार बतलाया है।* इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ देखनेमें आता है, सो सब प्रकृतिका कार्य है। यानी प्रकृति ही परिणामको प्राप्त हुई है। जीवात्मासहित जो चतुर्विध देहोंकी उत्पत्ति होती है, वह प्रकृति

---

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीरूप पाँच सूक्ष्मभूत एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय—इन दसको कार्य कहते हैं। बुद्धि, अहंकार, मन (अन्तःकरण), श्रोत्र, त्वक्, रसना, नेत्र, घ्राण (ज्ञानेन्द्रियाँ) एवं वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा (कर्मेन्द्रियाँ)—इन तेरहके समुदायका नाम करण है। सांख्यकारिका ३ में कहा है—मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ मूल प्रकृति विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति-विकृति हैं, सोलह विकार हैं और पुरुष न प्रकृति है, न विकृति।

अव्याकृत मायाका नाम मूल प्रकृति है। वह किसीका विकार न होनेके कारण किसीकी विकृति नहीं है, ऐसा कहा जाता है। महत्तत्त्व, समष्टि-बुद्धि, अहङ्कार, भूतोंकी सूक्ष्म पञ्च तन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति विकृति हैं। मूल-प्रकृतिका विकार होनेसे इनको विकृति कहते हैं एवं इनसे अन्य विकारोंकी उत्पत्ति होती है, इसीसे इन्हें ही प्रकृति भी कहते हैं, अतएव इनका नाम प्रकृति-विकृति है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूल भूत—ये सोलह विकृति हैं। अहङ्कार और तन्मात्राओंसे इनकी उत्पत्ति होनेके कारण इन्हें विकृति कहते हैं। इनसे आगे अन्य किसीकी उत्पत्ति नहीं है, इससे ये किसीकी प्रकृति नहीं हैं विकृति मात्र हैं। सांख्यके अनुसार मूल-प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे पञ्च तन्मात्रा, फिर अहङ्कारसे मन और दस इन्द्रियाँ तथा पञ्च तन्मात्राओंसे पञ्च स्थूल भूत। गीताके १३ वें अध्यायके ५ वें श्लोकमें भी प्रायः ऐसा ही वर्णन है।

और उस पुरुषके सयोगसे होती है । इनमे जितने देह---शरीर हैं, वे सब प्रकृतिका परिणाम हैं और उन सबमे जो चेतन है सो परमेश्वरका अश है । चेतनरूप बीज देनेवाला पिता भगवान् है ।

भगवान् कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

(१४ । ४)

'हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ।' गीतामे इस प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिमें प्रकृतिसहित पुरुषका कथन जगह-जगह मिलता है, कहीं परमेश्वरकी अध्यक्षतासे प्रकृति उत्पन्न करती है, ऐसा कहा गया है (९ । १०) तो कहीं मैं उत्पन्न करता हूँ (९ । ८) ऐसे वचन मिलते हैं । सिद्धान्त एक ही है ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि यह सारा चराचर जगत् प्रकृतिका परिणाम है । परमेश्वर अपरिणामी है, गुणोंसे अतीत है । इस ससारके परिणाममें परमेश्वर प्रकृतिको सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता है, सहायता करता है, परन्तु उसके परिणामसे परिणामी नहीं होता । आठवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें यह स्पष्ट कहा है कि 'अव्यक्त प्रकृतिसे परे जो एक सनातन अव्यक्त परमात्मा है, उसका कभी नाश नहीं होता अर्थात् वह परिणामरहित एकरस रहता है ।'

इसीलिये गीताने उसीका समझना यथार्थ बतलाया है जो सम्पूर्ण भूतोंके नाश होनेपर भी परमात्माको अविनाशी एकरस समझता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(१३ । २७)

इससे सिद्ध होता है कि नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमात्मामें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता । वास्तवमें इस परिवर्तनशील संसारका ही परिवर्तन होता है । इस प्रकारके परिणामवादका गीतामें समर्थन किया गया है ।

इसके विपरीत गीतामें ऐसे श्लोक भी बहुत हैं जिनके आधारपर अद्वैत-मतके अनुसार व्याख्या करनेवाले विद्वान् मायावाद सिद्ध करते हैं । भगवान्ने कहा है—'मेरी योगमायाका आश्चर्यजनक कार्य देख, जिससे बिना ही हुआ जगत् मुझसे परिणामको प्राप्त हुआ-सा दीखता है (न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् । ९ । ५) यानी वास्तवमें संसार मुझ (परमात्मा) में है नहीं । पर दीखता है, इस न्यायसे है भी अतः यह सब मेरी मायाका खेल है । जैसे रज्जुमें बिना ही हुए सर्प दीखता है वैसे ही बिना ही हुए अज्ञानसे संसार भी भासता है । आगे चलकर भगवान्ने जो यह कहा है कि 'जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे सङ्कल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसे जान ।' इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आकाशसे उत्पन्न होकर उसीमें रहनेवाले वायुके समान

ससार भगवान्मे है । यह दृष्टान्त केवल समझानेके लिये है । सातवे अध्यायमे भगवान्ने कहा है कि सात्त्विक, राजस, तामस, भाव मुझसे उत्पन्न होते है, परन्तु वास्तवमे उनमें मैं और वे मुझमे नहीं हैं (न त्वहं तेषु ते मयि ७ । १२) ।

'मेरे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है' (मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनजय ७ । ७), 'सब कुछ वासुदेव ही है' (वासुदेवः सर्वमिति ७ । १९); 'इस ससारवृक्षका जैसा स्वरूप कहा है वैसा यहाँ (विचारकालमे) पाया नहीं जाता' (न रूपमस्येह तथोपलभ्यते १५ । ३) आदि वचनोंसे मायावादकी पुष्टि होती है । एक परमात्माके अतिरिक्त ओर कुछ है ही नहीं । जो कुछ प्रतीत होता है सो केवल मायामात्र है ।

इस तरह दोनों प्रकारके वादोंको न्यूनाधिकरूपसे समर्थन करनेवाले वचन गीतामें मिलते हैं । मेरी समझसे गीता किसी वाद-विशेषका प्रतिपादन नहीं करती, वह किसी वादके तत्त्वको समझानेके लिये अवतरित नहीं हुई, वह तो सब वादोंको समन्वय करके ईश्वर-प्राप्तिके भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाती है । गीतामें दोनों ही वादोंके माननेवालोंके लिये पर्याप्त वचन मिलते हैं, इससे गीता सभीके लिये उपयोगी है । अपने-अपने मत और अधिकारके अनुसार गीताका अनुसरण कर भगवत्प्राप्तिके मार्गपर आरूढ होना चाहिये ।
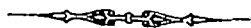
गीतामें ज्ञान, योग आदि शब्दोंका पृथक् पृथक् अर्थोंमें प्रयोग

श्रीमद्भगवद्गीतामें कई शब्द ऐसे हैं जिनका प्रसङ्गानुसार भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ ज्ञान, योग, योगी, युक्त, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त और अक्षरके कुछ भेद प्रमाणसहित बतलाये जाते हैं। एक-एक अर्थके लिये प्रमाणमें विस्तारभयसे केवल एक ही प्रसङ्गका उदाहरण दिया जाता है। परन्तु ऐसे प्रसङ्ग प्रत्येक अर्थके लिये एकाधिक या बहुत से मिल सकते हैं—

ज्ञान

'ज्ञान' शब्दका प्रयोग गीतामें सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) तत्त्वज्ञान—अ० ४। ३७-३८—इनमें ज्ञानको सम्पूर्ण कर्मोंके भस्म करनेवाले अग्निके समान और अतुलनीय पवित्र बतलाया है, जो तत्त्वज्ञान ही हो सकता है।

(२) सांख्यज्ञान—अ० ३। ३—इसमें सांख्यनिष्ठामें स्पष्ट 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग है।

(३) परोक्षज्ञान—अ० १२। १२—इसमें ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान और कर्म-फल-त्यागको श्रेष्ठ बतलाया है, इससे यह ज्ञान तत्त्वज्ञान न होकर, परोक्षज्ञान है।

(४) साधनज्ञान—अ० १३। ११—यह ज्ञान तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है, इससे साधनज्ञान है।

(५) विवेकज्ञान—अ० १४ । १७—यह सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाला है, इससे विवेकज्ञान है ।

(६) लौकिक ज्ञान—अ० १८ । २१—इस ज्ञानसे मनुष्य सब प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न भाव देखता है, इसलिये यह राजस या लौकिक ज्ञान है ।

(७) शास्त्रज्ञान—अ० १८ । ४२—इसमें विज्ञान शब्द साथ रहने और ब्राह्मणका स्वाभाविक धर्म होनेके कारण यह शास्त्रज्ञान है ।

योग

'योग' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) भगवत्-प्राप्तिरूप योग—अ० ६ । २३—इसके पूर्व श्लोकमें परमानन्दकी प्राप्ति और इसमें दु:खोंका अत्यन्त अभाव बतलाया गया है, इससे यह योग परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है ।

(२) ध्यानयोग—अ० ६ । १९—वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरता होनेके कारण यह ध्यानयोग है ।

(३) निष्काम कर्मयोग—अ० २ । ४८—योगमें स्थित होकर आसक्तिरहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समान बुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यह निष्काम कर्मयोग है ।

(४) भगवत्-शक्तिरूप योग—अ० ९ । ५—इसमें आश्चर्यजनक प्रभाव दिखलानेका कारण होनेसे यह शक्तिका वाचक है ।

(५) भक्तियोग—अ० १४ । २६—निरन्तर अव्यभिचाररूपसे

भजन करनेका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोग है। इसमें स्पष्ट 'भक्ति-योग' शब्द है।

(६) अष्टाङ्गयोग—अ० ८। १२—धारणा शब्द साथ होने तथा मन-इन्द्रियोंके संयम करनेका उल्लेख होनेके साथ ही मस्तकमें प्राण चढ़ानेका उल्लेख होनेसे यह अष्टाङ्गयोग है।

(७) सांख्ययोग—अ० १३। २४—इसमें सांख्ययोगका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख है।

योगी

'योगी' शब्दका प्रयोग भी अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) ईश्वर—अ० १०। १७—भगवान् श्रीकृष्णका सम्बोधन होनेसे ईश्वरवाचक है।

(२) आत्मज्ञानी—अ० ६। ८—ज्ञान-विज्ञानमें तृप्त और स्वर्ण-मिट्टी आदिमें समतायुक्त होनेसे आत्मज्ञानीका वाचक है।

(३) ज्ञानी भक्त—अ० १२। १४—परमात्मामें मन-बुद्धि लगानेवाला होने तथा भक्तका विशेषण होनेसे ज्ञानी भक्तका वाचक है।

(४) निष्काम कर्मयोगी—अ० ५। ११—आसक्तिको त्यागकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे निष्काम कर्मयोगीका वाचक है।

(५) सांख्ययोगी—अ० ५। २४—अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है।

(६) भक्त–अ० ८ । १४—अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्के स्मरणका उल्लेख होनेसे यह भक्तका वाचक है ।

(७) साधकयोगी–अ० ६ । ४५–अनेकजन्मससिद्ध होनेके अनन्तर ज्ञानकी प्राप्तिका उल्लेख है, इससे यह साधकयोगीका वाचक है ।

(८) ध्यानयोगी–अ० ६ । १०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामे लगानेकी प्रेरणा होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है ।

(९) सकाम कर्मयोगी–अ० ८ । २५—वापस लौटनेवाला होनेसे यह सकाम कर्मयोगीका वाचक है ।

युक्त

'युक्त' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) तत्त्वज्ञानी–अ० ६ । ८—ज्ञान-विज्ञानसे तृप्तात्मा होनेसे यह तत्त्वज्ञानीका वाचक है ।

(२) निष्काम कर्मयोगी–अ० ५ । १२—कर्मोंका फल परमेश्वरके अर्पण करनेवाला होनेसे यह निष्काम कर्मयोगीका वाचक है ।

(३) साख्ययोगी–अ० ५ । ८—सब क्रियाओंके होते रहनेपर कर्त्तापनके अभिमानका न रहना बतलाया जानेके कारण साख्ययोगीका वाचक है ।

(४) ध्यानयोगी–अ० ६ । १८—वशमें किया हुआ चित्त

परमात्मामें स्थित हो जानेका उल्लेख होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है।

(५) संयमी—अ० २। ६१—समस्त इन्द्रियोंका संयम करके परमात्म-परायण होनेसे यह संयमीका वाचक है।

(६) संयोगसूचक—अ० ७। २२—श्रद्धाके साथ संयोग बतानेवाला होनेसे यह संयोगसूचक है।

(७) यथायोग्य व्यवहार—अ० ६। १७—यथायोग्य आहार, विहार, शयन और चेष्टा आदि बतानेवाला होनेसे यह यथायोग्य व्यवहारका वाचक है।

आत्मा

'आत्मा' शब्दका प्रयोग ग्यारह अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० ३। १७—ज्ञानीकी उसीमें प्रीति, उसीमें तृप्ति और उसीमें सन्तुष्टि होनेके कारण परमात्माका वाचक है।

(२) ईश्वर—अ० १०। २०—सब भूतोंके हृदयमें स्थित होनेसे ईश्वरका वाचक है।

(३) शुद्धचेतन—अ० १३। २९—अकर्ता होनेसे शुद्ध चेतनका वाचक है।

(४) स्वरूप—अ० ७। १८—ज्ञानीको अपना आत्मा बतलानेके कारण यह स्वरूप ही समझा जाता है। इससे स्वरूपका वाचक है।

(५) परमेश्वरका सगुणस्वरूप—अ० ४। ७—अवताररूपसे प्रकट होनेका उल्लेख रहनेसे सगुणस्वरूपका वाचक है।

(६) जीवात्मा–अ० १६ । २१—अधोगतिमे जानेका वर्णन होनेसे जीवात्माका वाचक है ।

(७) बुद्धि–अ० १३ । २४—(आत्मना) ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखनेका वर्णन है, यह देखना बुद्धिसे ही होता है । अत यह बुद्धिका वाचक है ।

(८) अन्त करण–अ० १८ । ५१—इसमें 'आत्मानं नियम्य' यानी आत्माको वगमे करनेका उल्लेख होनेसे यह अन्त - करणका वाचक है ।

(९) हृदय–अ० १५ । ११—इसमे 'यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्' 'योगीजन' अपने आत्मामें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं । आत्मा हृदयमें स्थित होता है, अत यहाँ यह (आत्मनि) हृदयका वाचक है ।

(१०) शरीर–अ० ६ । ३२—'आत्मौपम्येन' अपनी सादृश्यतासे लक्षित होनेके कारण यहाँ आत्मा शरीरका वाचक है ।

(११) निजवाचक–अ० ६ । ५—आत्मा ही आत्माका मित्र और आत्मा ही आत्माका शत्रु है, ऐसा उल्लेख रहनेसे यह निजवाचक है ।

ब्रह्म

'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा–अ० ७ । २९—भगवान्‌के शरण होकर जरा-मरणसे छूटनेके लिये यत्न करनेवाले ब्रह्मको जानते हैं, ऐसा कथन होनेसे यहाँ परमात्माका वाचक है ।

(२) ईश्वर—अ० ५ । १०—सब कर्म ब्रह्ममें अर्पण करनेका उल्लेख होनेसे यह ईश्वरका वाचक है ।

(३) प्रकृति—अ० १४ । ४—महत् विशेषण होनेसे प्रकृतिका वाचक है ।

(४) ब्रह्म—अ० ८ । १७—कालकी अवधिवाला होनेसे यहाँ 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्माका वाचक है ।

(५) ओंकार—अ० ८ । १३—'एकाक्षर' विशेषण होने और उच्चारण किये जानेवाला होनेसे यहाँ ब्रह्म शब्द ओंकारका वाचक है ।

(६) वेद—अ० ३ । १५—(पूर्वार्ध) कर्मोंकी उत्पत्तिका कारण होनेसे वेदका वाचक है ।

(७) परमधाम—अ० ८ । २४—शुक्लमार्गसे प्राप्त होनेवाला होनेसे परमधामका वाचक है ।

अव्यक्त

'अव्यक्त' शब्दका प्रयोग चार अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० १२ । १—अक्षर विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है ।

(२) शुद्ध चेतन—अ० २ । २५—स्पष्ट है ।

(३) प्रकृति—अ० १३ । ५—स्पष्ट है ।

(४) ब्रह्माका सूक्ष्मशरीर—अ० ८ । १८—स्पष्ट है ।

अक्षर

'अक्षर' शब्दका प्रयोग चार अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० ८। ३—ब्रह्मका विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है।

(२) जीवात्मा—अ० १५। १६—कूटस्थ विशेषण होने और अगले श्लोकमें उत्तम पुरुष परमात्माका अन्य रूपसे उल्लेख होनेसे यह जीवात्माका वाचक है।

(३) ओंकार—अ० ८। १३—स्पष्ट है।

(४) वर्ण—अ० १०। ३३ स्पष्ट है।

श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है—इसके अंदर ज्ञानका अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इसका तत्त्व समझानेमें बडे-बडे दिग्गज विद्वान् और तत्त्वालोचक महात्माओंकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है, क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं। उनके बाद कहीं इसके सङ्कलनकर्ता व्यासजी और श्रोता अर्जुनका नंबर आता है। ऐसी अगाध रहस्यमयी गीताका आशय और महत्त्व समझना मेरे लिये ठीक वैसा ही है जैसा एक साधारण पक्षीका अनन्त आकाशका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना। गीता अनन्त भावोंका अथाह समुद्र है। रत्नाकरमें गहरा गोता लगानेपर जैसे रत्नोंकी प्राप्ति होती है वैसे ही इस गीता-सागरमें गहरी डुबकी

लगानेसे जिज्ञासुओंको नित्य नूतन विलक्षण भाव-रत्नराशिकी उपलब्धि होती है।

गीता सर्वशास्त्रमयी है—यह सब उपनिषदोंका सार है। सूत्रोंमें जैसे विशेष भावोंका समावेश रहता है उससे भी कहीं बढ़कर भावोंका भण्डार इसके श्लोकोंमें भरा पड़ा है। इसके श्लोकोंको श्लोक नहीं, मन्त्र कहना चाहिये। भगवान्के मुखसे कहे जानेके कारण वस्तुतः मन्त्रोंसे भी बढ़कर ये परम मन्त्र हैं। इतनेपर भी ये श्लोक क्यों कहे जाते हैं? इसलिये कि वेद-मन्त्रोंसे जैसे स्त्री और शूद्रादि वञ्चित रह जाते हैं, कहीं वैसे ही वे बेचारे इस अनुपम गीता-शास्त्रसे भी वञ्चित न रह जायँ। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने सब जीवोंके कल्याणार्थ अर्जुनके बहाने इस तात्त्विक ग्रन्थ-रत्नको संसारमें प्रकट किया है। इसके प्रचारकको प्रशंसा करते हुए भगवान्ने चाहे वे कोई हों, भक्तोंमें इसके प्रचारकी स्पष्ट आज्ञा दी है—

> य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
> भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
> न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
> भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
> (गीता १८। ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्यमय गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा। न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें

कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्रिय पृथिवीमें दूसरा कोई होवेगा।'

गीताका प्रचार-क्षेत्र सकीर्ण और शिथिल नहीं है। भगवान् यह नहीं कहते कि अमुक जाति, वर्णाश्रम अथवा देश-विदेशमें ही इसका प्रचार किया जाना चाहिये। भक्त होनेपर चाहे मुसलमान हो, चाहे ईसाई, ब्राह्मण हो या शूद्र सभी इसके अधिकारी हैं, परन्तु भगवान् यह अवश्य कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(गीता १८।६७)

'तेरे हितार्थ कहे हुए इस गीतारूप—परम रहस्यको किसी कालमें भी न तो तपरहित मनुष्यके प्रति कहना चाहिये और न भक्तिरहितके प्रति तथा न बिना सुननेकी इच्छावालेके ही प्रति और जो मेरी निन्दा करता है उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिये।' यह निषेध भी ठीक है, ब्राह्मण होनेपर भी यदि वह अभक्त है तो इसका अधिकारी नहीं है। शूद्र भी भक्त हो तो इसका अधिकारी है। जाति-पाँति और नीच-ऊँचका इसमें कोई बन्धन नहीं। अनधिकारियोंके लिये और भी तो विशेषण कहे गये हैं। यह ठीक है। जब भक्तोंके लिये खुली आज्ञा है तो जो भक्त होता है वह निन्दा नहीं कर सकता, भक्तको अपने भगवान्के अमृतवचन सुननेकी उत्कण्ठा रहती ही है। अपने प्रियतमकी बातको न सुननेका तो प्रेमी भक्तके सामने कोई प्रश्न

ही नहीं है। ईश्वरकी भक्ति होनेपर तप तो उसमें आ ही गया, अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि चाहे कोई भी मनुष्य हो भगवान् श्रीकृष्णका भक्त होनेपर वह गीताका अधिकारी है। इसके प्रत्येक श्लोकको मन्त्र या सूत्र कुछ भी मानकर जितना भी इसे महत्त्व दिया जाय उतना ही थोड़ा है। मक्खन जैसे दूधका सार है वैसे ही गीता सब उपनिषदोंका निचोड़ है। इसीलिये व्यासजीने कहा है कि—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौ हैं, दुहनेवाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं, अर्जुन बछड़ा है, श्रेष्ठ बुद्धिवाला पुरुष इस गीतामृतरूपी दूधको पान करनेवाला है।'

इस प्रकारका गीताका ज्ञान हो जानेपर मनुष्यको किसी दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती। इसमें सब शास्त्रोंका पर्यवसान है। गहरा गीता उतरनेपर इसमें अनेक अनोखे रत्नोंकी प्राप्ति होती है। अधिक मननसे ज्ञानका भण्डार खुल जाता है। इसीसे कहा गया है कि—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा॰ भीष्म॰ ४३।१)

गीता भगवान्‌का स्वरूप है, श्वास है—भाव है। इस श्लोकके 'पद्मनाभ' और 'मुखपद्म' शब्दोंमें बड़ा विलक्षण भाव भरा पड़ा है।

इनके पारस्परिक अन्तर और रहस्यपर भी ध्यान देना चाहिये। भगवान् 'पद्मनाभ' कहलाते हैं; क्योंकि उनकी नाभिसे कमल निकला और उस कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। इन्हीं ब्रह्माजीके मुखसे चारों वेद कहे गये हैं और उन वेदोंका ही विस्तार सब शास्त्रोंमें किया गया है। अब गीताकी उत्पत्तिपर विचार कीजिये। वह स्वयं परमात्माके मुख-कमलसे निकली है, अतः गीता भगवान्‌का हृदय है, इसीलिये यह मानना पड़ता है कि सर्व-शास्त्र गीताके पेटमें समाये हुए हैं। जिसने केवल गीताका ही सम्यक् अभ्यास कर लिया, उसे अन्य शास्त्रोंके विस्तारकी आवश्यकता ही क्या है? उसके कल्याणके लिये तो गीताका एक ही श्लोक पर्याप्त है।

अब 'सुगीता' के अर्थपर विचार करना चाहिये। यह ठीक है कि गीताका केवल पाठ करनेवालेका भी कल्याण हो सकता है; क्योंकि भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की है कि—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

(गीता १८। ७०)

पर त्रुटि इतनी ही है कि वह उसके तत्त्वको नहीं जानता। इससे उत्तम वह है जो इसका पाठ अर्थ और भावोंको समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करता है। इस प्रकार एक श्लोकका भी पाठ करनेवाला उससे बढ़कर माना जायगा। इस हिसाबसे गीताका पाठ यद्यपि प्रायः दो वर्षोंमें समाप्त होगा, पर उसके ७००श्लोकोंके केवल नित्यपाठके फलसे भी इसका फल विशेष ही रहेगा। इस प्रकार अर्थ और भावको समझकर गीताका

अभ्यास करनेवालेसे भी यह उत्तम माना जायगा जो उसके अनुसार अपने जीवनको बना रहा है। चाहे यह व्यक्ति दो श्लोकोंमें केवल एक ही श्लोकको काममें लाता है पर इस प्रकार परमात्म-प्राप्तिके साधनवाले श्लोकोंमेंसे किसी एकको धारण करनेवाला सर्वोत्तम है। एक पुरुष सौ श्लोकोंका पाठ कर गया, दूसरा सात सौका और तीसरा केवल एकहीका। पर हमें यह मानना पड़ेगा कि केवल एक ही श्लोकको आचरणमें लानेवाला मनुष्य श्लोकोंका पाठमात्र करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, इस प्रकार गीताके सम्पूर्ण श्लोकोंका अध्ययन करके जो उन्हें पूर्णतया जीवनमें कार्यान्वित कर लेता है उसीका 'गीता छुगिवा' कर लेना है। गीताके अनुसार इस प्रकार चलनेवाला प्राणी तो गीताकी चैतन्यमय मूर्ति है।

अब यदि यह पूछा जाय कि गीतामें ऐसे कौन-से श्लोक हैं जिनमेंसे केवल एकको ही काममें लानेपर मनुष्यका कल्याण हो जाय, इसका ठीक-ठीक निश्चय करना बहुत ही कठिन है; क्योंकि गीताके प्राय सभी श्लोक ज्ञानपूर्ण और कल्याणकारक हैं। फिर भी सम्पूर्ण गीतामें एक तिहाई श्लोक तो ऐसे दीखते हैं कि जिनमेंसे एकको भी भलीभाँति समझकर काममें लानेसे अर्थात् उसके अनुसार आचरण बनानेसे मनुष्य परम पदको प्राप्त कर सकता है। उन श्लोकोंकी पूर्ण संख्या विस्तारभयसे न देकर पाठकोंकी जानकारीके लिये कतिपय श्लोकोंकी संख्या नीचे लिखी जाती है—

अ० २ श्लो० २० ७१ अ० ३ श्लो० १७–२०, अ० ४ श्लो० २०–२७; अ० ५ श्लो० १०, १७, १८, २९, अ० ६

श्लो० १४, ३०, ३१, ४७, अ० ७ श्लो० १४, १९, अ० ८ श्लो० ७, १४, २२; अ० ९ श्लो० २६, २९, ३२, ३४, अ० १० श्लो० ९, ४२; अ० ११ श्लो० ५४, ५५; अ० १२ श्लो० २, ८, १३, १४, अ० १३ श्लो० १५, २४, २५, ३०, अ० १४ श्लो० १९, २६; अ० १५ श्लो० ५, १५, अ० १६ श्लो० १; अ० १७ श्लो० १६ और अ० १८ श्लो० ४६, ५६, ५७, ६२, ६५, ६६।

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोकोंमेंसे एक श्लोकको भी अच्छी तरह काममें लानेवाला पुरुष मुक्त हो सकता है। जो सम्पूर्ण गीताको अर्थ और भावसहित समझकर श्रद्धा-प्रेमसे अध्ययन करता हुआ उसके अनुसार चलता है उसके तो रोम-रोममें गीता ठीक उसी प्रकार रम जाती है जैसे परम भागवत श्रीहनुमान्‌जीके रोम-रोममें 'राम' रम गये थे। जिस समय वह पुरुष श्रद्धा और प्रेमसे गीताका पाठ करता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसके रोम-रोमसे गीताका सुमधुर सङ्गीत-स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है।

गीताका विषय-विभाग

गीताका विषय बड़ा ही गहन और रहस्यपूर्ण है। साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या, इसमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। कोई-कोई तो अपने आशयके अनुसार ही इसका अर्थ कर लेते हैं। उन्हें अपने मतके अनुसार इसमें मसाला भी मिल जाता है, क्योंकि इसमें कर्म, उपासना, ज्ञान सभी विषयोंका समावेश है और जहाँ जिस विषयका वर्णन आया है वहाँ उसकी भगवान्‌ने वास्तविक प्रशंसा की है। अत अपने-अपने मतको पुष्ट करनेके लिये इसमें सभी

विद्वानोंको अपने अनुकूल सामग्री मिल ही जाती है। इसलिये वे अपने सिद्धान्तके अनुसार मोमके नाककी तरह खींचातानी करके इसे अपने मतकी ओर ले जाते हैं। जो अद्वैतवादी (एक ब्रह्मको माननेवाले) हैं, वे गीताके प्रायः सभी श्लोकोंको अभेदकी तरफ, द्वैतवादी द्वैतकी तरफ और कर्मयोगी कर्मकी तरफ ही ले जानेकी चेष्टा करते हैं अर्थात् ज्ञानियोंको यह गीताशास्त्र ज्ञानका, भक्तोंको भक्तियोगका और कर्मयोगियोंको कर्मका प्रतिपादक प्रतीत होता है। भगवान्‌ने बड़ी गम्भीरताके साथ अर्जुनके प्रति इस रहस्यमय ग्रन्थका उपदेश किया, जिसे देखकर प्रायः सभी संसारके मनुष्य इसे अपनाते और अपनी ओर खींचते हुए कहते हैं कि हमारे विषयका प्रतिपादन इसमें किया गया है। परन्तु भगवान्‌ने द्वैत, अद्वैत या विशिष्टाद्वैत आदि किसी वादको या किसी धर्म-सम्प्रदाय, जाति अथवा देशविशेषको लक्ष्यमें रखकर इसकी रचना नहीं की। इसमें न तो किसी धर्मकी निन्दा और न किसीकी पुष्टि ही की गयी है। यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और भगवान्‌द्वारा कथित होनेसे इसे स्वतः प्रामाणिक मानना चाहिये। इसे दूसरे शास्त्रके प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है—यह तो स्वयं दूसरोंके लिये प्रमाणस्वरूप है। अस्तु।

कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि इसके प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मका, द्वितीय षट्कमें उपासनाका और तृतीयमें ज्ञानका विषय वर्णित है। उनका यह कथन किसी अंशमें माना जा सकता है पर वास्तवमें ध्यानपूर्वक देखनेसे यह पता लग सकेगा कि द्वितीय अध्यायसे अठारहवें अध्यायतक सभी अध्यायोंमें न्यूनाधिक रूपमें कर्म, उपासना और ज्ञान-

विषयका प्रतिपादन किया गया है । अत गम्भीर विचारके बाद इसका विभाग इस प्रकार किया जाना उचित है—

प्रथम अध्यायमें तो मोह और स्नेहके कारण अर्जुनके शोक और विषादका वर्णन होनेसे उसका नाम अर्जुन-विषादयोग पडा । इसमे कर्म, उपासना और ज्ञानके उपदेशका विषय नहीं है । इस अध्यायका उद्देश्य अर्जुनको उपदेशका अधिकारी सिद्ध करना ही है । द्वितीय अध्यायमें साख्य और निष्काम कर्मयोग-विषयका वर्णन है । प्रधानतया अ० २ श्लोक ३९ से अ० ६ श्लोक ४ तक भगवान्‌ने विस्तारपूर्वक निष्काम कर्मयोगके विषयका अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे वर्णन किया है । भक्ति और ज्ञानका विषय भी प्रसङ्गवश आ गया है, जैसे अ० ५ श्लोक १३ से २६ तक ज्ञान और अ० ४ श्लोक ६ से ११ तक भक्ति । शेष छठे अध्यायमें ध्यानयोगका प्रतिपादन किया गया है । दूसरे शब्दोंमें हम इसे मनके सयमका विषय कह सकते हैं । इसीलिये इसका नाम आत्मसयमयोग रक्खा गया । अध्याय ७ से १२ तक तत्त्व और प्रभावके सहित भगवान्‌की भक्तिका रहस्य अनेक प्रकारकी युक्तियोंद्वारा समझाया गया है । इसीसे भक्तिके साथ भगवान्‌ने ज्ञान-विज्ञान आदि शब्दोंका प्रयोग किया है । इन छ अध्यायोंके षट्कको भक्तियोग या उपासना-काण्ड-पद दिया जा सकता है । अध्याय १३ और १४ में तो मुख्यतया ज्ञानयोगका ही प्रतिपादन किया गया है । १५ वें अध्यायमें भगवान्‌के रहस्य और प्रभावसहित भक्तियोगका वर्णन है । १६ वें अध्यायमें दैवी और आसुरी सम्पदावाले पुरुषोंके लक्षण अर्थात् श्रेष्ठ और नीच पुरुषोंके आचरणका उल्लेख किया गया है । इसके द्वारा मनुष्यको विधि-निषेधका बोध होता है, अत इसे ज्ञानयोग-

प्रतिपादक किसी अंशमें मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है। १७ वें अध्यायमें श्रद्धाका तत्त्व समझानेके लिये प्राय निष्काम कर्मयोग-बुद्धिसे यज्ञ, दान और तपादि कर्मोंका विभाग किया गया है, अत· इसे निष्काम कर्मयोग-विषयका ही अध्याय समझना चाहिये। १८ वेंमें उपसंहाररूपसे भगवान्‌ने सभी विषयोंका वर्णन किया है। जैसे श्लोक १ से १२ और ४१ से ४८ तक कर्मयोग, १३ से ४० और ४९ से ५५ तक ज्ञानयोग तथा ५६ से ६६ तक कर्मसहित भक्तियोग।

गीतोपदेशका आरम्भ और पर्यवसान

गीताके मुख्य उपदेशका आरम्भ 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' आदि श्लोकसे हुआ है। इसीसे लोग इसे गीताका बीज कहते हैं, परन्तु 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव' (२।७) आदि श्लोक भी बीज कहा गया है, क्योंकि अर्जुनके भगवत्-शरण होनेके कारण ही भगवान्‌ द्वारा यह गीतोपनिषद् कहा गया। गीताका पर्यवसान—समाप्ति शरणागतिमें है। यथा—

> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
> (१८।६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्यशरणको प्राप्त हो मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

प्र०—भगवान्‌ अर्जुनको क्या सिखलाना चाहते थे?

उ०—तत्त्व और प्रभावसहित भक्तिप्रधान कर्मयोग।

प्र०—गीतामें प्रधानत धारण करनेयोग्य विषय कितने हैं ?

उ०—भक्ति, कर्म, ध्यान और ज्ञानयोग । ये चारों विषय दोनों निष्ठाओं (साख्य और कर्म) के अन्तर्गत हैं ।

प्र०—गीताके अनुसार परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषके प्रायः सम्पूर्ण लक्षणोंका, मालाकी मणियोंके सूत्रकी तरह, आधाररूप लक्षण क्या है ?

उ०—'समता ।'

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

(गीता ५ । १९)

'जिनका मन समत्वभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण ससार जीत लिया गया अर्थात् वे जीते हुए ही ससारसे मुक्त हैं, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं ।'

मान-अपमान, सुख-दु.ख, मित्र-शत्रु और ब्राह्मण-चाण्डाल आदिमें जिनकी समबुद्धि है, गीताकी दृष्टिसे वे ही ज्ञानी हैं ।

प्र०—गीता क्या सिखलाती है ?

उ०—आत्मतत्त्वका ज्ञान और ईश्वरकी भक्ति, स्वार्थका त्याग और धर्म-पालनके लिये प्राणोत्सर्ग ! इन चारोंमेंसे जो एक गुणको भी जीवनमें क्रियात्मक रूप दे देता है—एकका भी सम्यक् पालन कर लेता है, वह स्वयं मुक्त और पवित्र होकर दूसरोंका कल्याण

करनेमें समर्थ हो सकता है। जिनको परमात्मदर्शनकी अतीव तीव्र उत्कण्ठा हो—जो यह चाहते हों कि हमें शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो, उन्हें धर्मके लिये अपने प्राणोंको हथेलीमें लिये रहना चाहिये। जो ईश्वरकी आज्ञा समझकर धर्मकी वेदीपर प्राणोंको विसर्जन करता है, वस्तुतः उसका प्राण-विसर्जन परमात्माके लिये ही है। अतः ईश्वरको भी तत्काल उसका कल्याण करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। जैसे गुरु गोविन्दसिंहके पुत्रोंने धर्मार्थ अपने प्राणोंकी आहुति देकर मुक्ति प्राप्त की, वैसे ही जो धर्म अर्थात् ईश्वरके लिये सर्वस्व होम देनेको सदा सर्वदा प्रस्तुत रहता है उसके कल्याणमें सन्देह ही क्या है?

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।'

(गीता ३।३५)

आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर मनुष्य निर्भय हो जाता है; क्योंकि वह इस बातको अच्छी तरह समझ जाता है कि आत्मा-का कभी नाश होता ही नहीं।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २।२०)

जबतक मनुष्यके अन्तःकरणमें किसीका किंचित् भी भय है तबतक समझ लेना चाहिये कि वह आत्मतत्त्वसे बहुत दूर है। जिसको ईश्वरकी शरणागतिके रहस्यका ज्ञान है, वही पुरुष धर्मके लिये—ईश्वरके लिये—हँसते-हँसते प्राणोंको होम सकता है। वही उसकी

कसौटी है। वास्तवमें स्वार्थका त्याग भी यही है। भगवद्वचनोंके महत्त्व और रहस्यको समझनेवाला व्यक्ति आवश्यकता पड़नेपर स्त्री, पुत्र और धनादिकी तो बात ही क्या, प्राणोत्सर्गतक कर देनेमें तिलभर भी पीछे नहीं रहता—सदा तैयार रहता है। जो व्यक्ति धर्म अर्थात् कर्तव्य-पालनका तत्त्व जान जाता है उसकी प्रत्येक क्रियामें मान-बड़ाई आदि बड़े-से-बड़े स्वार्थका आत्यन्तिक अभाव झलकता रहता है। ऐसे पुरुषोंका जीवन-धारण केवल भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा लोकहितार्थ ही समझा जाता है।

प्र०—गीतामें सबसे बढ़कर श्लोक कौन-सा है?

उ०—**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

इस श्लोकमें कथित शरणके प्रकारकी व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीता-के अध्याय ९ श्लोक ३४ एवं अध्याय १८ श्लोक ६५ में भली-भाँति की गयी है।

प्र०—भगवान्ने अपने दिये हुए उपदेशोंमें गुह्यतम उपदेश किसको बतलाया है?

उ०—'**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**'
'**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' आदिको।

(१८।६५-६६)

प्र०—गीता सुनानेमें भगवान्का लक्ष्य क्या था?

उ०—अर्जुनको पूर्णतया अपनी शरणमें लाना।

प्र०-इसकी पूर्ति कहाँ होती है ?

उ०-अध्याय १८ श्लोक ७३ में—

> नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
> स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिये मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।'

तेरह आवश्यक बातें

(१) प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी द्विजको कम-से-कम दोनों कालकी सन्ध्या ठीक समयपर करनी चाहिये, समयपर की हुई सन्ध्या बहुत ही लाभदायक होती है । स्मरण रखना चाहिये कि समयपर बोये हुए बीज ही उत्तम फलदायक हुआ करते हैं । ठीक कालपर सन्ध्या करनेवाले पुरुषके धर्म-तेजकी वृद्धि महर्षि जरत्कारुके समान हो सकती है ।

(२) वेद और शास्त्रमें गायत्री-मन्त्रके समान अन्य किसी भी मन्त्रका महत्त्व नहीं बतलाया गया, अतएव शुद्ध होकर पवित्र स्थान में अवकाशके अनुसार अधिक-से-अधिक गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये । कम-से-कम प्रातः और सायं १०८ मन्त्रोंकी एक-एक मालाका जप तो अवश्य ही करना चाहिये ।

(३) हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इस षोडश नामके मन्त्रका जप सभी जातियोंके स्त्री पुरुष सब समय कर सकते हैं। यह बहुत ही उपयोगी मन्त्र है। कलि-सन्तरण-उपनिषद्में इस मन्त्रका बहुत माहात्म्य बतलाया गया है।

(४) श्रीमद्भगवद्गीताका पठन और अध्ययन सबको करना चाहिये। बिना अर्थ समझे हुए भी गीताका पाठ बहुत लाभकारी है, परन्तु वास्तवमें बिना मतलब समझकर किये हुए अठारह अध्यायके मूल पाठकी अपेक्षा एक अध्यायका भी अर्थ समझकर पाठ करना श्रेष्ठ है, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको यथासाध्य गीताके एक अध्यायका अर्थसहित पाठ तो अवश्य ही करना चाहिये।

(५) प्रत्येक मनुष्यको अपने घरमें अपने भावनानुसार भगवान्‌की मूर्ति रखकर प्रेमके साथ प्रतिदिन उसकी पूजा करनी चाहिये। इससे भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है, शुभ संस्कारोंका सञ्चय होता है और समयका सदुपयोग होता है।

(६) मनुष्यको प्रतिदिन (गीता अध्याय ६ श्लोक १० से १३ के अनुसार) एकान्तमें बैठकर कम-से-कम एक घंटे अपनी रुचिके अनुसार साकार या निराकार भगवान्‌का ध्यान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इससे पाप और विक्षेपोंका समूल नाश होता है और कल्याण-मार्गमें बहुत उन्नति होती है।

(७) प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन बलिवैश्वदेव करके भोजन

करना चाहिये, क्योंकि गृहस्थाश्रममें नित्य होनेवाले पापोंके नाशके लिये जिन पञ्च महायज्ञोंका विधान है वे इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

(८) मनुष्यको सब समय भगवान्के नाम और स्वरूपका स्मरण करते हुए ही अपने धर्मके अनुसार शरीर-निर्वाह और अन्य प्रकारकी चेष्टा करनी चाहिये (गीता ८ । ७)।

(९) परमात्मा सारे विश्वमें व्याप्त है, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है, अतएव मनुष्यको परम सिद्धिकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण जीवोंको उन्हें ईश्वररूप समझकर अपने न्याययुक्त कर्तव्य कर्म द्वारा सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये (गीता १८ । ४६)

(१०) अपने द्वारपर आये हुए याचकको कुछ देनेकी शक्ति या किसी कारणवश इच्छा न होनेपर भी उसके साथ विनय, सत्कार और प्रेमका बर्ताव करना चाहिये।

(११) सम्पूर्ण जीव परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्माके ही स्वरूप हैं, अतएव निन्दा, घृणा, द्वेष और हिंसाको त्यागकर सबके साथ नि स्वार्थभावसे विशुद्ध प्रेम बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(१२) धर्म और ईश्वरमें श्रद्धा तथा प्रेम रखनेवाले स्वार्थत्यागी सदाचारी सत्पुरुषोंका सङ्ग कर उनकी आज्ञा तथा अनुकूलताके अनुसार आचरण करते हुए सत्सङ्गका विशेष लाभ उठाना चाहिये।

(१३) भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मकी वृद्धिके लिये श्रुति स्मृति आदि शास्त्रोंके पठन-पाठन और श्रवण-मननके द्वारा उनका तत्त्व समझकर अपनी आत्माको उन्नत बनाना चाहिये।

मनन करने योग्य

विशेष महत्त्वका भजन वह है जिसमें ये छः बातें होती हैं—

१—जिस मन्त्र या नामका जप हो उसके अर्थको भी समझते जाना।

२—भजनसे मनमें किसी प्रकारकी भी लौकिक-पारलौकिक कामना न रखना।

३—मन्त्र-जपके या भजनके समय बार-बार शरीरका पुलकित होना, मनमें आनन्दका उत्पन्न होना। आनन्द न हो तो आनन्दका संकल्प या भावना करनी चाहिये।

४—यथासाध्य भजन निरन्तर करना।

५—भजनमें श्रद्धा रखना और उसे सत्कारबुद्धिसे करना।

६—जहाँतक हो भजनको गुप्त रखना।

ध्यानके सम्बन्धमें—

१—एकान्त स्थानमें अकेले ध्यान करते समय मन अपने ध्येयमें प्रसन्नताके साथ अधिक-से-अधिक समयतक स्वाभाविक ही तल्लीन रहे; तभी ध्यान अच्छा होता है। इस प्रकारकी स्थितिके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है। अभ्यासमें निम्नलिखित साधनोंसे सहायता मिल सकती है—

क—श्वासद्वारा जप।

ख—अर्थसहित जप।

ग–भगवान्‌के प्रेम, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य-सम्बन्धी बातें पढ़नी-सुननी ।

२–एकान्तमें ध्यानके समय किसी भी सांसारिक विषयकी ओर मनको नहीं जाने देना चाहिये । उस समय तो एकमात्र ध्येयका ही लक्ष्य रखना चाहिये । दूसरी बड़ी-से-बड़ी बातका भी मनसे तिरस्कार कर देना लाभदायक है ।

सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघनमें स्थित होकर ज्ञान-नेत्रोंद्वारा ऐसे देखना चाहिये मानो सब कुछ मेरे ही संकल्पके आधारपर स्थित है । संकल्प करनेसे ही सबकी उत्पत्ति होती है और संकल्पके अभावसे ही अभाव है । यों समझकर फिर संकल्प भी छोड़ देना चाहिये । संकल्पत्यागके बाद जो कुछ बच रहता है वही अमृत है, वही सत्य है, वही आनन्दघन है । इस प्रकार अचिन्त्यके ध्यानका तीव्र अभ्यास एकान्तमें करना चाहिये ।

साधकोंके लिये आवश्यक बातें––

१–रुपयोंकी कामनासे संसारका काम करनेपर मन संसारमें रम जाता है, इसलिये संसारके काम बड़ी ही सावधानीसे केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे करने चाहिये ।

२–संसारके पदार्थों और सांसारिक विषयी मनुष्योंका संग जहाँतक हो, कम करना चाहिये । सांसारिक विषयोंकी बातें भी यथासाध्य कम ही करनी चाहिये ।

३–किसी दूसरेके दोष नहीं देखने चाहिये, स्वभाववश दीख जायँ तो बिना पूछे बतलाने नहीं चाहिये ।

४—सबमें निष्काम और समभावसे प्रेम रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

५—निरन्तर नाम-जपके अभ्यासको कभी छोड़ना नहीं चाहिये। उसमें जिस कार्यसे बाधा आती हो, उसे ही छोड देना उचित है। परम हर्ष और प्रेमसे नित्य-निरन्तर भजन होता रहे तो फिर भगवद्दर्शनकी भी आवश्यकता नहीं है। भजनका प्रेम ऐसा बढ़ जाना चाहिये कि जिसमें शरीरका भी ज्ञान न रहे। भगवान् स्वय पधारकर चेत करावें तो भी सुतीक्ष्णकी भाँति प्रेम समाधि न टूटे।

६—इन सब साधनोंकी शीघ्र सिद्धिके लिये इन्द्रियोंका सयम करके तत्परतासे अभ्यास करना चाहिये। इसके लिये किसी बातकी भी परवा न करनी चाहिये। शरीरकी भी नहीं।

७—शरीरमें अहङ्कार होनेसे ही शरीरके निर्वाहकी चिन्ता होती है। अतएव यथासाध्य शरीररूपी जेलमें जान-बूझकर कभी प्रवेश नहीं करना चाहिये।

सार बातें

'सत्संगकी बातें सुननेसे जो असर होता है वह पाँच मिनटके कुसंगसे कम हो जाता है, क्योंकि कुसग पाते ही पूर्वके कुविचार जग उठते हैं, इसलिये कुसंगका सर्वथा त्याग करे।'

'बुरे कर्म करनेवालोंकी दुर्गति होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है, बुरे कर्म करनेवालोंका जो चिन्तन करते हैं, उनकी भी हानि होती है। व्यभिचारीको याद करनेसे कामकी जागृति होती है।'

'भगवान्का भजन गुप्तरूपसे करना चाहिये, नहीं तो कपूरकी भाँति मान-बड़ाईमें उड़ जाता है।'

'स्वार्थको छोड़कर दूसरेके हितके लिये चेष्टा करनी, यही उसे प्रेममें बाँधनेका उपाय है।'

'दूसरेको सुख पहुँचाना ही उसे अपना बना लेना है। अपना तन, मन, धन—जो कुछ दूसरेके काममें लग जाय वही सार्थक है, बाकी तो सब व्यर्थ जाता है। जो इस बातको ध्यानमें रखकर चलता है उसे कभी पछताना नहीं पड़ता।'

'भगवान्को बुलाना हो तो अनन्य प्रेम करना चाहिये। प्यारे मनमोहनकी माधुरी मूर्तिको मनसे कभी न भुलावे। आर्तभावसे भगवान्के लिये रोवे। भगवान् अपने प्रेमी भक्तके साथ रहते हैं। तुम अनन्य प्रेम करोगे तो तुम्हें भगवत्की प्राप्ति अवश्य हो जायगी।'

'चाहे सारी दुनियाँसे नाता टूट जाय और प्राण अभी चले जायँ परन्तु भगवान्के प्रेममें किञ्चित् भी कलङ्क नहीं लगने देना चाहिये।'

'जैसे विषनाशिनी विद्या जाने बिना सर्पको पकड़ रखनेसे वह काट लेता है, फिर विष चढ़ जानेसे मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य विषयोंको पकड़कर अन्तमें उनमें मतवाला होकर मृत्युको प्राप्त हो जाता है।'

ज्ञानी पुरुषोंकी वाणीसे निकली हुई ज्ञानरूपी चिनगारियाँ जिनके कानोंद्वारा अन्तःकरणतक पहुँच जाती हैं, उसके सारे पाप जलकर भस्म हो जाते हैं।

'काम, क्रोध तभीतक रहते हैं जबतक अज्ञान है। अज्ञानरूप कारणका नाश हो जानेपर कामादि कार्य नहीं रह सकते।'

'भगवान्‌का भजन अमृतसे भी बढ़कर है, यह बात कहनेसे समझमें नहीं आ सकती। जिनका भजनमें प्रेम होता है, वे इस बातका अनुभव करते हैं।'

'जिस मनुष्यकी भगवान् या किसी महात्मामें पूर्ण श्रद्धा हो जाती है वह तो उनके परायण ही हो जाता है। परायणतामें जितनी कमी है, उतनी ही कमी विश्वासमें भी समझनी चाहिये।'

'महापुरुषोंद्वारा किये गये उत्तम बर्तावको भगवान्‌का बर्ताव ही समझना चाहिये। क्योंकि महापुरुषके अदरसे भगवान् ही सब कुछ करते-कराते हैं।'

'एक श्रीसच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण है। जैसे समुद्र सब ओरसे जलसे व्याप्त है इसी प्रकार यह संसार परमात्मासे व्याप्त है।'

'भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंद्वारा भगवान्‌के प्रभाव और प्रेमरहस्यकी बातें सुननी चाहिये और उन्हींके अनुसार साधन करना चाहिये। ऐसा करनेसे उद्धारमें कोई शङ्का नहीं।'

'समय बीत रहा है, बहुत सोच-समझकर इसे कीमती काममें लगाना चाहिये। वह कीमती काम भगवान्‌का भजन और संतोंका सङ्ग ही है।'

'भगवान्‌को सर्वोत्तम समझनेके बाद एक क्षणके लिये भी

भगवान्का ध्यान नहीं छूट सकता। जबतक भगवान्के ध्यानका आनन्द-रस नहीं मिलता, तभीतक वह संसारके विषयरूपी धूल चाटता है।'

'जो मनुष्य संसारके क्षणभङ्गुर नाशवान् पदार्थोंको सच्चे और सुखदायी समझकर उनका चिन्तन करता है, उनसे प्रेम करता है और अज्ञानसे उनमें अपना जीवन लगाता है वह महामूर्ख है।'

'श्रीनारायणदेवके समान अपना परम सुहृद्, दयालु, निःस्वार्थ प्रेमी और कोई भी नहीं है, इतना होनेपर भी अज्ञानी जीव उन्हें भुलाकर क्षणविनाशी विषय-भोगोंमें लग रहा है, अपने अमूल्य जीवनको धूलमें मिला रहा है। अज्ञानकी यही महिमा है।'

'मान, बड़ाई, स्वाद, शौकीनी, सुख-भोग, आलस्य-प्रमाद सबको छोड़कर श्रीपरमात्माकी शरण होना चाहिये। भगवान्की शरणागति बिना कल्याण होना कठिन है।'

'भगवान्का निरन्तर चिन्तन, भगवान्के प्रत्येक विधानमें सन्तुष्ट रहना, भगवान्की आज्ञाका पालन करना और निष्कामभाव रखना—यही भगवान्की शरणागति है।'

'ध्यानके लिये वैराग्य और उपरामता ही मुख्य साधन है। आनन्दकी नदी बह रही है। मायाका बाँध तोड़ डालो, फिर तुम्हारा अन्तःकरणरूपी खेत आप ही आनन्दसे भर जायगा, तुम आनन्दस्वरूप हो जाओगे।

'मनुष्यको अपने दोषोंपर विचार करना चाहिये। दोषोंपर ध्यान देनेसे उनके नाशके लिये आप ही चेष्टा हो सकती है।'

'जहाँ मन जाय, वहाँ या तो परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये या उसे वहाँसे हटाकर पुन जोरसे भगवान्‌मे लगाना चाहिये। नाम-जप करते रहनेसे मन लगानेमें बहुत सहायता मिलती है।'

'निष्काम-भावसे जीवोंकी सेवा करनेसे और किसीकी भी आत्माको कष्ट न पहुँचानेसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है।'

'जो मनुष्य भगवान्‌की नित्य समान दयाका प्रभाव जान लेता है, वह भगवत्-भजनके सिवा अन्य कुछ भी नहीं कर सकता।'

'विषयोंमें फँसे हुए मनुष्योंको प्रेमपूर्वक सत्सङ्गमें लगाना चाहिये। जीवोंको श्रीनारायणके शरण करनेके समान उनकी दूसरी कोई भी सेवा नहीं है; यह सेवा सच्चे प्रेमियोंको अवश्य ही करनी चाहिये।'

'मनसे निरन्तर श्रीभगवान्‌का ध्यान करना और उन्हें प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा करनी चाहिये। वाणीसे श्रीभगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन सदा-सर्वदा करना चाहिये। शरीरसे प्राणिमात्रको भगवान्‌का स्वरूप समझकर निष्काम-भावसे उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये।'

'मन बडा ही पाजी और हरामी है। इससे दबना नहीं चाहिये। संसारके आरामोंसे हटाकर इसे बहुत जोरसे श्रीहरिके भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये।'

'ससारके अनित्य पदार्थोंमें प्रेम करके अमूल्य जीवनको व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। सच्चे दयालु और परम धन परमात्माके

साथ प्रेम करना चाहिये और उनकी शरण होकर उनकी दयालुता और प्रेमका आनन्द लूटना चाहिये ।'

'श्रीभगवान्‌में अनन्य प्रेम होना चाहिये, निरन्तर विशुद्ध प्रेमसे उनका स्मरण होना चाहिये । दर्शन न हो तो कोई परवा नहीं, प्रेमको छोड़कर दर्शनोंकी अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिये । सच्चे प्रेमी भक्त दर्शनके भूखे नहीं होते, प्रेमके पिपासु होते हैं । प्रेमके सामने मुक्ति भी कोई वस्तु नहीं है ।

'प्रभुके मिलनेमें इसीलिये विलम्ब होता है कि साधक भक्त उस विलम्बको सह रहा है, जिस क्षण उसके लिये प्रभुका वियोग असह्य हो जायगा, प्रभु बिना उसके प्राण निकलने लगेंगे उसी क्षण भगवान्‌का मिलन होगा । जबतक भगवान्‌के बिना उसका काम चल रहा है, तबतक भगवान् भी देखते हैं कि इसका मेरे बिना काम तो चल ही रहा है फिर मुझे ही इतनी क्या जल्दी है ?'

'जो मायाके वशमें हैं, माया उन्हींके लिये प्रबल है । परमात्मा और उसके प्रभावको जाननेवाले भक्तोंके सामने मायाकी शक्ति कुछ भी नहीं है । यदि मनुष्य परमात्माके शरण होकर उसके रहस्य और स्वरूपको जान ले तो मायाकी शक्ति कुछ भी नहीं रह जाती । जीव परमात्माका सनातन अंश है, अपनी शक्तिको भूल रहा है, इसीसे उसे माया प्रबल प्रतीत होती है, यदि भगवत्कृपासे अपनी शक्तिको जाग्रत् कर ले तो मायाकी शक्ति सहज ही परास्त हो जाय ।'

'गुणातीतकी वास्तविक स्थितिको दूसरा कोई भी नहीं जान सकता। वह स्वसंवेद्य अवस्था है। परन्तु जो अपनेमें ज्ञानीके लक्षण हैं कि नहीं, इस बातकी परीक्षा करता है, उसे ज्ञानी नहीं समझना चाहिये। क्योंकि लक्षणोंके खोजनेसे उसकी स्थिति शरीरमें सिद्ध होती है। ज्ञानीकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न है नहीं, फिर खोजनेवाला कौन?'

'जो द्रव्य परोपकार यानी लोक-सेवामें खर्च किया जाता है, वह इस लोक और परलोकमें सुख देनेवाला होता है। यदि निष्काम भावसे खर्च किया जाय, तो वही मुक्तिदायक बन जाता है यह बात युक्ति और शास्त्र दोनों ही प्रमाणोंसे सिद्ध है।'

'श्रीभगवान्‌के नाम-जपसे मनकी स्फुरणाएँ रुकती हैं, पापोंका नाश होता है, मनुष्य गिरनेसे बचता है, उसे शान्ति मिलती है। नाम-जप ईश्वर-प्राप्तिमें सर्वश्रेष्ठ साधन है। यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि कुछ भी न बन सके तो केवल नामजपसे ही भगवान्‌की स्मृति रह सकती है। नाम-महिमा सर्वशास्त्रसम्मत है और युक्ति तथा अनुभवसे सिद्ध है, इसीलिये निरन्तर निष्कामभावसे नाम-जपकी चेष्टा करनी चाहिये।'